

जायसी के काव्य में मध्य-कालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

पी - एच० डी० (हिन्दी)
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-सार

निर्देशक

डा० रमेश शर्मा

शोध करी

खदीजा खान

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़

2002

शोध-सार

प्रस्तुत शोध विषय “जायसी के काव्य में मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना” विभिन्न जीवन सदर्थों में जायसी के काव्य को रखते हुए उसमें अभिव्यक्त ऐसी सांस्कृतिक दिशाओं का उद्घाटन करता है जो सामाजिक व्यवस्था के लिए और व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व के विकास के लिये सम्यक् दिशा निर्देश करती हैं। जायसी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के एक सूफी कवि है। सूफी कवियों की अपनी एक चिन्ता धारा है, अपनी काव्य चेतना है, और विभिन्न स्रोतों से गृहीत सांस्कृतिक सचेतना है। सूफी कवियों का अपना साधना मार्ग सामाजिक संरचना की गलियों में से होकर गुजरता है। एक प्रकार से देखा जाये तो सूफी काव्य लौकिक जीवन की अनुभूति के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का आस्वादन करता है। जायसी का काव्य इसी काव्य चेतना को अपने में समेटे हुए है। जायसी अपनी अनुभूति के धरातल पर चाहे आध्यात्मिक चेतना के साथ दृष्टा के रूप में साधनारत हो, लेकिन सृष्टा के रूप में उनके काव्य का रचना तंत्र सामाजिक धरातल पर खड़ा दिखाई देता है। जायसी ने अपने काव्य के रचनातंत्र में सामाजिक व्यवस्था के विविध आयामों को इस प्रकार सगुम्फित किया है कि उनकी काव्य दृष्टि समाजोन्मुखी दृष्टि पर जाकर टिकी दिखाई देती है। प्रस्तुत शोधकार्य उनकी इसी काव्य दृष्टि और काव्य सचेतना के उद्घाटन का एक लघु प्रयास है।

अध्ययन की सुविधा और शोध-प्रबन्ध की व्यवस्था के लिये प्रस्तुत अध्ययन भूमिका और उपसंहार के अतिरिक्त पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। जो इस प्रकार हैं –

भूमिका

- 1 सस्कृति एव समाजोन्मुखी सस्कृति स्वरूप विवेचन
- 2 मध्यकालीन समाज सांस्कृतिक मूल्यांकन
- 3 जायसी और उनका काव्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि परिवेश एव आधारभूमि
- 4 पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
- 5 जायसी की अन्य रचनाएँ समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना

उपसंहार

प्रथम अध्याय “सस्कृति एव समाजोन्मुखी सस्कृति स्वरूप विवेचन” के अन्तर्गत प्रस्तुत शोध की आधारभूमि का रेखाकन किया गया है। सस्कृति शब्द सामान्य अर्थ बोध में बहुत सरल और सीधा दिखाई देता है लेकिन इसमें निहित अर्थ चेतना अत्यन्त रुढ़ है। शब्द निर्वचन की दृष्टि से देखा जाये तो सस्कृति शब्द का शब्दकोश और साहित्यकोष परक अर्थ परिमार्जन—परिष्कार अथवा शुद्धीकरण की क्रिया होती है। सस्कृति के संदर्भ में डॉ० भगवतशरण उपाध्याय का मत विचारणीय है। उनके अनुसार “मनुष्य भी अपनी आदिम अवस्था में संस्कार हीन रहा है, धीरे—धीरे अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाकर, अनुचित को दबाकर, उचित को लेकर सुन्दर बना है। व्यक्ति रूप में शरीर, मन को शुद्ध कर एक ओर व्यक्तिगत विकास, दूसरी ओर उसका समूह में शिष्ट आचरण, समाज के प्रति उचित व्यवहार उसे संस्कृत बनाता है।” भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने संस्कृति के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है।

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता आचार्य शंकर ‘संस्कृति’ को समाज के संदर्भ में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि “इसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, ललित कलाएँ, नैतिकता, रीति—रिवाज तथा वे सभी अन्य योग्यताएँ समाहित हो जाती हैं, जिन्हें व्यक्ति समाज का अंग होने के नाते स्वीकार करता है।” रवीन्द्रनाथ टैगोर ने संस्कृति को बौद्धिक अथवा मानसिक जीवन माना है। डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य संस्कृति में “परिमार्जन तथा परिष्करण के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य के भावों का भी समावेश कर लेते हैं।” डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल संस्कृति की सूक्ष्म और व्यापक परिभाषा देते हुए उसे राष्ट्र निर्माण से जोड़ते हैं, उनका कहना है कि “विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही संस्कृति है।” डा० सम्पूर्णानन्द संस्कृति को जीवन के सामाजिक विकास की शृंखला में रखकर परिभाषित करते हैं “असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है जो तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।” अंग्रेजी के शब्द कोष में और पाश्चात्य विद्वानों की अवधारणा के अनुसार ‘कल्चर’ शब्द का अर्थ विकास भी जीवन के परिमार्जन के लिये संकेत करता है। मैथ्यू आर्नल्ड की संस्कृति विषयक अवधारणा को संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है — ‘जीवनगत परिपूर्णता तथा उसका सौन्दर्य एवं प्रकाश।’ इसके अतिरिक्त संस्कृति की अवधारणा के अनुसार — व्यक्ति समाज से अलग एकाकी रहकर उक्त परिपूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। यदि वह अपने परिपूर्णता के अभियान में दूसरों को अपने साथ

लेकर नहीं चलता तथा केवल निजी विकास में ही लगा रहता है तो उसे परिपूर्णता की आशिक उपलब्धि ही होगी। अतएव यह एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक भाव मनुष्य समानता के सच्चे देवदूत है। संस्कृति के अनुसार महान् व्यक्ति वही है जो कि कठिन, दुस्साध्य, असाधारण ज्ञान के सर्वोत्तम को सर्वसुलभ बनाते हैं। Mathew Arnold के अतिरिक्त John Dewey, A.L. Croeber, Prof. Laslie A White, Gibban, A Irving Hallowell, Cluckoholm आदि पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर संस्कृति को परिभाषित किया गया है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति के निर्माण और विकास की आधारभूमि का भी रेखांकन किया गया है। जिसमें आत्मगत आधारभूमि, कार्यात्मक आधार भूमि, मनोगत आधारभूमि, भावगत आधारभूमि, नैतिक आधारभूमि और आध्यात्मिक आधार भूमि प्रमुख हैं। इसी क्रम में संस्कृति के निर्माण और विकास की सामाजिक आधारभूमि स्पष्ट करते हुए संस्कृति के समाजोन्मुखी विकास की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज को रखते हुए संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति में पार्थक्य रेखा खींची गई है। हमारे अनुसार संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति दोनों एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। मानव शास्त्रियों और समाज शास्त्रियों ने संस्कृति को समाज के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समाजोन्मुखी संस्कृति ही संस्कृति का मूलभूत सामाजिक ढाँचा है और व्यक्ति समाज की एक इकाई है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है और वह समाज का एक अंग भी है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास समाज निरपेक्ष भी कर सकता है जैसे – आध्यात्मिक साधना के साधक का विकास। आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में अपनी मूल प्रवृत्तियों को सुसंस्कृत करते हुए साधक अपनी चेतना का विकास करता है जो उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों तक सीमित रहता है। लेकिन वही संस्कार जब समाज के सन्दर्भ में स्वस्थ समाज की संरचना से जुड़ जाते हैं तो समाजोन्मुखी संस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार समाज की उपज व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व है। सामाजिक भावना से सम्पन्न व्यक्ति समाज को निरन्तर सुसंस्कृत करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार समाजोन्मुखी संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसी अध्याय में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के विविध आयामों को रेखांकन किया गया है जो इस प्रकार हैं –

- 1 सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्थापरक आयाम
- 2 आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम

3 राजनीतिक व्यवस्थापरक आयाम

4 धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम

इसी अध्याय में भारतीय सस्कृति की सामाजिक आधार भूमि पर भी विचार किया गया है। क्योंकि हमारे शोध विषय की मुख्य दिशा यही है। भारतीय सस्कृति को अध्यात्म परक सस्कृति की सज्ञा दी गई है। एक प्रकार से देखा जाये तो भारतीय अध्यात्म में समाज निरपेक्ष नहीं है। भारतीय सस्कृति के मुख्य आधार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मानव-जीवन की सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत की गई है। जो जीवनरूपी वृक्ष की सुसस्कृत अर्थवत्ता स्पष्ट करती है। जिसका विकास लौकिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन तक है। इस अध्याय में इसी तथ्य पर विस्तार से विचार किया गया है। अध्याय के अन्त में साहित्य और सस्कृति के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। क्योंकि साहित्य में सस्कृति की झाकी विविध रूपों में होती है। इनको आठ वर्गों में बाँटा जा सकता है – 1 प्रकृति वर्ग, 2 मानवेतर वर्ग, 3 काल्पनिक वर्ग, 4 मानव वर्ग, 5 कलाएँ, 6 पर्वोत्सव, 7 मनोविनोद सम्बन्धी उपकरण, 8 परम्परागत प्रचलित मान्यताएँ।

शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय “मध्यकालीन समाज सांस्कृतिक मूल्यांकन” है। आजकल की सर्वमान्य प्रणाली के अनुसार भारतीय इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक युग में विभक्त किया जाता है। मध्यकाल शब्द अंग्रेजी के मिडिल ऐज पर बना लिया गया है। भारतीय इतिहासकारों ने 67वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के काल को मध्यकाल माना है। ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकाल का निर्धारण चाहे कुछ भी रहा हो हिन्दी साहित्य के सदर्भ में मध्यकाल की सीमाएँ 11वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के मध्य निर्धारित की गई हैं। इस अध्याय में मध्यकाल के काल निर्धारण पर ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से विचार करते हुए मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक धरातल का स्वरूपांकन किया गया है। भारतीय समाज के सांस्कृतिक विकास में मध्यकाल भारतीय सस्कृति के उथल-पुथल और परिवर्तन का काल है। मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना का धरातल किसी एकाएक होने वाली घटना का परिणाम नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि में भारत के अतीत की सांस्कृतिक विरासत की एक लम्बी श्रृंखला है। जिसमें वैदिक-अवैदिक दोनों ही चिन्तन धाराओं की चेतना विद्यमान है। वैदिक सस्कृतिजन्य भावना और उसी के अग रूप वैष्णव सस्कृति की भावना

के साथ वेद विरोधी आन्दोलन जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म, नाथ सम्प्रदाय, तान्त्रिक सम्प्रदाय, इस्लाम, सूफी मत आदि ने मध्यकालीन समाज के लिये एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल की रचना की थी। जिस पर मध्यकालीन समाज के स्वरूप की सरचना हुई थी। इसी आधार पर इस अध्याय में मध्यकालीन समाज के बदलते हुए परिदृश्य पर विचार किया गया है। इस अध्याय में मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक के केन्द्र तत्कालीन जाति-प्रथा नारी अस्मिता, शासक वर्ग और इनसे जुड़ी हुई विभिन्न स्थितियों पर एक शोधपरक दृष्टि से विचार किया गया है। यह अध्याय भी हमारे शोध विषय को पृष्ठभूमिगत आधार देता है।

शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय “जायसी और उनका काव्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, परिवेश एवं आधार भूमि” है। मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी काव्य धारा में मध्यकालीन सूफी प्रेमाख्यान धारा के आधार स्तम्भ है। सूफी प्रेमाख्यानको में जायसी का ‘पद्मावत’ तथा उनकी अन्य रचनाये समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की प्रतिष्ठा में अपनी अलग पहचान रखती है। जायसी की इस काव्य चेतना के अनुशीलन के लिये उनके जीवन और व्यक्तित्व में शोधपरक विमर्शात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। जायसी का जीवनकाल 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। यही वह काल है जिसमें जायसी की काव्य रचना के लिये वैचारिक आधार दिया है। जायसी का जन्म स्थान ‘जायस’ उनकी शिक्षा-दीक्षा की स्थिति तथा कृषक व्यवसाय उनकी गुरु परम्परा, उनका आध्यात्मिक जीवन, उनका अमेठी का प्रवास ऐसे बिन्दु हैं जो उनके व्यक्तित्व का नियामक तत्त्व कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इसी बिन्दुओं पर विमर्शात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ खींची गयी हैं। उनके बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जायसी स्वयं में नैतिक अहम् से संचरित सुखेच्छा का विकास और अचेतन मन का स्वस्थ प्रकाशन है। उनमें उदात्त प्रेम का रस सिद्ध विकास हुआ है। वे भगवद् भक्त, सजग सवेदनशील विचारक आत्मगौरव की भावना से युक्त आत्मविश्वासी मानवीय मूल्यों के समर्थक, तत्त्वचिन्तक, धार्मिक उदात्ता और स्वतन्त्र चिन्तन से सम्पन्न रचनाशील कलाकार हैं।

जायसी के इसी व्यक्तित्व का प्रकाश उनकी रचनाओं के रूप में विद्यमान है। जायसी के नाम से 26 रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इन रचनाओं में आखिरी कलाम, अखरावट, पद्मावत,

चित्ररेखा, कहरानामा, मसलानामा और कन्हावत ऐसी रचनाये हैं जिनमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का विस्फार हुआ है।

जायसी के व्यक्तित्व के साथ उनके युगीन परिपार्श्व में उनकी रचनाओं की स्वरूप संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसीलिये इसी अध्याय में जायसी और उनके काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में युगीन परिपार्श्व पर विचार किया गया है। जायसी के युग का राजनीतिक परिपार्श्व भारत के राजनैतिक धरातल में परिवर्तन और संक्रमण का काल था। जायसी के काल तक आते-आते भारत की राजनीतिक अस्मिता लगभग तय हो चुकी थी। जायसी ने राजनीति में होने वाली विसंगतियों को रेखांकित करते हुए समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के आदर्श को अपनी काव्य चेतना का आधार बनाया।

जायसी के युग का सामाजिक परिपार्श्व हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज के रूप में दो वर्गों में विभाजित था। दोनों ही वर्गों में समाज की आधारभूमि सांस्कृतिक संस्थाएँ अपना दम तोड़ रही थीं। जायसी ने इसी सांस्कृतिक सचेतना को आधार बनाते हुए अपने काव्य के स्वरूप की संरचना की है।

जायसी की काव्य रचना में उस युग के आर्थिक परिपार्श्व और साहित्यिक परिपार्श्व से भी अपना स्वरूप निर्माण करते हैं। इस अध्याय में हमने इस बिन्दु पर विचार करते हुए जायसी के युग की आर्थिक और साहित्यिक परिपार्श्व पर व्यापक रूप से विचार किया है।

शोध प्रबन्ध का चौथा अध्याय “पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना” है। प्रस्तुत अध्याय शोध प्रबन्ध का मुख्य अध्याय है। जिसमें जायसी की प्रमुख रचना ‘पद्मावत’ में शोध की प्रमुख समस्या का उद्घाटन किया गया है। जायसी के ‘पद्मावत’ का रचना तंत्र समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयाम का आधार ग्रहण करता है। ‘पद्मावती की कथा’ मानव समाज में युगों से चली आ रही नारी जीवन की कथा है। यह कथा पुरुष प्रधान समाज में नारी अस्मिता के लिये अनेक प्रश्न खड़े करते हुए उनके समाधान खोजने का एक सार्थक प्रयास तो है ही साथ ही सामाजिक संरचना के मूल आधार परिवार नामक संस्था और उसकी परिवार चेतना को भी सांस्कृतिक धरातल पर अभिव्यक्त करने का एक प्रयास है। ‘पद्मावत’ की प्रासंगिक कथाएँ और

वस्तुवर्णन भी आनुसंगिक रूप में समाजोन्मुखी संस्कृति में अनेक आयामों को उनकी चेतना के साथ स्वस्थ स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं। इस अध्याय में 'पद्मावत' की कथा संरचना में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों का उद्घाटन किया गया है।

समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों की सामाजिक संरचना एवं जीवन व्यवस्थागत आयाम जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। जीवन व्यवस्था में परिवार व्यवस्था प्रमुख है। 'पद्मावत' में अभिव्यक्त परिवार चेतना में नारी अस्मिता को प्रमुख रूप से लिया गया है। 'पद्मावत' की कला से यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि नारी परिवार चेतना और परिवार व्यवस्था की मूल धूरी है। 'पद्मावत' में जायसी ने नारी जीवन में विविध पक्षों को सांस्कृतिक संचेतना के साथ प्रस्तुत किया है। 'जन्म खण्ड' में कन्या का जन्म, नामकरण, पद्मावती की शिक्षा, उसकी कोर्मावस्था, समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की विशिष्ट दिशा की परिचायक है। विवाह की सांस्कृतिक संचेतना, पारिवारिक चेतना में नारी का मनोविकास, पतिगृह की परिवार संचेतना के साथ नारी अस्मिता और नारी मनोभूमि का स्वरूपाकन जैसा 'पद्मावत' में देखने को मिला है वैसा अन्य रचनाओं में दुर्लभ है।

जायसी, नारी ही नहीं पुरुष मनोभूमि को भी परिवार की सांस्कृतिक संचेतना के धरातल पर रखकर देखते हैं। जायसी का नख-शिख वर्णन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के विपरीत दिखाई देता है। लेकिन हमारी मान्यता है कि जायसी का नख-शिख वर्णन प्रेम तत्त्व के विकास का प्रेरक बन कर आता है। जायसी नारी शरीर बोध को प्रेम तत्त्व के विकास के साथ इतनी गहराई से जोड़ते हैं कि वह यथार्थ पर आधारित सांस्कृतिक संचेतना का धरातल बन जाती है। जायसी काम के उदात्त वेग को सामाजिक मर्यादाओं में बाँधकर उसे समाजोन्मुखी संस्कृति के साथ जोड़ देना चाहते हैं। जायसी के 'पद्मावत' में परिवार की सांस्कृतिक संचेतना के अन्तर्गत उत्तरदायित्व बोध नारी सद्वर्णन में पुरुष मनोभूमि, दाम्पत्य संबंध आदि को लिया गया है। इन सबको दृष्टि में रखकर और पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन करना भी इस अध्याय का एक लक्ष्य रहा है। जायसी ने 'पद्मावत' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का और नारी आदर्शों का समाजीकरण किया है। उसी के परिणामस्वरूप जायसी की नारी में धैर्य और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा, परस्पर आश्रय की भावना का बोध आदि अनेक सांस्कृतिक मूल्यों का स्वरूप देखने को मिलता है।

परिवार व्यवस्था के अतिरिक्त 'पद्मावत' में खान-पान की व्यवस्था तथा मनोरंजन के साधनों के रूप में भी जायसी का समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संचार मिलता है।

मानव-जीवन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना जीवन व्यवस्था के लिये आवश्यक आर्थिक व्यवस्थापरक आयामों को एक नवीन दृष्टि प्रदान करता है। 'पद्मावत' में आर्थिक व्यवस्था की सचेतना के दर्शन सबसे पहिले बनिजारा खण्ड में होते हैं। जायसी की सांस्कृतिक सचेतना इस बात की प्रतिष्ठा करना चाहती है कि अर्थोपार्जन में भी मानवीय मूल्यों पर भी ध्यान होना चाहिए। जायसी के पद्मावत में एक ब्राह्मण धनाभाव से ग्रस्त होकर, बनिजारों के साथ व्यवसाय करने जाता है। वहाँ उसकी सांस्कृतिक सचेतना व्यवसायिक बुद्धि पर अकुश लगाती हुई उसे सद्व्यवसाय के लिये प्रेरित करती है। जायसी व्यवसाय की विसंगतियों को उपभोक्ताओं की मनस्वी चेतना के साथ जोड़कर देखते हैं। उनका मानना है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था मानवीय मूल्यों पर आधारित होकर जीवन को समृद्धि की ओर ले जाने वाली होनी चाहिए।

समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना धार्मिक व्यवस्था के माध्यम से किसी भी समाज के स्वस्थ निर्माण में एक अहम् भूमिका अदा करती है। जायसी 'पद्मावत' में विभिन्न धर्म साधनाओं में समन्वय स्थापित करते हुए धार्मिक बिम्बों के प्रति निरपेक्ष दृष्टि रखते हैं। जायसी धर्मशास्त्रियों की चेतना के प्रति भी सचेत है। वे धार्मिक पर्वों का उल्लेख करते हुए विभिन्न धर्म साधनों की प्रक्रिया और उसकी चेतना की ससिद्धि को अपनी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के साथ जोड़कर देखते हैं। इस तथ्य पर प्रस्तुत अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है। 'पद्मावत' में 'सिंघल द्वीप वर्णन खण्ड' में ऐसी राजनीति दशा के दर्शन होते हैं जो समाजोन्मुखी हो, जनता की सुख सुविधा के लिये हो तथा जिसमें कल्याणकारी प्रयास किये गये हों। साथ ही समाज के हर वर्ग और हर सम्प्रदाय में समान दृष्टि रखते हुए उन्हें एक धारा में ले जाये। एक प्रकार से देखा जाये तो जायसी के 'पद्मावत' में एक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा स्पष्ट होती है। इस प्रकार हमारे शोध प्रबन्ध का यह अध्याय 'पद्मावत' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का उद्घाटन करते हुए जायसी का ऐसे बिन्दु तक ले जाता है जहाँ से वे समाज और साहित्य को एक सांस्कृतिक सचेतना जन्य दृष्टि प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं।

शोध प्रबन्ध का पाँचवा और अन्तिम अध्याय “जायसी की अन्य रचनाएँ और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना” है। जायसी की रचनाओं में ‘अखरावट’ एक ऐसी रचना है जिसका कोई कथानक नहीं है। लेकिन दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में जायसी ने समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का प्रतिपाद्य अपने ढंग से कर ही दिया है। आदम और होआ के प्रकरण से जायसी मनुष्य के उस स्वरूप का बोध करा देना चाहते हैं जिसे वह शैतानी प्रवृत्तियों से निकलकर अभेद दर्शन की ओर जा सके। दार्शनिक विवेचन में जायसी जब परमेश्वर को और जगत का निरूपण करते हैं तो उनकी दार्शनिक चेतना मनुष्य की सामाजिक चेतना का एक सांस्कृतिक आधार देती हुई दिखाई देती है। जायसी सारे समाज को ऐसा सरचनात्मक ढाँचा प्रस्तुत करते हैं जिसमें प्रेम के लिये तो स्थान है लेकिन द्वेष के लिये नहीं। इसी के साथ जायसी आहार और सादा जीवन के माध्यम से काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया के घटाने की बात करते हैं। जायसी की दूसरी रचना ‘कहरनामा’ भी सामाजिक जीवन में एक सकारात्मक चेतना का भी संचार करती है। इस रचना में जायसी परमेश्वर का भयोत्पादक दारुण रूप दिखाकर मनुष्य को नियन्त्रित करना चाहते हैं। इस रचना के कथा सूत्र में ‘पद्मावत’ की तरह नारी अस्मिता भी अपने प्रश्न लेकर खड़ी हुई है।

जायसी की एक अन्य रचना ‘मसलानामा’ में सामाजिकता का समर्थन करते हुए जायसी जीवन की सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं। इस रचना में अहंकार, क्रोध आदि ऐसी प्रवृत्तियों के निषेध का आग्रह किया गया है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक धरातल पर विकसित होते हुए देखना चाहता है। जायसी की रचना ‘आखिरी कलाम’ भी उम्मत के न्याय तथा अन्य प्रकरणों के माध्यम से समाज को ऐसी प्रेरणा देना चाहती है जिससे समाज में जीवन मूल्यों की स्थापना हो और भविष्य की कल्पना से व्यक्ति का जीवन नियंत्रित हो सके।

जायसी की रचना ‘कन्हावत’ यद्यपि प्रमाणिकता और अप्रमाणिकता के घेरे से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकी है। लेकिन इस रचना में भी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का सरचना का संचार उसी रूप में दिखाई देता है जैसा जायसी की अन्य रचनाओं में। इस अध्याय में ‘कन्हावत’ के विभिन्न प्रकरणों में निहित जायसी की समाजोन्मुखी सचेतना का उद्घाटन किया गया है।

जायसी की रचना ‘चित्ररेखा’ सामाजिक सरचना और जीवनदृष्टि से एक अद्भुत रचना है। इस रचना में भी जीवन व्यवस्था के अन्तर्गत विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था की सचेतना और

मध्यकालीन समाज में इस संस्था की स्वरूप स्थिति का निरूपण मिलता है। इस रचना के कथानक के माध्यम से जायसी फिर वही नारी अस्मिता का प्रश्न उठाते हैं जो उनकी अन्य रचनाओं में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का आधार देकर उठाया गया है।

अन्त में शोध प्रबन्ध के उपसंहार में शोध अध्ययन के निष्कर्षों का रेखांकन किया है।



जायसी के काव्य में मध्य कालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

पी-एचडी (हिन्दी)
उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

डा० रमेश शर्मा

शोध कर्त्री

खदीजा खान

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

2002



T5980

24 JUN 2005

Dr. R.C. Sharma
Reader



HINDI DEPARTMENT
Aligarh Muslim University
Aligarh - 202002 (U.P.)

Date : 14.12.2002

Certificate

Certified that the thesis entitled “जायसी के काव्य में मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना” submitted by **Ms. Khadija Khan** for the award of **Ph.D.** degree in **Hindi** is an original research work. It is the result of Ms. Khadija Khan's own efforts and it has been completed under my supervision.

As far as I know she has fulfilled all the conditions laid down in ordinances in this concern.

(DR. R.C. SHARMA)
Supervisor

14.12.02
Chairman
Department of Hindi
Aligarh Muslim University
ALIGARH

DEPARTMENT OF HINDI

FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH-202002

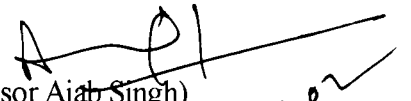
CHAIRMAN

Telex 564--230 AMU IN
Phones Off -- 700920 --- Ext
700921 |---342
700922 ---243
Res 2501660

Dated 20-12-2002

This is to certify that Miss Khadija Khan (D O A 3-3-98) Research Scholar in Hindi has submitted her Ph D Thesis on dated 14-12-2002 on the "Jayasi ke Kavya mein Madhyakalin Smajonmukhi Sanchetna"

She was regular for two years from the date of admission in the Department of Hindi and has completed her Ph D thesis under the supervision of Dr Ramesh Chand Sharma, Deptt of Hindi, A M U Aligarh


(Professor Ajab Singh)
Chairman
20.12.02

**Dedicated To
My EVERloving PARENTS**

आत्म-निवेदनम्

आज अपनी यह शोध—साधना सम्पन्न होते देखकर मन जिन अविस्मरणीय स्मृतियों में खो रहा है उनके लिये मेरा यहाँ 'आत्म—निवेदनम्' है। मेरी सारस्वत भावना का समर्पण है।

हिन्दी में स्नातकोत्तर अध्ययन के क्रम में जायसी का अध्ययन करते समय मुझे कुछ ऐसा लगा कि जायसी का काव्य वही सब कुछ नहीं कहता जो पाठ्यक्रम में पढ़ा पढ़ाया जाता है। इसमें तो समाज के धरातल पर खड़े हुए अनेक प्रश्न और उनके समाधान हैं। नारी अस्मिता और परिवार चेतना तो इसके मूल में है।

संयोग कहिए या भाग्यवशात् मेरी यह धारणा उस समय और सार्थक हो गई जब गुरुवर डॉ० रमेश शर्मा ने जायसी पर मेरी शोध की इच्छा देखकर जायसी के काव्य में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना पर शोध कार्य करने की सलाह दी। उन क्षणों के लिए मेरा आत्म निवेदन समर्पित है।

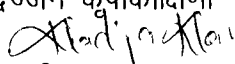
गुरुवर डा० रमेश शर्मा के निर्देशन में ही मुझे शोधकार्य का अवसर मिला। शोध साधना के दौरान आने वाले कंटकों को हटाते हुए वे सदैव मेरे प्रेरणा स्रोत रहे हैं। उनके लिये आभार प्रदर्शन तो एक भयंकर भूल होगी, अतः उन्हें अपना सर्वतोभावेन निवेदन समर्पित करते हुए मौन रह जाना चाहती हूँ।

विभाग के अन्य विद्वान प्रो० शैलेश जैदी, प्रो० कृष्णमुरारि मिश्र, प्रो० अजब सिंह, प्रो० उदयशंकर श्रीवास्तव, डा० एस०एन० शर्मा, जो सभी मेरे गुरु और प्रेरणा स्रोत रहे हैं, मुझे सदैव प्रोत्साहित करते हुए अपना आशीर्वाद देते रहे हैं। उनके लिये अपना भाव संचारित आत्म निवेदन प्रस्तुत करना मेरा पुनीत कर्तव्य है।

इस अवसर पर मन अपने पिताश्री और ममतामयी माँ के स्नेहिल आशीर्वाद के क्षणों में खो जाना चाहता है, जिनके परिणामस्वरूप ही मैं अपना यह शोध कार्य सम्पन्न कर सकी हूँ। उन्हें इस अवसर पर मुझसे अधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा होगा। माता—पिता की भावनाओं की कोई निष्कृति है भी क्या?

इन क्षणों में मन के एक कोने से मेरे शुभचिन्तक और आत्मीयजन भी झँक रहे हैं जिनकी शुभकामनाएँ मेरा सम्बल हैं, उनके लिए भी मेरा हृदय से भावपूर्ण आत्म—निवेदन प्रस्तुत है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिये सामग्री चयन में मौलाना आजाद पुस्तकालय का तथा शक्तिब अली का जिन्होंने सामग्री चयन में मेरी सहायता की, उनके सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जाने अनजाने में ही जिन महानुभावों से सहायता प्राप्त की है उन सभी के प्रति मैं अपना आत्म निवेदन प्रस्तुत करती हूँ। अन्त में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हिन्दी साहित्य जगत् के सभी विद्वानों के सम्मुख उनके सारस्वत आशीर्वाद के लिये प्रस्तुत है।

विद्वज्जन कृपाकाक्षिणी

(खदीजा खान)

अनुक्रमणिका

भूमिका

i-x

- विषय का स्वरूप और सीमाएँ
- विषय पर हुआ अद्यावधि कार्य
- प्रस्तुत विषय की सावकाशता
- शोध प्रक्रिया और शोध के विभिन्न चरण
- प्रस्तुत शोध अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व

प्रथम अध्याय

संस्कृति एवं समाजोन्मुखी संस्कृति : स्वरूप विवेचन

1-46

- 1 1 संस्कृति शब्द निर्वचन एवं अवधारणाएँ ,
 - 1 1 1 शब्द निर्वचन
 - 1 1 2 भारतीय विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएँ
 - 1 1 3 कल्चर शब्द निर्वचन एवं अर्थ व्यजना
 - 1 1 4 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएँ
- 1 2 संस्कृति निर्माण और विकास की आधारभूमि .
 - 1 2 1 1 आत्मगत आधारभूमि
 - 1 2 1 2 कायिक आधारभूमि
 - 1 2 1 3 मनोगत आधारभूमि
 - 1 2 1 4 भावगत आधारभूमि
 - 1 2 1 5 नैतिक आधारभूमि
 - 1 2 1 6 आध्यात्मिक आधारभूमि
- 1 2 2 संस्कृति निर्माण और विकास की सामाजिक आधारभूमि ,
- 1 2 3 संस्कृति के समाजोन्मुखी विकास की प्रक्रिया और व्यक्ति
- 1 3 संस्कृति और समाज
 - 1 3 1 संस्कृति की समाजोन्मुखी विकास की प्रक्रिया और समाज
 - 1 3 2 संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति
 - 1 3 3 समाजोन्मुखी संस्कृति की उद्भावना
 - 1 3 4 समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप
- 1 4 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के विविध आयाम ,
 - 1 4 1 सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्थापरक आयाम
 - 1 4 2 आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम
 - 1 4 3 राजनीतिक व्यवस्थापरक आयाम
 - 1 4 4 धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम
 - 1 4 5 भारतीय संस्कृति की सामाजिक आधारभूमि
 - 1 4 6 भारतीय संस्कृति में धर्म अर्थ एवं कामभावना और समाजोन्मुखी संस्कृति
- 1 5 साहित्य और संस्कृति ,

- 2 1 मध्यकाल का काल निर्धारण और अवधारणा
- 2 2 मध्यकालीन समाज सांस्कृतिक धरातल
 - 2 2 1 वैदिक संस्कृति और तज्जन्य भावना ।
 - 2 2 1 1 वैदिक संस्कृति जन्य भावना और नारी—पुरुष सम्बन्ध ।
 - 2 2 2 वैष्णव संस्कृति और तज्जन्य सांस्कृतिक भावना ।
 - 2 2 3 वेद विरोधी आन्दोलन और तज्जन्य भावना ।
 - 2 2 3 1 जैन धर्म वैचारिक विमर्श
 - 2 2 4 जैन संस्कृति और तज्जन्य भावना
 - 2 2 5 बौद्ध संस्कृति और तज्जन्य भावना
 - 2 2 5 1 आचार मीमांसा
 - 2 2 5 2 मध्यकालीन समाज और बौद्ध संस्कृति जन्य भावना
 - 2 2 6 नाथ सम्प्रदाय की सांस्कृतिक चेतना ।
 - 2 2 7 तान्त्रिक संस्कृति और तज्जन्य सांस्कृतिक भावना
 - 2 2 7 1 तन्त्र का अर्थ
 - 2 2 7 2 तन्त्र का भेद
 - 2 2 7 3 तन्त्र मत
 - 2 2 7 4 तन्त्रमत और उसकी सांस्कृतिक चेतना
 - 2 2 8 इस्लामिक सांस्कृतिक चेतना और मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक धरातल
 - 2 2 9 इस्लामिक सांस्कृतिक सचेतना समन्वयात्मक सांस्कृतिक भावना का विकास
 - 2 2 10 सूफी चिन्तन की सांस्कृतिक चेतना और मध्ययुगीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक धरातल
- 2 3 मध्यकालीन समाज का स्वरूप
 - 2 3 1 मध्यकालीन समाज बदलता परिदृश्य
 - 2 3 2 जाति प्रथा का विकास ।
 - 2 3 3 शासक वर्ग ।
 - 2 3 4 मध्यम वर्ग
 - 2 3 4 1 अभिजात वर्ग
 - 2 3 4 2 मध्यम वर्ग
 - 2 3 5 सामान्य वर्ग या सर्वसाधारण जनता
 - 2 3 6 मध्यकालीन समाज में नारी की स्थिति ।
 - 2 3 7 मुस्लिम समाज में नारी अस्मिता
 - 2 3 7 1 विवाह
 - 2 3 7 2 पर्दा
 - 2 3 7 3 बहु—विवाह
 - 2 3 8 मध्यकाल में नारी अस्मिता
 - 2 3 8 1 पर्दा
 - 2 3 8 2 विवाह
 - 2 3 8 3 बहु—विवाह
 - 2 3 8 4 विधवा विवाह
- 2 4 मध्यकालीन समाज सांस्कृतिक धरातल

तृतीय अध्याय

जायसी और उनका काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, परिवेश एवं आधारभूमि

108—176

- 3 1 जायसी और उनका काव्य परिचयात्मक विमर्श
 - 3 1 1 जायसी सामान्य परिचय एवं व्यक्तित्व विश्लेषण
 - 3 1 1 1 जायसी सामान्य परिचय
 - 3 1 1 1 1 जीवनकाल
 - 3 1 1 1 2 जीवन साधना लौकिक जीवन
 - 3 1 1 1 2 1 नामकरण और जन्म स्थान
 - 3 1 1 1 2 2 शिक्षा तथा व्यवसाय
 - 3 1 1 1 2 3 गुरु—परम्परा
 - 3 1 1 1 2 4 पारिवारिक जीवन
 - 3 1 1 1 2 5 आध्यात्मिक जीवन
 - 3 1 1 1 2 6 जायसी का अमेटी गमन
 - 3 1 1 2 जायसी व्यक्तित्व विश्लेषण
 - 3 1 1 2 1 बाह्य व्यक्तित्व
 - 3 1 1 2 2 आन्तरिक व्यक्तित्व
 - 3 1 1 2 3 अचेतन मन का स्वस्थ प्रकाशन
 - 3 1 1 2 4 नैतिक अह से सचरित सुखेच्छा का विकास
 - 3 1 1 2 5 उदात्त प्रेम का रस—सिद्ध विकास
 - 3 1 1 2 6 भगवद् भक्त
 - 3 1 1 2 7 सजग, सवेदनशील विचारक
 - 3 1 1 2 8 आत्मगौरव की भावना एवं आत्मविश्वास
 - 3 1 1 2 9 मानवीय मूल्यों का समर्थक
 - 3 1 1 2 10 रचनाशीलता
 - 3 1 1 2 11 अध्यात्म एवं प्रेम का समन्वय
 - 3 1 1 2 12 तत्त्व चिन्तक
 - 3 1 1 2 13 धार्मिक उदात्तता एवं स्वतन्त्र चिन्तन
- 3 2 काव्य साधना
 - 3 2 1 कृतियों का सामान्य परिचय
 - 3 2 1 1 आखिरी कलाम
 - 3 2 1 2 अखरावट
 - 3 2 1 3 पद्मावत
 - 3 2 1 4 चित्ररेखा
 - 3 2 1 5 कहरानामा
 - 3 2 1 6 मसलानामा
- 3 3 जायसी और उनका काव्य युगीन परिपार्श्व (पृष्ठभूमि)
 - 3 3 1 राजनैतिक परिपार्श्व
 - 3 3 2 सामाजिक परिपार्श्व
 - 3 3 2 1 हिन्दू समाज

- 3 3 2 2 हिन्दू समाज मे नारी •
- 3 3 2 3 मुस्लिम समाज
- 3 3 2 4 नारी जीवन के प्रति सकीर्ण दृष्टि •
- 3 3 2 5 समाज का वर्गीय विभाजन •
- 3 3 3 धार्मिक परिपार्श्व
- 3 3 4 आर्थिक परिपार्श्व
 - 3 3 4 1 उद्योग एव व्यापार
 - 3 3 4 2 जन-जीवन की आर्थिक दशा •
 - 3 3 4 3 कृषक •
 - 3 3 4 4 कर्मकार अथवा व्यवसायी वर्ग
 - 3 3 4 5 व्यापारी वर्ग
 - 3 3 4 6 राजकीय वर्ग
- 3 3 5 साहित्यिक परिपार्श्व
- 3 4 सर्जना की आधारभूमि

चतुर्थ अध्याय

‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना, १७०-२२०

177-244

- 4 1 ‘पद्मावत’ की कथावस्तु और सांस्कृतिक सचेतना
- 4 2 ‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयाम
 - 4 2 1 सामाजिक संरचना एवं जीवन व्यवस्थागत आयाम
 - 4 2 1 1 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना और परिवार व्यवस्था
 - 4 2 1 1 1 ‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त परिवार चेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 1 परिवार चेतना और नारी अस्मिता
 - 4 2 1 1 1 1 2 कन्या जन्म
 - 4 2 1 1 1 1 3 नामकरण और उसकी संस्कार चेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 4 पुत्र-पुत्री में समानता की भावना •
 - 4 2 1 1 1 1 5 नारी शिक्षा •
 - 4 2 1 1 1 1 6 नारी अस्मिता कुमारी जीवन और पारिवारिक व्यवस्था •
 - 4 2 1 1 1 1 7 नारी अस्मिता विवाह की सांस्कृतिक चेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 8 नारी का मनोविकास और परिवार की सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 1 1 1 1 9 नारी अस्मिता और पतिगृह की परिवार सचेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 10 नारी मनोभूमि और परिवार की सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 1 1 1 1 11 पुरुष मनोभूमि और परिवार की सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 1 1 1 1 12 नख-शिख वर्णन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 1 1 1 1 13 उत्तरदायित्व बोध परिवार की सांस्कृतिक सचेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 14 पुरुष मनोभूमि और नारी अस्मिता जन्य सांस्कृतिक सचेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 15 दाम्पत्य सम्बन्ध और नारी अस्मिता सांस्कृतिक सचेतना •
 - 4 2 1 1 1 1 16 पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक मूल्य
 - 4 2 1 1 1 1 17 स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का समाजीकरण •
 - 4 2 1 1 1 1 18 नारी आदर्श का समाजीकरण •

- 4 2 1 1 1 19 नारी मे धैर्य और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा *
- 4 2 1 1 1 20 परस्पर आश्रय की भावना का बोध
- 4 2 1 1 1 21 पुत्र-धर्म का आदर्श
- 4 2 1 1 1 22 सामाजिक व्यवस्था मे नारी का आदर्श *
- 4 2 1 1 1 23 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना मे सत्य का सचार
- 4 2 1 1 1 24 दाम्पत्य चेतना और नारी मूल्य
- 4 2 1 1 1 25 नारी अस्मिता और पुरुष का सामूहिक अवचेतन
- 4 2 1 1 1 26 नारी का सामाजिक आदर्श .
- 4 2 1 2 खान पान की व्यवस्था और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
- 4 2 1 3 मनोरंजन के साधन
 - 4 2 1 3 1 कुमारियों के खेल और क्रीडाये
 - 4 2 1 3 2 समाज मे प्रचलित मनोरंजन के साधन
- 4 2 2 आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम
 - 4 2 2 1 व्यवसाय मे सांस्कृतिक सचेतना का सचार
 - 4 2 2 2 उपभोक्ताओं की मनस् चेतना और व्यवसाय
- 4 2 3 धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम
 - 4 2 3 1 विभिन्न धर्म साधनाओं मे समन्वय .
 - 4 2 3 2 धार्मिक बिम्बों के प्रति निरपेक्ष दृष्टि
 - 4 2 3 3 धर्मशास्त्रियों का चेतना के प्रति सचेत
 - 4 2 3 4 धार्मिक जीवन मे ज्योतिष की भूमिका *
 - 4 2 3 5 धार्मिक पर्वों का उल्लेख
 - 4 2 3 6 धर्म साधनाओं की प्रक्रिया और उनकी चेतनागत ससिद्धि
- 4 2 4 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के राजनीति व्यवस्थापरक आयाम
 - 4 2 4 1 राजनीतिक चेतना मे सामाजिक मूल्यों का सचार *
 - 4 2 4 2 कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ,
 - 4 2 4 3 केन्द्रीय शासन मे शक्ति की अवधारणा और सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 4 4 राजनीति मे दड व्यवस्था की सांस्कृतिक सचेतना
 - 4 2 4 5 शासन की चेतना और सांस्कृतिक सचेतना ।

पंचम अध्याय

जायसी की अन्य रचनायें : समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

245—286

- 5 1 अखरावट मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 5 1 1 स्वरूपबोध द्वारा सामाजिक व्यक्तित्व का विकास
 - 5 1 2 भावात्मक एकता की स्थापना
 - 5 1 3 अखरावट की दार्शनिकता समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 5 1 3 1 परमेश्वर का विवेचन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 5 1 3 2 सहजयानी सिद्धों और नाथ पथियों की शब्दावली
 - 5 1 3 3 जगत निरूपण और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
- 5 2 कहरानामा मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 5 2 1 कहरानामा का कथ्य और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना
 - 5 2 2 कहरानामा के कथा सूत्र नारी जीवन की अस्मिता

- 5 2 3 कहरानामा' मे कवि दृष्टि और जीवन व्यवस्था का आधार
- 5 2 4 आध्यात्मिक साधना मे व्यजित समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
- 5 2 5 आत्म-साक्षात्कार और समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
- 5 2 6 धार्मिक भावना का सुसंस्कृतीकरण
- 5 3 'मसलानामा' मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 3 1 'मसलानामा' मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति की दिशाएँ और तत्त्व
 - 5 3 1 1 जीवन की सार्थकता
 - 5 3 1 2 अनासक्त कर्मयोग
 - 5 3 1 3 सामाजिकता का समर्थन
 - 5 3 1 4 सामाजिक जीवन मूल्यों का विधातक तत्त्वों का निषेध
 - 5 3 1 4 1 यौवन का अहकार
 - 5 3 1 4 2 क्रोध का निषेध
- 5 4 'आखिरी कलाम' मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 4 1 'आखिरी कलाम' का वर्ण्य विषय और समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 4 1 1 उम्मत का न्याय
 - 5 4 1 2 बीबी फातिमा और हसन हुसैन का प्रकरण
- 5 5 'कन्हावत' मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 5 1 कस और उसका स्वरूप
 - 5 5 2 गोपीलीला और रास
 - 5 5 3 चन्द्रावली और कृष्ण के प्रणय सम्बन्ध
- 5 6 'चित्ररेखा' मे अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 6 1 सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था
 - 5 6 1 1 'चित्ररेखा' मे अभिव्यक्त परिवारमूलक सचेतना
 - 5 6 1 2 नारी शिक्षा सदर्भित समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 6 1 3 'चित्ररेखा' मे वैवाहित संस्था सास्कृतिक सचेतना का संचार
 - 5 6 1 4 'चित्ररेखा' का विवाह प्रसंग समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना
 - 5 6 1 5 विवाह-बंधन की पवित्रता
 - 5 6 1 6 सामाजिक जीवन व्यवस्था और नारी अस्मिता

उपसंहार

287—294

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

295—304

भूमिका

विषय का स्वरूप और सीमाएँ

प्रस्तुत शोध विषय “जायसी के काव्य में मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना” विभिन्न जीवन सदर्भों में जायसी के काव्य को रखते हुए उसमें अभिव्यक्त ऐसी सांस्कृतिक दिशाओं का उद्घाटन करता है जो सामाजिक व्यवस्था के लिए और व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व के विकास के लिये सम्यक् दिशा निर्देश करती है। जायसी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के एक सूफी कवि है। सूफी कवियों की अपनी एक चिन्ता धारा है, अपनी काव्य चेतना है, और विभिन्न स्रोतों से गृहीत सांस्कृतिक सचेतना है। सूफी कवियों का अपना साधना मार्ग सामाजिक संरचना की गलियों में से होकर गुजरता है। एक प्रकार से देखा जाये तो सूफी काव्य लौकिक जीवन की अनुभूति के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का आस्वादन करता है। जायसी का काव्य इसी काव्य चेतना को अपने में समेटे हुए है। जायसी अपनी अनुभूति के धरातल पर चाहे आध्यात्मिक चेतना के साथ दृष्टा के रूप में साधनारत हो, लेकिन सृष्टा के रूप में उनके काव्य का रचना तंत्र सामाजिक धरातल पर खड़ा दिखाई देता है। जायसी ने अपने काव्य के रचनातंत्र में सामाजिक व्यवस्था के विविध आयामों को इस प्रकार सगुम्फित किया है कि उनकी काव्य दृष्टि समाजोन्मुखी दृष्टि पर जाकर टिकी दिखाई देती है। प्रस्तुत शोधकार्य उनकी इसी काव्य दृष्टि और काव्य सचेतना के उद्घाटन का एक लघु प्रयास है।

जायसी मध्यकाल के कवि है। कलात्मक विकास और समृद्धि की दृष्टि से इसे स्वर्णकाल के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से इसे घोर पतन का काल कह सकते हैं। इस काल में सबसे अधिक सकट नारी अस्मिता का है। नारी अस्मिता साहित्य और समाज के लिए एक बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जैवकीय संरचना की दृष्टि से समाज में नारी का स्वरूप और उसकी भूमिका सहज रूप में पुरुष प्रधान समाज द्वारा शोषण की कहानी है। एक सुसंस्कृत समाज सामाजिक व्यवस्था में सांस्कृतिक चेतना का संचार करके पुरुष और नारी मर्यादा को सीमाओं में बाँधना चाहता है। मध्यकाल में ये मर्यादाएँ टूटती हैं। जब समाज में मर्यादाएँ टूटती हैं तो सांस्कृतिक संस्थाओं की चेतना लुप्त होने लगती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना उस समय के कवियों दार्शनिकों के लिये चुनौती बनाकर खड़ी थी। सूफी कवियों ने सांस्कृतिक ह्रास की चुनौती को स्वीकार करते हुए अपने काव्य के माध्यम से भारतीय

समाज को दिशा देने की कोशिश की। प्रस्तुत शोध विषय जायसी के काव्य में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के उद्घाटन का प्रयास है। मलिक मुहम्मद जायसी की रचनाओं में जो भी रचनाएँ उपलब्ध हैं, हमने उन सभी को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। इन रचनाओं के रचना तंत्र के विविध आयाम हैं, लेकिन हमने अध्ययन के लिये रचनाओं के उन्हीं आयामों को देखा है जो विषय की सीमा में आते हैं।

संस्कृति, समाजोन्मुखी संस्कृति और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना अलग-अलग अर्थचेतना के साथ शोधपरक अध्ययन के लिये अलग-अलग दिशाओं की ओर संकेत करते दिखाई देते हैं। हमने अपने इस अध्ययन को सांस्कृतिक सचेतना तक ही सीमित रखा है। यह सही है कि सांस्कृतिक सचेतना काव्य के उन प्रकरणों में संचरित होती है जो काव्य को रूप देते हैं। अतः इन प्रकरणों को ही केन्द्र में रखकर कवि जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का उद्घाटन किया गया है। संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति में पार्थक्य रेखा खींचना जरा मुश्किल है। हिन्दी में संस्कृति के साथ सभ्यता को रखते हुए समाज के सन्दर्भ में सांस्कृतिक आयाम बहुत स्पष्ट नहीं हैं। हमने अपने इस शोध प्रबन्ध में संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति में एक स्पष्ट रेखा खींचते हुए समाजोन्मुखी संस्कृति के रेखांकन को भी अपनी शोध की परिधि में रखा है।

विषय पर हुआ अद्यावधि कार्य

जायसी की ख्याति को प्रकाश में लाने का श्रेय एक विदेशी विद्वान सर जार्ज ग्रियर्सन को है, जिन्होंने जायसी की काव्य-कौमुदी को छिटकाया तथा अपने सहयोगी महा महोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी से 'पद्मावत' का टीका लिखाकर रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से उसे मुद्रित कराया। सुधाकर जी के असामयिक अवसान के फलस्वरूप जायसी की कीर्ति-कौमुदी को ग्रहण लग गया।

परन्तु हिन्दी जगत उस काव्य-सुधा का पान करने के लिए आडोलित होने लगा। इस बार स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने न केवल जायसी के काव्य द्वय पद्मावत और अखरावत का संपादन कर सन् 1924 ई० में नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित कराया, वरन् सुविस्तृत एवम विद्वत्तापूर्ण भूमिका द्वारा कवि की कृतियों का प्रथम बार सही मूल्यांकन कर जायसी की महत्ता की

स्थापना कर दी। यहाँ से जायसी की चर्चा पत्र-पत्रिकाओं, निबन्धों और पुस्तकों में चल पड़ी। सैयद कल्बे मुस्तफा के खोज के फलस्वरूप जायसी की अन्य कृति 'आखिरी कलाम' प्रकाश में आयी जो जायसी ग्रन्थावली के सन् 1935 ई० वाले संस्करण में सम्मिलित हो गयी और उजाली कृत 'पद्मावत' का बंगला अनुवाद भी उपलब्ध हुआ।

इसके उपरान्त जायसी से प्रेरित शोधपरक अनुशीलन का श्रीगणेश हुआ। सूफी कवियों में जायसी ने शोधकर्ताओं को जितना अपनी ओर आकर्षित किया, उतना अन्य किसी सूफी कवि ने नहीं। जायसी पर सम्पन्न शोध कार्य की एक लम्बी सूची है। यहाँ जो भी सूचनाएँ उपलब्ध हैं उस आधार पर जायसी पर शोधकार्य का विवरण इस प्रकार है —

- दर्शनलाल सेठी : जायसी का काव्य शिल्प
- पुष्पलता तिवारी : जायसी : काव्य का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष
- भीमसिंह मलिक : जायसी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन
- चन्द्रकला गुप्त : जायसी काव्य का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन
- जयदेव कुलश्रेष्ठ : जायसी की कला और दर्शन
- पी०एन० शर्मा : जायसी की पौराणिक जनश्रुतियों का अध्ययन
- रामचन्द्र बिल्लौरै : जायसी की प्रेम साधना
- प्रभाकर देव शुक्ल : जायसी की भाषा
- इन्दिरा कुमारी सिंह : जायसी की विशिष्ट शब्दावली का विश्लेषात्मक अध्ययन
- मजु अवस्थी : जायसी कृत पद्मावत के उपमानों का अध्ययन
- भगवान सिंह चौहान : जायसी के काव्य में अप्रस्तुत योजना
- स्वराज्य मणि अग्रवाल (श्रीमती) : जायसी के पद्मावत का शब्द चिन्तन

- बीना कुमारी उपाध्याय जायसी के पद्मावत में लोक संस्कृति का अध्ययन
- सुधा कुमारी जायसी के कल्पना तत्त्व का अध्ययन
- रामस्वरूप आर्य मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन
- लक्ष्मीधर मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का सटिप्पणी संपादन और अनुवाद
- नृपेन्द्र प्रसाद वर्मा लोकतत्त्व के निकष पर पद्मावत का अध्ययन
- सुधा गोरावारा जायसी की बिम्ब योजना
- रामजीत जायसी के पद्मावत पर चर्चा और मृगावती का प्रभाव
- दयाशंकर मिश्र जायसी के ग्रन्थों की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक मीमांसा
- नौराज सिंह पद्मावत की अंत कथाओं का समीक्षात्मक अध्ययन
- पारसनाथ मिश्र पद्मावत में अलंकार चित्रण
- मुजीब हुसैन रिजवी मलिक मुहम्मद जायसी की कृतियों का सांस्कृतिक अध्ययन
- द्वारिका नाथ राय रीतिकालीन परिपेक्ष्य में पद्मावत का अध्ययन
- मुहम्मद इब्राहीम रूपवर्णन की भारतीय एवं फारसी परम्परा तथा जायसी
- बृजनारायण पाण्डेय जायसी शब्दकोश का सांस्कृतिक अध्ययन
- विद्याधर त्रिपाठी जायसी साहित्य में अप्रस्तुत योजना
- ओमप्रकाश शर्मा ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर जायसी काव्य का अध्ययन

- कृष्णकुमारी चौधरी पद्मावत का सांस्कृतिक अध्ययन
- गायत्री सिन्हा पद्मावत में समाज चित्रण
- शिवसहाय पाठक मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य
- रमेश माथुर मलिक मुहम्मद जायसी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन
- विनीता भल्ला पद्मावत और वलीपतिकरण का तुलनात्मक अध्ययन
- रामाश्रय वर्मा 'अभिलेख' पद्मावत और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन
- रामस्वरूप त्रिपाठी अन्योक्तिकार जायसी और स्पेसर (पद्मावत और फेयरी क्वीन) एक तुलनात्मक समीक्षा
- लेखराज यादव भविष्य कथा और पद्मावत की कथानक रूढ़ियाँ और काव्य रूढ़ियाँ
- लाज मेहता जायसी और तुलसी की सौन्दर्य भावना का तुलनात्मक अध्ययन
- मीनू श्रीवास्तव पद्मावत और मधुमालती का तुलनात्मक अध्ययन
- पवन कुमारी पद्मावत और मधुमालती के विशिष्ट सदर्थ में जायसी और मझन का तुलनात्मक अध्ययन
- एस0वी0 चावला मलिक मुहम्मद जायसी और शाह अब्दुल लतीफ की प्रेमाभिव्यजना
- एम0ए0 मृत्युञ्जय मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत और राजशेखर विलास के शब्दाक्षर देव का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत विषय की सावकाशता

जायसी पर सम्पन्न शोध कार्य विभिन्न दृष्टियों से उनके काव्य के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करता रहा है। सस्कृति को लेकर भी जायसी के काव्य का कुछ शोधकर्ताओं द्वारा अनुशीलन किया गया है। इस शोध शृंखला में सस्कृति के नाम पर सामाजिक सास्कृतिक संस्थाओं और परम्पराओं के स्वरूप की उद्घाटन किया गया है। उसमें सस्कृत और असस्कृत सभी को संस्कृति के अन्तर्गत रखने की परम्परा रही है। इन अध्ययनों के माध्यम से सास्कृतिक उपादानों का स्वरूप विकास तो हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, लेकिन सस्कृति में निहित जीवन की सास्कृतिक सचेतना के दर्शन नहीं हो पाते हैं। जायसी के काव्य में सास्कृतिक सचेतना को लेकर किया गया कार्य हिन्दी जगत में मेरे देखने में नहीं आया। समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना तो जहाँ तक मेरी जानकारी है हिन्दी जगत के लिये एक ऐसी अवधारणा है जो सस्कृति को वैयक्तिक और सामाजिक सद्वर्तों में देखने के लिये एक नई दिशा देती है। इसलिये इस दिशा को लेकर शोध के लिये पूर्ण अवकाश प्रस्तुत शोध इसी दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है।

शोध प्रक्रिया और शोध के विभिन्न चरण

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ऐतिहासिक विकासपरक अध्ययन प्रक्रिया को साहित्य शोध प्रक्रिया के साथ समन्वित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध विषय में प्रवेश करते हुए हमारे सामने एक ओर सस्कृति की विभिन्न अवधारणाएँ अपनी व्यवहारिक अर्थ चेतना के साथ रही हैं, दूसरी ओर जायसी की विभिन्न रचनाएँ हैं। इन दोनों की समानान्तर रखकर जायसी की रचनाओं में समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना का संचार देखना हमारे शोध का प्रधान लक्ष्य रहा है। शोध यात्रा को एक व्यवस्था देने के लिये उसे विभिन्न चरणों में विभाजित किया गया है। जिनको कुल पाँच अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय सस्कृति एवं समाजोन्मुखी सस्कृति के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करने वाला अध्याय है। इस अध्याय में भाषिक, साहित्यिक और सामाजिक धरातल पर सस्कृति व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। सस्कृति को परिभाषित करना भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के लिये एक चुनौती भरा कार्य है। सस्कृति शब्द के भाषिक विवेचन के आधार पर उसे समाज के सास्कृतिक

विकास से जोड़ते हुए परिभाषित किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में संस्कृति की उन सभी परिभाषाओं और अवधारणाओं को सामने रखकर हमने संस्कृति के निर्माण और विकास की आधारभूमि को रेखांकित किया है।

संस्कृति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यह भी सच है कि समाज के अभाव में वैयक्तिक जीवन में भी संस्कृति की अपनी स्थिति और जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वैयक्तिक जीवन साधना और अध्यात्म साधना में भी सांस्कृतिक चेतना का संचार तो होता ही है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमने इस अध्ययन में सांस्कृतिक अवधारणाओं को समाज तक सीमित रखके संस्कृति और समाज को एक विमर्शात्मक अध्ययन का विषय बनाया है। इसके पश्चात् अब हमने शोध की दिशाओं को स्पष्ट करने के लिये समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के विविध आयामों का रेखांकन किया है। समाजोन्मुखी संस्कृति एक प्रकार से समाजशास्त्र का विषय है। ज्ञान के अन्य अनुशासनो में भी इसे लिया जा सकता है। लेकिन वहाँ इसका विवेचन सैद्धान्तिक आधार पर होगा। साहित्य का अपना अलग स्वरूप है। साहित्य कान्ता सम्मिलित भाव के साथ जीवन की विभिन्न दिशाओं को व्यक्त करता है। साहित्य और संस्कृति का चोली दामन का साथ है। साहित्य ने मानव-जीवन में सांस्कृतिक सचेतना के संचार के लिए ही स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसलिये इस अध्याय साहित्य और संस्कृति पर भी एक विहंगम दृष्टिपात किया गया है।

हमारी इस शोध यात्रा का दूसरा चरण मध्यकालीन समाज की ओर बढ़ता है। जायसी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के कवि हैं। मध्यकालीन समाज में सांस्कृतिक स्थितियों ने उन्हें सम्भवतः सर्जना की प्रेरणा की है। मध्यकालीन समाज सांस्कृतिक दृष्टि से अवमूल्य का समाज रहा है। मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन के लिये उस काल के समाज का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। इस अध्याय में मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यांकन को प्रस्तुत किया है।

शोध के तीसरे चरण में जायसी और काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, परिवेश और आधारभूमि को लिया गया है। जायसी का वैयक्तिक परिवेश भी उनकी रचनाओं के लिये आधारभूमि देता है। जायसी के जन्म काल से लेकर मृत्युपर्यन्त उनका जीवन और जीवन साधना सहज सीधी रेखा नहीं है। उसमें अनेक ऐसे उतार चढ़ाव हैं जिन्होंने उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक दृष्टि का निर्माण

किया है। इसी दृष्टि का सचार उनकी काव्य रचनाओं में है। वैयक्तिक जीवन परिवेश के साथ जायसी के काव्य की अपनी एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, जिसमें भारत के सांस्कृतिक विकास की अनेक धाराओं का जल मिला हुआ है। अपने शोध अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिये हमें इस पृष्ठभूमि का पर्याप्त सहारा लेना पड़ा है। इन सभी के आधार पर जायसी की रचनाओं की सर्जनात्मक आधारभूमि तैयार हुई है।

शोध का चतुर्थ अध्याय 'पद्मावत' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को उद्घाटित करने वाला अध्याय है। शोध विषय की मुख्य समस्या इसी अध्याय में अपनी दिशाएँ खोजने का प्रयास करती है। इस अध्याय में समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों को 'पद्मावत' में शोधपरक दृष्टि के साथ उद्घाटित करने का प्रयास किया है। सामाजिक संरचना और उसकी विभिन्न दिशाएँ—आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि जीवन सद्वर्तों से जुड़े हुए आयामों से सम्बन्धित जायसी की सांस्कृतिक सचेतना इसी अध्याय में स्पष्ट होती आयी है।

शोध के अन्तिम चरण अथवा पाँचवें अध्याय में जायसी की अन्य रचनाओं में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का शोधपरक अनुशीलन किया गया है। जायसी की अन्य रचनाओं में कुछ रचनाएँ तो ऐसी हैं जिनकी भावसृष्टि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सचेतना से जुड़ती हुई दिखाई नहीं देती। लेकिन गंभीरता से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि जायसी की कोई भी रचना उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की उपेक्षा करके स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती। इस मान्यता के साथ हमने जायसी की विभिन्न रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है। शोध का अन्तिम चरण उपसंहार है जिसमें शोध निष्कर्ष को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व

प्रस्तुत शोध विषय हिन्दी शोध जगत में एक ऐसी दिशा को लेकर प्रस्तुत किया गया है जो जायसी के काव्य का समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सदर्भ में अनुशीलन प्रस्तुत करता है। हमारी यह धारणा है कि जायसी की रचनाओं का अनुशीलन केवल सूफी अवधारणाओं के आधार नहीं किया जा सकता। विभिन्न खण्ड दृष्टियों से भी इसके अध्ययन की विभिन्न दिशाएँ जायसी को समझने समझाने के लिये कोई सम्यक आधार नहीं देती। हमारा यह अध्ययन जायसी ही नहीं अन्य सूफी कवियों की रचनाओं के अनुशीलन के लिये भी दिशा निर्देशक होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

इस शोधपरक अध्ययन में जायसी की जिस समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना का उद्घाटन किया गया है। वह आज के ह्रासोन्मुखी समाज के लिये एक ऐसा आधार देने में समर्थ है जिससे व्यक्ति और समाज को सामाजिक मूल्यों पर आधारित विकास हो सके। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि हमारा यह अध्ययन हिन्दी साहित्य और समाज के लिये उपयोगी होगा और विश्वास है कि हिन्दी जगत् इसके महत्त्व के स्वीकार करेगा।

प्रथम अध्याय

संस्कृति एवं समाजोन्मुखी संस्कृति : स्वरूप विवेचन

1. संस्कृति : शब्द निर्वचन एवं अवधारणाएँ
2. संस्कृति : निर्माण और विकास की आधार भूमि
3. संस्कृति और समाज
4. समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के विविध आयाम
5. साहित्य और संस्कृति

संस्कृति एवं समाजोन्मुखी संस्कृति : स्वरूप विवेचन

1.1 संस्कृति : शब्द निर्वचन एवं अवधारणाएँ

संस्कृति शब्द के सामान्य प्रयोग और इसके व्यापक परिवेश को देखकर भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करने के लिए शब्द विकास पर गंभीरता से विचार किया है। भाषायी सन्दर्भ में प्रत्येक शब्द एक सामान्य अर्थ चेतना को लेकर जीवन व्यवहार में आता है। अपनी अर्थ चेतना के आधार पर वह विशेष जीवन सन्दर्भ को भी किसी विशिष्ट दिशा में व्याख्यायित करने में समर्थ होता है। शब्द की इसी अर्थ चेतना को आधार बनाकर अग्नि पुराणकार ने कहा था “एको शब्द सुप्रयुक्त सम्यग् ज्ञाता स्वर्ग लोके च कामधुग्भवति”। शब्द की यह अर्थ चेतना शब्द की व्युत्पत्ति करने वाली प्रकृति पर निर्भर करती है।

प्रकृति-प्रत्यय से व्युत्पन्न शब्द अपनी अर्थ चेतना को जब किसी विशिष्ट जीवन सन्दर्भ से जोड़ लेता है तो वह उस विशेष जीवन सन्दर्भ का पारिभाषिक बन जाता है। उस शब्द के द्वारा जीवन को समझने के लिये उसकी परिभाषा की अपेक्षा होती है।

संस्कृति शब्द की भी अपनी कहानी है। अतः संस्कृति को परिभाषित करने के लिये और इसके द्वारा अभिव्यक्त जीवन सन्दर्भ को समझने के लिये हमें पहले “संस्कृति” के शब्द निर्वचन पर विचार करना होगा।

1.1.1 शब्द निर्वचन

‘संस्कृति’ शब्द सामान्य अर्थ बोध में बहुत सरल और सीधा दिखाई देता है, लेकिन इसमें निहित अर्थ चेतना अत्यन्त गूढ़ है। शब्द कोष के अनुसार संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के ‘सम्’ उपसर्ग ‘कृ’ धातु और ‘क्तिन्’ प्रत्यय और सुट् आगम से आरम्भ हुई है। इस ‘सुट्’ ‘आगम’ और ‘क्तिन्’ प्रत्यय द्वारा बनाये गये शब्द का अर्थ है— भूषण युक्त सम्यक् कृति या चेष्टा। यहाँ ‘सम्यक्’ शब्द ध्यान देने योग्य है। सामान्य प्राणी की क्रियाएँ अपने मूल रूप में शरीर की प्रकृति के अनुसार स्वच्छन्द होती हैं, उनमें स्थान, समय सम्पर्क आदि का ध्यान नहीं रखा जाता। परन्तु मनुष्य इस प्रकार की स्वच्छन्दता को उचित नहीं समझता, वह अपने कार्य व्यापारों को वही रूप देना चाहता है जो उचित और सम्यक् हो। इस प्रकार संस्कृति शब्द का अर्थ परिमार्जन या परिष्करण की क्रिया होती है।

साहित्य कोष में कहा गया है कि 'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ संस्कृत की (ङु) कृ (ञ) धातु से बनता है। जिसका मूल अर्थ है – परिष्कृत करना।¹ सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में 'संस्कृति' शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है— शुद्ध, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सभ्यता आदि।² राष्ट्र-भाषा कोष के अनुसार 'संस्कृति' शब्द किसी जाति या समाज के रहन-सहन के ढंग, किसी जाति या राष्ट्र के सभ्यता-सूचक कार्य आदि का द्योतक है।³ बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार 'संस्कृति' शब्द का अर्थ है— पूरा करना, परिष्कार, निर्माण, पवित्रीकरण, निश्चय, उद्योग, आचरणगत परम्परा इत्यादि।⁴ सम् उपसर्ग तथा कृ धातु के संयोग से निष्पन्न संस्कृति शब्द पर विचार करते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् प० मोतीलाल जी के शब्दों में "संस्कृति शब्द के सम्-स्-कृति ये मुख्य पर्व-विभाग हैं। इन तीन विभागों में भी मुख्य सम्-कृति ये दो ही विभाग हैं। पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार 'सम्' उपसर्ग के आगे रहने वाले कृति-कारादि की अवस्था में सुट् का आगम हो जाता है। फलतः सम्-कृति और सम्-कार आदि विभाग संस्कृति-संस्कार आदि शब्दों में परिणत हो जाते हैं।"⁵ 'आपटे' के 'संस्कृति' 'इंग्लिश शब्द कोष' में 'संस्कृत' धातु तथा उनसे बने हुए संस्कार, संस्कृति सस्क्रिया आदि शब्दों का उल्लेख है। धातु से संबंधित संस्कार के अर्थ में संस्कृत शब्द कोष के अंतर्गत उत्तम बनाना, शुद्ध करना, साफ करना या परिष्कार करना आदि अर्थ दिये गये हैं।⁶ संस्कृति शब्द की अर्थ चेतना को निम्न द्रष्टान्तों को आधार बनाकर समझाया गया है— कच्ची धातु में लगे हुए खान के मैल को साफ करने के पश्चात् शुद्धीकरण की क्रिया होती है, जिसे दूसरे शब्दों में दोष-मार्जन की क्रिया कह सकते हैं। तत्पश्चात् उक्त धातु अथवा काष्ठ को घिस, पालिश आदि करके⁷ चिकना तथा चमकीला बना दिया

1 हिन्दी साहित्यकोश – सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य, ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी, प्रथम संस्करण, स० 2015 वि०, पृ० 801

2 सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर – सम्पादक रामचन्द्र वर्मा, प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण स० 2014 वि०, पृ० 644

3 राष्ट्रभाषा कोष – सम्पादक प० ब्रजकिशोर मिश्र, प्रकाशन हिन्दुस्तानी बुक डिपो लखनऊ, पृ० 1148

4 बृहत् हिन्दी कोश – सम्पादक कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय तथा मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, प्रकाशक ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी, संस्करण स० 2013 वि०, पृ० 1390

5 प० मोती लाल शर्मा – 'सत्ता-निरपेक्ष संस्कृति शब्द एवं सत्ता-सापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरतन इतिवृत्त तथा भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा', संस्करण स० 2015 वि० पृ० 6, शीर्षक – संस्कृति शब्द के सम्-कृति-पर्व-विभाग।

6 Sir Monier Williams – A sanskrit-english dictionary, Ed 1899, p 1120 – संस्कृत

7 वही – शीर्षक – वही

जाता है। कहना न होगा कि इस प्रकार उसके स्वरूप को पहले अतिरिक्त न्यूनता की पूर्ति की भी आवश्यकता हुआ करती है। संस्कारों की इस त्रिविध क्रियाओं को कपास तथा उससे निर्मित होने वाले वस्त्र तक की समस्त अवस्थाओं के निरीक्षण द्वारा भी समझा जा सकता है। खेत में प्रकृति द्वारा उत्पन्न कपास में तृण तथा बिनौले आदि दोष रूप में रहते हैं। सर्वप्रथम एक निश्चित विधि द्वारा उसे इन दोषों से मुक्त करके स्वच्छ रुई तैयार की जाती है। दोष-मार्जन की इस क्रिया के पश्चात् उसे क्रमशः सूत तथा वस्त्र रूप में परिणत करके गुण रूप में अतिशय का आधान कराया जाता है। तदनंतर कटाई, सिलाई, बटन, कलफ आदि विविध क्रियाओं-वस्त्र के संस्कारों द्वारा उपयोगी परिधान बन जाता है, जिसमें हीनता की पूर्ति के कारण यह उसका हीनांगपूरक संस्कार कहा जायेगा। प्राकृत कपास से लेकर वस्त्र निर्माण तक सम्पन्न होने वाली उपर्युक्त संस्क्रियायों की प्रविधि किसी न किसी रूप में व्यक्ति पर भी आरोपित की जा सकती है। इस प्रसंग में डॉ० भगवत्शरण उपाध्याय का मत विचारणीय है उनके अनुसार "मनुष्य भी अपनी आदिम अवस्था में संस्कार हीन रहा है, धीरे-धीरे अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाकर, अनुचित को दबाकर उचित को लेकर ही सुन्दर बना है। व्यक्ति रूप में शरीर, मन को शुद्ध कर एक ओर व्यक्तिगत विकास, दूसरी ओर उसका समूह में शिष्ट आचरण, समाज के प्रति उचित व्यवहार उसे संस्कृत बनाता है।"¹ संस्कारों का त्रिविध रूप डॉ० भगवत्शरण उपाध्याय के उपर्युक्त कथन में देखा जा सकता है, जिसके साथ ही, संभवतः उपर्युक्त महत्त्व को लक्ष्य कर उन्हें संस्कृति के समान² ही नहीं प्रत्युत सांस्कृतिक बीज का संरक्षक तक माना गया है।

‘संस्कृति’ शब्द के उक्त निर्वचन और उसके व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है। संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हमें उन परिभाषाओं पर विचार करना होगा।

1.1.2 भारतीय विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएँ

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता आचार्य शंकर³ ‘संस्कृति’ को समाज के सदस्यों में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि “इसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, ललित कलाएँ, नैतिकता, रीति-रिवाज तथा

1 डॉ० भगवत्शरण उपाध्याय सांस्कृतिक भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 8, शीर्षक – संस्कृति का स्वरूप

2 वही – शीर्षक – वही

3 ई०बी० टाइलर – प्रीमिटिव कल्चर, पृष्ठ 1

वे सभी अन्य योग्यताएँ समाहित हो जाती हैं, जिन्हें व्यक्ति समाज का अंग होने के नाते स्वीकार करता है।" रवीन्द्रनाथ टैगोर¹ ने संस्कृति को बौद्धिक अथवा मानसिक जीवन माना है। डा० प्रसन्न कुमार आचार्य² संस्कृति में "परिमार्जन तथा परिष्करण के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य के भावों का भी समावेश कर लेते हैं।" डॉ० वासुदेव शरण अग्र³ संस्कृति की सूक्ष्म और व्यापक और परिभाषा देते हुए उसे राष्ट्र निर्माण से जोड़ते हैं, उनका कहना है कि "विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही संस्कृति है।" डा० सम्पूर्णानन्द⁴ "संस्कृति को जीवन के सामाजिक विकास की श्रृंखला में रखकर परिभाषित करते हैं "असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है जो तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।" डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र⁵ भी सम्पूर्णानन्द की अवधारणा को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं "मावन-जीवन के आचार-विचार का संशुद्धिकरण अथवा परिमार्जन, वह है मानव की परिमार्जित मति रुचि और प्रवृत्ति पुंज का नाम"। जवाहर लाल नेहरू⁶ संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहते हैं- "ससार में सर्वोत्तम जानी या कही गई बातें और इनसे अपने आप को परिचित करना ही संस्कृति है।" डा० कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी⁷ ने संस्कृति को जीवन का साध्य माना है। रामधारी सिंह दिनकर⁸ संस्कृति सम्बन्धी अवधारणाओं में दिनकर की परिभाषा अधिक व्यापक और पूर्णता के साथ संस्कृति को उसका सही परिप्रेक्ष्य देती है, उनका कहना है- "पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक अभ्युदय के उपर्युक्त देहन्द्रिया, मन बुद्धि, अहंकारादि की भूषण भूत सम्यक् चेष्टाओं एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।"

सामान्यतः विद्वानों की यह धारणा रही है कि 'संस्कृति' कल्चर के अर्थ का द्योतन कराने के लिए आधुनिक काल में गढ़ लिया गया नया शब्द है। यद्यपि यह धारणा अब प्रामाणिक सामग्री की

- 1 "Culture which the tell life of mind" – Dr Rabindra Nath Tagore The Centre of Indian Culture, p 15
- 2 डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य – भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृ० 1
- 3 डॉ० वासुदेवशरण अग्र – कला और संस्कृति, द्वितीया वृत्ति, भूमिका, पृ० 3
- 4 कल्याण – हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० 70
- 5 डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र – भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान, पृ० 8
- 6 डिस्कवरी ऑफ इण्डिया – प० जवाहरलाल नेहरू
- 7 'Our greatest need and other addresses', p. 35
- 8 संस्कृति के चार अध्याय – प्रथम संस्करण, पृ० 653

उपलब्धि के बाद अब मिथ्या सिद्ध हो गई हैं। भारतीय साहित्य में संस्कृति शब्द का प्रयोग वाजसने निसहिता, ऐतरेयब्राह्मण, ताण्डव महाब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक छांदोग्योपनिषद् तथा प्रबन्ध प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है।

यद्यपि यह सच है कि संस्कृति शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मिलता है, लेकिन यह भी मानना ही होगा कि वर्तमान संस्कृति चेतना कहीं न कहीं पाश्चात्य जगत में प्रचलित शब्द कल्चर की अर्थ चेतना से भी जुड़ा हुआ है। अतः आज संस्कृति के स्वरूप और विशेषकर समाज के सन्दर्भ में संस्कृति के स्वरूप को रेखांकन के लिए हमें 'कल्चर' शब्द के निर्वचन उसके अर्थ विकास और व्यवहारिक प्रयोग को समझना होगा।

1.1.3 कल्चर : शब्द निर्वचन एवं अर्थ व्यंजना

भागर्वाज् स्टैण्डर्ड इलस्ट्रेटड डिक्शनरी ऑफ दि हिन्दी लैंग्वेजेज में 'संस्कृति' का अर्थ है—प्योरीफिकेशन (पवित्रीकरण), इम्प्रूवमेन्ट (विकास), कल्चर, एडोर्नमेन्ट (सजावट), सिविलिजेशन (सभ्यता), मौरल डिसिप्लिन (नैतिक अनुशासन)¹।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार (Culture) शब्द का अर्थ है—मेन्टल ट्रेनिंग एंड डिसिप्लिन (मानसिक अनुशासन) स्टेट ऑफ इन्टेलक्चुअल प्रोग्रेस (बौद्धिक विकास की स्थिति), डेवलपमेन्ट (उत्कर्ष)² पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार कुल मिलाकर संस्कृति शब्द मानवीय विकास, शुद्धि, परिष्कृति, सजावट आदि का द्योतक है, और उससे मनुष्य के भीतरी गुण अथवा आन्तरिक क्षमता का पता चलता है। संस्कृति वस्तुतः व्यक्ति के भीतर की एक शक्ति है, जो उसे धक्का देकर आगे बढ़ती है, अन्धकार में प्रकाश का अनुभव कराती है, टूटे हुए हृदय को जोड़ती है।

अंग्रेजी साहित्य में 'कल्चर' (Culture) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1420 ई० में कृषि तथा पशुपालन के अर्थों में मिलता है।³ यह शब्द प्रारम्भ में अंग्रेजी साहित्य के साथ यूरोप की अन्य भाषाओं में भी कृषि-संबन्धी कार्यों का ही द्योतक था।⁴ तब से लेकर सन् 1871 ई० तक अनेक

1 कम्पायलर — आर०सी० पाठक, पब्लिशर भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, 1963, पृ० 1046

2 पापुलर ऑक्सफोर्ड एन्साइक्लोपीडिया इलस्ट्रेटड डिक्शनरी कम्पाइलर बाई एस० कुमारी, पृ० 198

3 A L Kroeber and Clyde Kluckhohn 'Culture' Ed. 1952, p 23 Heading — Dictionary and definition

4 Phillip Bagby Culture and history, Ed 1951, p 72, Heading — The concept of culture

विचारको द्वारा विविध अर्थों की व्यंजना के लिए इस शब्द का प्रयोग होता रहा। 'आंग्ल विद्वान टाइलर ने उस समय तक प्रचलित 'कल्चर' (Culture) विषयक परिभाषाओं का विवेचन करके सन् 1871 ई० तत्संबंधी 'सिविलिजेशन' (Civilization) की समानार्थक अवधारणा का निराकरण करते हुए एक नवीन अर्थ का प्रतिपादन किया। टाइलर द्वारा प्रतिपादित अर्थ इसके बासठ वर्ष पश्चात् ही आंग्ल तथा अमरीकी शब्दकोषों में स्थान पा सका।¹ वर्तमान अर्थ को प्राप्त कराने वाली पृष्ठभूमि के रूप में 'कल्चर' (Culture) से संबंधित अनेकविध अवधारणाओं का एक अत्यन्त रोचक इतिहास है। इससे सम्बन्धित परिभाषाओं पर विचार करते समय हम उस पर यथास्थान एक विहंगम दृष्टिपात करेंगे। यहाँ सर्वप्रथम इसके निरुक्तिजन्य अर्थ पर विचार कर लेना अभीष्ट होगा।

निरुक्ति की दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा की धातु 'कोलर' (Colere) से निष्पन्न 'कुल्टुरा' (Culture) शब्द से हुई है, जिसका अर्थ क्रमशः पूजा करने तथा कृषि सम्बन्धी कार्यों की व्यंजना करता है।² इन मूल अर्थों के साथ कल्चर शब्द के वर्तमान अर्थ विकास की संगति पर अनेक विद्वानों ने तर्क संगत ढंग से विचार किया है।

व्युत्पत्ति तथा अर्थचेतना की दृष्टि से 'कल्चर' तथा 'कल्टीवेशन' में बहुत साम्य है।³ इस साम्य के आधार पर डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य ने सांस्कृतिक प्रक्रिया का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि 'कल्टीवेशन' का अर्थ कृषि है। भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना ही कृषि का उद्देश्य है, कृषि की विभिन्न पद्धतियों द्वारा भूमि का परिष्कार किया जाता है, रोड़े, कूड़ा कर्कट और घास—तिनके हटाकर भूमि शुद्ध की जाती है। जिससे भूमि उर्वरा बनती है। भूमि की भौति मनुष्य की मानसिक और सामाजिक अवस्थाएँ भी विकसित हुआ करती है। सस्कृति अथवा कल्चर मनुष्य

1 A L Kroeber and Clyde Kluckhohn Culture, 1952, p 9 Heading – Brief survey of dictionary and definition, p 33

2 वही – शीर्षक – Brief survey

3 Culture Cultivation, The State of being cultivated refinement due to the result of cultivation, The type of civilization a crop of experimentally grown bacteria or the like to cultivate, improve – Chambers Twentieth Century's Dictionary, Ed 1959, p 257

की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक है। जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इस विकास का परिणाम है।”¹

इसी प्रकार ‘कल्चर’ में ‘कल्टिवेशन’ (Cultivation) के मूल कुल्त्स² (Cults) से व्यंजित अर्थ के आधार पर सुप्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार मानव के प्रागैतिहासिक विकासक्रम को प्रस्तुत करते हुए मानव-संस्कृति के विकास का आरंभ उसके कृषक जीवन से ही मानते हैं। उनके मतानुसार, “अपनी प्राथमिक अवस्था में स्तनपायी जन्तु मानव में उसकी संस्कृति का विकास होना उसके कृषक जीवन से प्रारम्भ होता है। क्योंकि नियमित कृषि के आरम्भ होने से ही उसे ऋतुओं का ज्ञान, भेड़ों और ऊँटों की ऊन कातना व बुनना, पशु-पालन तथा उसके दूध का खाद्य-रूप में उपयोग, विविध धातुओं के उपयोग, वस्तुओं का विनिमय भूमि के स्वत्व की भावना, बागवानी, भ्रमणशील जीवन के स्थान पर एक स्थान पर रहना, सामूहिक जीवन तथा रहन-सहन में जब सब प्रकार की उन्नति आदि बातें सम्यक् रूप में विकसित हुई।³ ‘कोलर’ से प्राप्त होने वाले द्वितीय अर्थ – ‘वरशिप’ के आधार पर कल्चर शब्द का वर्तमान अर्थ व्यंजना की संगति पर पाश्चात्य विद्वानों के विचार विचारणीय हैं।”

फ्रेंच बोआस के मतानुसार “जिस समय यह अर्थ प्रचलित हुआ था उस समय तक मनुष्य समाज कृषक जीवन अपना चुका था। किन्तु सांस्कृतिक विकास क्रम की इस पहली सीढ़ी में कृषकों ने प्राकृतिक शक्तियों से त्राण पाने के लिए उनकी पूजा आरंभ कर दी थी तथा पूजा मानव-मन को रुचने वाली प्रियदर्शी क्रियाओं पर आधारित थी। इसके पश्चात् मनुष्य का संबंध “समाज के अन्यान्य मनुष्यों के साथ हुआ और वह क्रमशः प्रकृति का दास न रहकर अपने सहजीवियों की भी सहायता

- 1 डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य . ‘भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता’ संस्करण स० 2014 पूर्वाभास, पृ० 1 – शीर्षक-संस्कृति कल्चर।
- 2 जयचन्द्र विद्यालंकार – “भारतीय कृष्टि का क ख’ प्रथम संस्करण, अध्याय 1, पृ० 1-9, शीर्षक-मानव-कृष्टि का विकास तथा अर्थ।
- 3 जयचन्द्र विद्यालंकार – ‘भारतीय कृष्टि का क ख’, प्रथम संस्करण, अध्याय 1, पृ० 1-9, शीर्षक – मानव कृष्टि का विकास तथा अर्थ।

लेने लगा था। अतएव उसके सामाजिक जीवन को कल्याणकारी बनाने के लिए इस समय तक कुछ सामाजिक नियमों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं तथा सगठनों का भी विकास हुआ। सांस्कृतिक विकास क्रम की तृतीय अवस्था में मनुष्य का प्रकृति के साथ तथा मनुष्य का मनुष्य के कारण उसके अंतःकरण में उत्पन्न होने वाले बौद्धिक विचारों की भी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ आती हैं, जिसमें बौद्धिक तथा भावनात्मक मनोव्यापारों का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त इनके अन्तर्गत शास्त्र नीति, कला, सौन्दर्य-बोध तथा धर्म का भी समावेश हो जाता है।¹ इस द्वितीय तात्पर्य से मिलते-जुलते 'कल्चर' (Culture) से संबंधित उपर्युक्त 'कुल्ट्स' (Cults) शब्द का अर्थ 'डिक्शनरी ऑफ सोशॉलोजी' में 'पूजा से संबंधित धार्मिक प्रवृत्तियों एवं दिव्यत्व-विशेष का प्रसाधन किया गया है।² जिससे 'कोलर' (Colere) के 'वरशिप' (worship) वाले अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

'कल्चर' शब्द के सदर्थ में यह भी उल्लेखनीय है कि टाइलर ने कल्चर (Culture) शब्द को तत्कालीन प्रचलित अर्थ से ग्रहण किया था, वहाँ पर शब्द प्रारम्भ में 'कोलर' (Colere) शब्द की भाँति कृषि कार्य या कल्तिवेशन (Cultivation) का द्योतक था। किन्तु सन् 1850 ई० के लगभग नवीन अर्थ ग्रहण कर चुका था।³ जर्मन भाषा में प्रतिष्ठित इस नवीन अर्थ चेतना को स्पेनिश, रूसी आदि अधिकांश यूरोपीय भाषाओं ने अपना लिया है।⁴ जर्मन भाषा में उपर्युक्त शब्द के प्रयोग ने अर्थ विकास की क्रमशः तीन अवस्थाएँ पार की थीं। मूल अर्थ से किंचित विकसित होकर अठारहवीं शती के अंतिम भाग तक यह शब्द मानव की भौतिक उन्नति का द्योतक बना तथापि यह उन्नति कृषि क्षेत्रीय उन्नति से आगे की द्योतिका न हो पायी। इसके पश्चात् काण्ट तथा हीगेल के दार्शनिक विवेचनों के परिणामस्वरूप उसने आध्यात्मिक आवरण ग्रहण किया तथा तदंतर वर्क तथा क्लेम आदि मनीषियों द्वारा इसका वर्तमान निश्चित हुआ।

1 Boas and Others – General anthropology, Ed 1938, A D Introduction, p 4

2 Tylor, After some hesitation as against 'Civilization' borrowed the word culture from German, where by this time it had become well recognized with the meaning here under discussion, by the growth out of older meaning of cultivation

3 वही

4 Phillip Bagby Culture and history, p 72,73, Heading – The concept of culture

‘कल्चर’ शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ विकास की यात्रा से स्पष्टतः इस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ व्यजना के साथ हो रहा है वह अपने प्रारम्भिक अर्थ से पर्याप्त दूर हो चला है। वस्तुतः इस शब्द के व्यावहारिक अर्थ का स्पष्टीकरण तत्संबंधी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विविध विवेचनों और परिभाषाओं में मिलता है। अतः संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम इन विद्वानों के विवेचनों और परिभाषाओं पर सम्यक् दृष्टिपात करेंगे।

Culture शब्द की नयी अर्थ चेतना के साथ प्रथम प्रयोग अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान बेकन द्वारा किया गया और उसी के आधार पर यह शब्द अपने व्यापक अर्थ में सन्दर्भित हुआ।¹ आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी ईस्वी में वाउवेनार्क्स (Vauvenargues) तथा वाल्टेयर (Voltaire) नामक फ्रांस के दो विचारकों ने इस शब्द को इसी क्रम में मनः प्रवृत्तियों के शिक्षण तथा संशोधन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्थिति का द्योतक माना। Culture शब्द की इसी अर्थ चेतना के कारण यह शब्द शिक्षित व्यक्ति की परिष्कृत जीवन दिशाओं और उनकी उपलब्धियों में ही वस्तुतः प्रयुक्त होने लगा, परिणामस्वरूप उत्तम आचार, साहित्य, कलाएँ तथा विज्ञान आदि विषय ‘कल्चर’ (Culture) कहे जाने लगे, जिनका आधार शिक्षा माना गया।² इन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया संस्कृति का उपर्युक्त तात्पर्य उनके वर्षों पश्चात् सन् 1805 ई० के लगभग लोकप्रियता प्राप्त कर सका जिसका श्रेय प्रधानतः मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) को है।³

मैथ्यू आर्नल्ड की संस्कृति विषयक अवधारणा को संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है — “जीवनगत परिपूर्णता तथा उसका सौन्दर्य एवं प्रकाश।⁴ उनके मतानुसार मानव-प्रकृति की परिपूर्णता ही जीवनगत सौन्दर्य तथा प्रकाश है तथा संस्कृति मशीनरी से परे दृष्टिक्षेप करती एवं विद्वेषात्मक प्रवृत्तियों की विरोधिनी बनकर उक्त सौन्दर्य तथा प्रकाश की ही उत्कंठा रखती है।⁵ इसके स्पष्टीकरण के लिये आर्नल्ड ने जहाँ उसे धर्म की अनंत शक्ति, विज्ञता तथा सौन्दर्य प्राप्त

1 डॉ० बलदेव मिश्रा ‘भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान, संस्करण 1953 अध्याय-1, शीर्षक — भारतीय संस्कृति का अर्थ, पृ० 6

2 Phillip Bagby Culture and history, Ed. 1951, p 72, 73

3 वही, पृ० 74

4 Mathew Arnold · Culture and anarchy, Ed 1950, Chapter I, Sweetness and light, p. 44 to 47

5 Mathew Arnold Culture and anarchy, Ed 1950, Chapter I, Sweetness and light, p 69

कराना आदि आदर्शों तक व्यक्ति को पहुँचाने का एक मात्र साधन माना है, वहाँ उसके प्रायः समझे जाने वाले रूप की अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता को भी स्वीकार किया।¹ इसके अतिरिक्त संस्कृति की अवधारणा के अनुसार, “व्यक्ति समाज से अलग एकाकी रहकर उक्त ‘परिपूर्णता’ को नहीं प्राप्त कर सकता। यदि वह अपने परिपूर्णता के अभियान में दूसरों को अपने साथ लेकर नहीं चलता तथा केवल निजी विकास में ही लगा रहता है तो उसे परिपूर्णता की आंशिक उपलब्धि ही होगी। अतएव यह एक सामाजिक भाव तथा सांस्कृतिक भाव मनुष्य समानता के सच्चे देवदूत हैं। संस्कृति के अनुसार महान् व्यक्ति वही है जो कि कठिन, दुस्साध्य, असाधारण ज्ञान के सर्वोत्तम को सर्व सुलभ बनाते है।²

मैथ्यू आर्नल्ड की संस्कृति विषयक उपर्युक्त अवधारणा अंग्रेजी साहित्य के लिए नवीन भले ही हो, परन्तु जर्मनी में उक्त तात्पर्य की प्रतिष्ठा ईस्वी सन् की अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में हो चुकी थी और लगभग इसी से वह वर्तमान प्रयोग के सन्निकट सा हो चला था।³ इस समय के जर्मन विद्वान हर्डर (Herder) ने जिस तात्पर्य की प्रतिष्ठा की थी, वह फिलिप बैग्बी (Phillip Bagby) के विचार से आर्नल्ड की अपेक्षाकृत वर्तमान प्रयोग के अधिक निकटवर्ती है।⁴ तो भी हर्डर (Herder) ने इसको ‘व्यक्ति के औद्योगिक तथा मानसिक विकास के द्योतक तक ही सीमित रखा था, जो आगे चलकर (19वीं शती ईस्वी तक) लगभग आग्राह्य सा हो गया।⁵ यह उल्लेखनीय है कि उक्त जर्मन शब्द कल्चर (Cultur) जब सत्रहवीं शती के अन्तिम भाग में पहले-पहल प्रकाश में आया था तो उसका तात्पर्य अठारहवीं शती में प्रतिष्ठित हर्डर की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न व्यक्ति के मानसिक तथा मुख्यतः नैतिक आध्यात्मिक विकास के अर्थों का द्योतक था।⁶ आगे चलकर (18वीं शती के उत्तरार्द्ध में) हर्डर ने जैसा कि पूर्ववर्ती विवेचन से प्रकट है, उसमें भौतिक तथा मानसिक दोनों ही

1 वही, पृ० 47, 48

2 वही

3 Phillip Bagby Culture and history, Ed 1951, Chapter 4, p 73, Heading – The concept of culture

4 वही, पृ० 74

5 Phillip Bagby Culture and history, Chapter 4, Ed 1951, p 74, Heading – The concept of culture

6 A K Kroeber and Clyde Kluckhohn Culture, Ed 1952, p 34, Heading Dictionary and definition

पक्षों को समाहित कर दिया। हर्डर के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक एक ही अर्थ के लिए 'कल्चर' (Culture) तथा 'सिविलिजेशन' इन दोनों शब्दों का द्वन्द्व सा चलता रहा और जर्मनी में ही नहीं, अपितु लगभग समस्त यूरोप में प्रमुख विद्वानों के वैचारिक मथन के लक्ष्य ये दोनों ही शब्द बन गए। जर्मनी में काण्ट (Kant) तथा हीगेल (Hegel) के दार्शनिक विवेचनों ने एक ओर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतिष्ठित 'कुल्टर' संबंधी अवधारणा को बिल्कुल छोड़ दिया¹ तथा दूसरी ओर 'सिविलिजेशन' के उससे पृथक् अर्थ का स्पष्टीकरण भी किया।

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'कल्चर' शब्द अपनी नयी अर्थ चेतना के साथ मानवीय जीवन सदर्थों के स्वरूप विशेष का पारिभाषिक बनकर आया जिसके पर्याय के रूप में हमारा सस्कृति शब्द है। सस्कृति के स्वरूप को समझने के लिये हमें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई कल्चर (सस्कृति) की परिभाषाओं को समझना होगा। पाश्चात्य विद्वानों ने 'कल्चर' की नई अर्थ चेतना के साथ जीवन सदर्थों को संयुक्त करके नई अवधारणाओं के आधार पर परिभाषाएँ दी हैं –

1.1.4 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ

“सम्पूर्ण इतिहास सांस्कृतिक विकास की क्रमिक धारा है, जिसने मनुष्य को परिष्कृत किया है।”² – John Dewey

“मानव की सार्थकता सस्कृति के कारण ही है।”³ – A. L. Croeber

मनुष्य और सस्कृति का उद्गम साथ-साथ हुआ है। मानव-जीवन व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही धाराओं में प्रवाहित रहता है तथा सस्कृति का कार्य मानव-प्राणियों को उसके लिये समायोजित करता है।⁴ – Prof Laslie A White

1 द्रष्टव्य वही।

2 All history as the continuing process of culture by which the original animal nature of man becomes refined and is transformed from the animal into the distinctively human – John Dewey Freedom and culture, p 31

3 They are the human being precisely because they are animal plus culture, p 8, Chapter I, Heading – Society and culture

4 Prof Laslie A White – The evolution of culture, Ed 1959 Chapter I, Heading – Man and culture p 5 10

“प्रत्येक व्यक्ति दो प्रकार से शिक्षा ग्रहण करता है, और दूसरी जो उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वह उसकी स्वानुभूति।”¹ – Gibban

“जीवन रस के प्रेषण की जैविक-परम्परा से भिन्न हमारी वह सामाजिक रिक्त है, जो समवस्था की पद्धति द्वारा परम्परागत रूप में चली जाती है।”² – A. Irving Hallowell

उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त संस्कृति विषयक परिभाषाओं की इतनी बड़ी संख्या है कि उनका संकलन करके A.L. Crober ने एक स्वतंत्र ग्रंथ का सम्पादन करके प्रकाशित कर दिया है। इन परिभाषाओं के संकलन करने वाले A.L. Crober का मत है ‘संस्कृति के स्वरूप को परिभाषाओं के अनुशीलन की अपेक्षा उसके अस्तित्व ग्रहण की प्रक्रिया तथा कार्य का व्यावहारिक रूप के परिज्ञान द्वारा अधिक स्पष्ट समझा जा सकता है।’³

क्रोबर के इस मत के आधार पर संस्कृति के स्वरूप के रेखांकन के लिए विभिन्न अवधारणाओं पर विचार करेंगे –

“संस्कृति के सन्दर्भ में टाइलर के परवर्ती विवेचनों की अवधारणा है कि यह मात्र सामाजिक उद्भूति न होकर प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत है, तथा मानवीय जीव-विज्ञान (Human Biology) मनोविज्ञान अथवा मानव समाज इनमें से एक भी शास्त्र स्वतंत्र रूप से उसकी यथार्थता की व्याख्या के लिये असमर्थ है।”⁴

संस्कृति टाइलर तथा उसके परवर्ती विचारकों के बीच सर्वप्रमुख अन्तर संस्कृति के अर्जन के मूलधार व्यक्ति की स्थिति का है। टाइलर के अनुसार समाज के सदस्य-रूप में अवस्थित व्यक्ति ही उसे उपलब्ध करता है, किन्तु आज इस शर्त से आबद्ध रहना अनिवार्य नहीं समझा जाता। इस बात का स्पष्टीकरण केवल इसी से हो जाता है कि उनके अनुसार संस्कृति के समस्त उपादानों का

1 Gibban Relatives and ideals, p 36

2 A L Crober Anthropology today, Ed 1959, p 599, Heading – Culture, personality and society

3 A L Crober Anthropology, Revised, Ed 1948, Chapter VII, p 252, 253, Heading – The nature of culture

4 Dr D N Majumdar and T N Madan An introduction to social anthropology, Ed 1960, Chapter-II, p 17, Heading – Attributes of culture

एक शक्तिशाली स्रोत मानव, उनके उद्भव तथा विकास के दृष्टिकोण से इतर प्राणियों की तुलना में अद्वितीय सामर्थ्य संपन्न प्राणी है।¹ जिसके साथ ही, प्रो० लेस्ली के मतानुसार "सत्-असत्, नैतिकता-अनैतिकता एवं उत्कृष्टता आदि कितनी ही बातों का विवेक, वस्तुओं तथा घटनाओं का मूल्यांकन, भौतिक जगत से परे अदृश्य शक्तियों के प्रति विश्वास तथा उनकी सिद्धि के प्रयास आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जिन्हें आज तक मानवोत्तर प्राणियों में संभवतः प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। अब वह नितान्त समाज-सापेक्ष प्राणी नहीं, प्रत्युत समाज-व्यवस्था का नियामक भी स्वीकृत हो चुका है।² फिर भी संस्कृति, व्यक्ति तथा समाज की अभिन्नता के सम्बन्ध में लेस्ली के साथ ही क्लूकोहम (Cluckoholm), क्रोबर (A.L. Croeber) तथा डॉ० पिडिगटन एकमत हैं।³

इन विवेचनों द्वारा स्पष्ट है कि संस्कृति का उद्भव और विकास समाजोन्मुखी दृष्टि के विकास के साथ हुआ है। उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानव-अस्तित्व के साथ ही संस्कृति के अस्तित्व ग्रहण का आरम्भ हुआ। इसके संबंध में क्रोबर (A.L. Croeber) की यह मान्यता कि "मानव की सार्थकता संस्कृति के कारण ही है,"⁴ को पूर्ण स्पष्टता प्रो० लेस्ली (Prof. Laslie A. White) द्वारा की गयी इस घोषणा से मिलती है कि "मनुष्य तथा संस्कृति का उद्गम साथ-साथ हुआ है।"⁵

मजूमदार ने इन्हीं दार्शनिकों तथा समाजशास्त्रियों के विवेचनों का उल्लेख करते हुए उनकी तुलना के पश्चात्, निष्कर्ष रूप से कहा है कि "संस्कृति सामाजिक उपलब्धि ही नहीं प्रत्युत नैतिक, आध्यात्मिक तथा मानसिक उपलब्धि भी है।"⁶

-
- 1 a A L Croeber Anthropology, Revised Ed 1948, p 252, 253, Heading – The nature of culture
b A L Croeber Anthropology today, Ed 1959, p 602, Heading – The nature of culture
c Prof Leslie A White The evolution of culture, Ed 1959, p 3 to 5
 - 2 a A L Croeber Anthropology, Revised Ed 1948, p 252, 253, Heading – The nature of culture
b A L Croeber Anthropology today, Ed 1959, p 602, Heading – The nature of culture
c Prof Leslie A White The evolution of culture, Ed 1959, p 3 to 5
 - 3 द्रष्टव्य – वही, पृ० 4 5
 - 4 They are human being precisely because they are animal plus culture. Chapter I, p 8, Heading – Society and culture
 - 5 Prof Laslie A White – The evolution of culture, Ed 1959, Chapter I, Man and culture, p 5, Heading – Man is unique
 - 6 Dr D N Mazumdar and Dr T N Madan An introduction to social anthropology, Ed 1960, Chapter II, p 8, Heading – Culture and civilization

पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान क्रोबर (A.L. Croeber) के अनुसार, "समाज सहायक अंग के रूप में सस्कृति से सम्बन्धित रहता है तथा उसके साथ ही सस्कृति का वाहक भी है किन्तु इतर प्राणियों के साथ मानव की तुलना करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ में समाज व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवस्थित होते हुए भी वे सस्कृति विहीन हैं।¹ अतएव उन्हीं के शब्दों में "सामाजिक अभिव्यक्तियों की तुलना में सस्कृति ही मानव-वैशिष्ट्य के निर्धारण में अधिक समर्थ है।"² तथा ऐसी स्थिति में टाइलर की उक्त अनिवार्यता कोई महत्व नहीं रखती।

प्रो० लेस्ली ए० व्हाइट के अनुसार सस्कृति अपने उपादानों के संयुक्त रूप द्वारा अभिव्यक्त हुई है।³ सस्कृति के इन उपादानों को चार भागों में विभाजित किया गया है - 1 मानव प्राणी के रूप में अवस्थित व्यक्ति की समस्त आस्थाएँ या विश्वास, ज्ञान तथा दर्शन 2 सामाजिक जीवन के बीच स्थिति व्यक्ति के आचार-व्यवहार तथा कार्य अर्थात् रीतिरिवाज, प्रथाएँ, संस्थाएँ सामाजिक नियम कानून तथा निर्व्यक्त व्यवहारों की समस्त प्रतिकृतियाँ आदि सामाजिक उपादान 3 मानव-समाज की अनुभूतियों, रुचियों एवं उद्गारों की अभिव्यक्तियाँ 4 मनुष्य द्वारा अपने भौतिक जीवन को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिए किए गये निर्माण तथा प्रयोग।

उपर्युक्त विवेचन सस्कृति के अस्तित्व ग्रहण की दिशाओं का स्पष्टीकरण तो करता है किन्तु इससे सस्कृति का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि मानव को जीवन के सस्कृतिकरण की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई और उसकी सस्कृतिकरण की प्रक्रिया क्या थी? इस प्रश्न पर यदि विचार किया जाए तो सस्कृति का उद्देश्य मानव-जीवन को निरापद चिरस्थायी और समरस बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो मूलभूत समस्या मानव के सामने आयी होगी वह है अस्तित्व रक्षण की समस्या। पाश्चात्य विद्वान क्रोबर, प्रो० लेस्ली डॉ० पिडिंग्टन तथा एडविन सैलिंगमैन आदि ने इस बिन्दु पर विस्तार से विचार किया है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है ससार में भौतिक परिवेश के बीच जन्म लेने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक अवयवों पर ही आधारित रहकर

1 A L Croeber Anthropology, Revised, p 252, 253

2 A L Croeber Anthropology, Revised, Chapter VII, p 253

3 Prof Lashe The evolution of culture, Ed 1959, Chapter I, Man and culture, p 6, Heading- Man is unique

जीवित नहीं रह सकता। उसके जीवन की स्थिति के लिए (1) शरीर को जीवित रखने के लिये अन्य प्राणियों की भौति उसे शरीर पोषक पदार्थों – भोजन इत्यादि की आवश्यकता (2) एडविन सेलिगमन के शब्दों में “प्राकृतिक शक्तियों इतर प्राणियों तथा उसी वर्ग के मानव-प्राणियों की ओर से होने वाले खतरों से रक्षा”¹ (3) रोग-व्याधियों आदि से जीवन-सत्य में बाधा बन कर आने वाली परिस्थितियों का निराकरण।

इस प्रकार प्राथमिक आवश्यकताओं के रूप में शरीर के पोषण अथवा बुभुक्षातृप्ति तथा बाह्यघातों से रक्षण की एक प्रकार से जीवन व्यापी समस्याएँ बनकर आती हैं। इन समस्याओं के निराकरण के लिये अनेक विध साधनों के प्रयोग द्वारा खाद्य सामग्रियों की उपलब्धि, वस्त्र, आवास, गृह, अस्त्र-शस्त्र आदि के निर्माण सम्बन्धी कितने ही रक्षात्मक एवं आवश्यकतानुसार आक्रमक साधनों की खोज करता है।² इस प्रकार प्राथमिक अवस्था से ही उसमें देह और देहेतर सभी प्रकार के व्यवहारों का विकास होने लगता है, इस प्रकार प्रो० लेस्ली के शब्दों में यह व्यवहार समष्टि संस्कृति का ही प्रतिरूप है।³ इससे प्रकट है कि संस्कृति का उद्देश्य अथवा कार्य, संक्षेप में, मानव जीवन को निरापद तथा चिरस्थायी बनाता है। अस्तित्व रक्षण की समस्या के निराकरण के लिए सामूहिक जीवन की भावना का विकास सांस्कृतिक चेतना की एक आवश्यक स्थिति है। अतएव प्राकृतिक शक्तियों के बीच अपने जीवन को भली-भौति व्यतीत करने के अभियान में तथा परिस्थितियों वश उनसे संघर्ष अथवा त्राण पाने की स्थिति में जब वह स्वयं को असमर्थ पाता है, तब उसे सहयोगियों की सहायता का अनुभव अनिवार्य होता है।

इस प्रकार उक्त परिस्थितियों में सहयोग तथा पूर्व निर्दिष्ट अपने ही वर्ग के लोगों की ओर से सम्भावित अनिष्ट की आशंका से सह अस्तित्व की अपेक्षा ने सामूहिक जीवन को विकसित किया होगा। इस तथ्य के समर्थन में प्रो० लेस्ली के शब्दों में कहा जा सकता है ‘भौतिक परिवेश की

1 Edwin, R A Seligman Encyclopaedia of social sciences Ed 1954 Vol IV p 672 Heading- Culture

2 द्रष्टव्य – वही p 621, Heading – Culture

3 Prof Laslie A White The evolution of culture, Ed 1959, Chapter I, Man and culture, p 8, Heading – The function of culture

प्राकृतिक शक्तियों के बीच मानव की समुचित व्यवस्था तथा उनके नियंत्रण के निमित्त मानव के प्रभावी व्यवहार को जाग्रत एवं रक्षित रखने के लिए भी सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है।¹ सामूहिक जीवन के बीच उक्त व्यवस्था के साथ-साथ सह अस्तित्व तथा सहयोग के लिए कुछ सामाजिक एवं नैतिक नियमों विविध सामाजिक संस्थाओं तथा सगठनों, जीवनगत मूल्यों, लोक-विश्वासों, जीवन-दर्शन, रहन-सहन की पद्धतियों, के रूप में सांस्कृतिक उपादानों का विकास स्वभावतः ही होता जाता है।² इस प्रकार संस्कृति का कार्य उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव द्वारा अपनाये गए व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार-पुंजों का समायोजन है। इस समायोजन में विभिन्न उपादानों के साथ संस्कृति का ऐसा स्वरूप बनता है जिसमें मनुष्य, मनुष्य से जुड़ते हुए महत्वपूर्ण तत्वों को भी अपनी व्यापक परिधि में समाविष्ट करता जाता है, जो मानव के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को व्यवस्थित, उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट बनाते हैं।³

सांस्कृतिक उपादानों के अस्तित्व-ग्रहण में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के जीवन का हाथ है, लेकिन ये दोनों ही दिशाएँ समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप तैयार करती हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति और सुसंस्कृत समाज दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। प्रो० लेस्ली ने इसी तथ्य को इस प्रकार कहा है “मानव-जीवन व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही धाराओं में प्रवाहित रहता है, तथा संस्कृति का कार्य मानव-प्राणियों को उसमें समायोजित करना है।”⁴

संस्कृति के उद्देश्य तथा कार्य का जीवनगत आवश्यकताओं के द्विविध रूपों को आधार बनाकर भी कुछ विवेचकों ने उपस्थित किया है, विशेषकर इस संबंध में प्रो० लेस्ली तथा डॉ० पिडिंगटन के विवेचन उल्लेखनीय हैं।⁵ ये आवश्यकताएँ इस प्रकार हैं 1 बाह्य अथवा भौतिक जीवन से

1 Prof Laslie A White The evolution of culture, Ed 1959, Chapter I. Man and culture, p 8, 9. Heading – The function of culture

2 द्रष्टव्य – Edwin R A Seligman Encyclopaedia of social sciences, Vol IV, p 621, 622, Heading– Culture

3 Prof Laslie A White The evolution of culture, Ed 1959, Chapter I. Man and culture, p 9, Heading – The function of culture

4 द्रष्टव्य – वही, पृ० 10

5 a Prof A Leslie The evolution of culture, 1959, Chapter I. Man and culture, p 9, 10, Heading – The function of culture

b Edwin R A Seligman Encyclopaedia of the social science, p 621, 622

c Dr Piddington An introduction to social anthropology, p 495

संबंधित तथा 2 आंतरिक अथवा अंतःवृत्तियों से संबंधित। संस्कृति का कार्य तथा उद्देश्य इनसे संबंधित सभी आवश्यकताओं की सतुष्टि करना है, जिसके लिये वह उपर्युक्त प्रकार के समायोजन द्वारा व्यवहार समष्टि का निर्माण करती है अथवा दूसरे शब्दों में अपने घटकावयवों के माध्यम से अभिव्यक्त हो जाती है। मानव में वर्तमान सांस्कृतिक विकास की क्षमता के दृष्टिकोण से संस्कृति के जिन चतुर्विध उपकरणों को पूर्ववर्ती पृष्ठों में लक्ष्य किया गया है, वे सभी इन द्विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।¹ किन्तु उनके प्रवृत्तिगत आधार को लेकर विचार करने पर इनके दो वर्ग मानना ही अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। अतएव प्रथम के अन्तर्गत वे सभी स्थूल तथा सूक्ष्म उपादान आ जायेंगे, जो भौतिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं² तथा दूसरे वर्ग में उनको लिया जायेगा जो मानव की अंतः वृत्तियों को पारितोष प्रदान करते हैं।

1.2 संस्कृति : निर्माण और विकास की आधारभूमि

संस्कृति के स्वरूप विकास के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों की अवधारणाओं के विश्लेषण से संस्कृति के विकास की दिशाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। यह सांस्कृतिक विकास व्यक्ति और उसके समाज को आधार बनाकर उसके आश्रय से ही स्वरूप ग्रहण करता है। संस्कृति का मूल तो संस्कार ही है। यह संस्कार व्यक्ति और जीवन के विविध आयामों के धरातल पर होते हैं। अतः समाजोन्मुखी संस्कृति के अनुशीलन के लिए ही संस्कृति के निर्माण और विकास की आधार भूमि पर विचार करना होगा। जीवन के सन्दर्भ में अपने स्वरूप के साथ संस्कार को आधार देने वाली निम्नलिखित दिशाएँ हो सकती हैं –

1.2.1.1 आत्मगत आधार भूमि

चीन के महात्मा कन्फ्यूशियस ने मानव को आत्मगत संस्कार की ओर प्रेरित करते हुए कहा है “आत्म संस्कार में ही मनुष्य को सम्पूर्ण शक्ति लगाना है।”³ पाश्चात्य विद्वान प्रो० लेस्ली⁴ ने अपने

1 Prof Leslie The evolution of culture, p 9, 10

2 Dr Piddington Ralph An introduction to social anthropology, p 3 to 5

3 Quoted from the book – Culture, 1st Ed by Major B.D Basu, p 8

4 Prof Leslie A White The evolution of culture, Ed 1959, Chapter – Man and culture, p 11, 12, Heading – Relationship between man and culture

सांस्कृतिक संबंधी विवेचन के अन्तर्गत मानव द्वारा अपने सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ मानसिक तथा शारीरिक व्यवहारों के निर्माण तथा विकास की मान्यता में शारीरिक तथा मानसिक संस्कारों का स्वतः अर्जन स्वीकार किया है। आत्मगत संस्कारों के सर्वविध रूपों की स्वीकृति आत्म साक्षात्कार पर बल देने वाली भारतीय आध्यात्मिक चेतना में देखी जा सकती है। आत्मदर्शन अथवा आत्म साक्षात्कार भारतीय मनीषा का मूल है। पाश्चात्य विचारक सुकरात ने भी 'टु नो दाईसेल्फ' (To know thyself)¹ "अपने आपको पहिचानो" द्वारा भारत के 'आत्मानं विजानीहि' सिद्धान्त के समान ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपने स्वरूप के साक्षात्कार में केवल आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के स्वरूप को ही पहचानना नहीं है, बल्कि जीवन के सन्दर्भ में अपने स्वरूप को पहचानना और उसका संस्कार भी लिया जा सकता है।

1.2.1.2 कायिक आधार भूमि

'शरीरमाघं खलु धर्म साधनम्' के अनुसार शरीर ही सब प्रकार के कार्यों का साधन है। अतः जीवन साधना के सुचारु रूप से चालने के लिये शरीर को सूक्ष्म बनाने की महती आवश्यकता है। सांस्कृतिक दृष्टि से जीवनगत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्यक्षम बनाने के साथ उसका कर्म-कौशल विकसित करने के लिए शारीरिक संस्कारों की आवश्यकता है। कायिक संस्कार केवल वैयक्तिक सन्दर्भ में ही अपना महत्व नहीं रखते उनके अपने सामाजिक सन्दर्भ भी होते हैं। व्यक्ति सामाजिक व्यवहार सीखने तथा कार्य सम्पादन करने के लिये मानव अपनी कायिक क्षमताओं का विकास करता है, वे क्षमताएँ किसी न किसी रूप में समाज को नियंत्रित करने और दिशा देने का कार्य करती हैं। सामाजिक कार्य व्यापारों, उसमें होने वाले विकास, अनुकरण के द्वारा सीखने के साथ वह अपने शरीर द्वारा अपनाये गये व्यवहारों या शारीरिक संस्कारों को स्वतः ही लाता है जो जानबूझ कर तथा अनजाने दोनों अवस्थाओं में होता है।

1 भारतीय शिक्षा प्रणाली के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए केवल मोतवानी लिखते हैं . "Education was not intended only for shaping and mental tools of man but for aiding him in his adventure of self discovery – Kewal Motwani : A synthesis of cultures, Ed. 1950, Chapter IV, Fundamental of Indian Culture, p 129, Education

भारतीय सांस्कृतिक चेतना ने आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कायिक संस्कारों की महत्ता को स्वीकार किया है। इस दृष्टिकोण से आसन तथा प्राणायाम का कायिक संस्कारों के अन्तर्गत उल्लेखनीय महत्त्व है। इन्हें भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत उच्चतर स्थान प्राप्त है, क्योंकि उसके अनुसार इनके द्वारा शारीरिक शुद्धता के अतिरिक्त उससे भी अधिक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना में सहायता मिलती है। आसन और प्राणायाम जहाँ आध्यात्मिक साधना के लिये एक आधारभूमि तैयार करते हैं वही सामाजिक धरातल पर मनः नियंत्रण और गंभीर दृष्टि अपनाने की सांस्कृतिक आधारभूमि भी तैयार करते हैं। कहना न होगा कि इनका निरन्तर अभ्यास अथवा दूसरे शब्दों में इनके द्वारा नियमित शारीरिक संस्कार व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सामाजिक शक्तियों से सम्पन्न बनाता है। प्राचीन उल्लेखों के आधार पर प्रस्तुत किया गया डॉ० राजबली पाण्डे¹ का यह कथन इन कायिक संस्कारों के विविध सन्दर्भों को स्पष्ट करता है "आत्मा के सुदृढ़ निवास के लिये शरीर को उत्तम बनाने के लिए (प्राचीन काल में) सम्पूर्ण शारीरिक संस्कार भी आवश्यक समझा जाता था।"

1.2.1.3 मनोगत आधार भूमि

संस्कृति के निर्माण और विकास की द्वितीय आधार भूमि उसकी मनः संरचना है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हमारा मन संस्कार ग्रहण करता है, हम जो कुछ देखते तथा सुनते हैं, उससे मनन-क्रिया द्वारा अपने मन को संस्कारित भी करते जाते हैं तथा इसके आधार पर हमारी चेष्टायें तथा विचार बना करते हैं। संस्कृति के पाश्चात्य विवेचक प्रो० लेस्ली ने जीवन सग्राम में भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त साहस, प्रेरणा, आशा, आकांक्षा जैसी मनोवृत्तियों की आन्तरिक आवश्यकताएँ मानकर उनकी पूर्ति का साधन पौराणिक आख्यान आदि को बतलाया है जो कि उनके अनुसार सांस्कृतिक युक्तियों के रूप में मानव की सहायता करते हैं।²

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मन का तात्त्विक विवेचन करते हुए सांस्कृतिक चेतना के विकास का मूल मनोसंरचना में ही माना है। मनोविश्लेषकों³ के अनुसार सामान्य व्यस्क व्यक्तित्व का निर्माण

1 डॉ० राजबली पाण्डे हिन्दू संस्कार, संस्कार — स० 2014, पृ० 33-34, शीर्षक संस्कारों का प्रयोजन।

2 Prof Leslie A White The evolution of culture, p 9, Heading — The function of culture

3 डॉ० रामकुमार राय असामान्य मनोविज्ञान, पृ० 207

कामतत्त्व (Id) अहंकार (Ego) तथा उच्चाहंकार (Super ego) से मिलकर होता है। 'कामतत्त्व' जीवन तथा मृत्यु दोनों ही प्रवृत्तियों का प्रमुख संग्रह तथा अनेक मनोजैविक शक्तियों का स्रोत है। यह विशुद्ध रूप में आनन्द प्राप्ति एक आक्रामक इच्छाओं से ही सम्बन्धित होता है। इसे न तो समय का ज्ञान होता है तथा न वास्तविकता का। यदि 'कामतत्त्व' से आरम्भ होने वाली इच्छाओं को वास्तविकता में नियन्त्रित न किया जाए, तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व में सामाजिक प्रौढ़ता नहीं आ सकती। ऐसी दशा में उसे न नैतिक-अनैतिक का विचार रहेगा तथा न सामाजिक महत्त्वों का। इस तथ्य को स्पष्टतः समझा जा सकता है कि आख्यानो में अभिव्यक्ति की अवस्थिति मन को इस तरह सस्कारित करती है कि मन का सामाजीकरण होने लगता है और वह व्यष्टि मन से समष्टि मन में परिवर्तित होने लगता है। आध्यात्मिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व के विकास का आधार मन-मस्तिष्क होने के कारण उत्कृष्टता की प्राप्ति के लिये इनका सस्कार आवश्यक मानकर हमारे देश में ज्ञान के स्वाध्याय को जीवन के सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक माना गया क्योंकि स्वाध्याय अप्रत्यक्ष रूप से मानसिक संस्कार की प्रेरणा देता है। संक्षेप में मानसिक संस्कारों द्वारा कर्तव्य बुद्धि के उदय के साथ-साथ विचार परिपुष्ट होते हैं और वे अपनी विकसित अवस्था में जीवन में घुल मिलकर सांस्कृतिक विकास की आधार भूमि तैयार करते हैं। इस प्रकार मनोगत संस्कारों के साथ ही समाजोन्मुखी संस्कृति की आधार शिला तैयार होती है।

1 2 1 4 भावगत आधार भूमि

संस्कृति के निर्माण और विकास में एक महत्त्वपूर्ण आधार भूमि उसका भावगत संस्कार भी है बाह्य जगत के किसी घटना चित्र को देखने, सुनने से हमारी चेतना पर उसके प्रभाव से एक विशेष प्रकार के भावोद्वेग का उच्छलन होता है। भावोच्छलन भावगत संस्कारों का जनक है, कहना न होगा कि भावोद्वेग उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थितियों के कारण उत्पन्न हो सकता है। ये भावगत संस्कार विशेष स्थिति प्राप्त करके विविध अभिव्यक्तियों के कारण भी बन जाते हैं, और उपर्युक्त प्रकार की स्थिति आ जाने पर भावोद्वेग भी उत्पन्न कर सकते हैं। भावगत संस्कारों का

-
- 1 'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रनहि विद्यते' - भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-38
 - 2 मनुस्मृति, अध्याय 2, श्लोक 195 तथा 107
 - 3 'स्वाध्यायान्मा प्रमदर' - तैत्तिरीयोपनिषद्

स्वरूप विकास मनुष्य की प्रवृत्तियों से निर्मित होता हुआ, सामाजिक संरचना के सदर्भ में निरन्तर होता है। यह भावगत संस्कार ही हैं जिनके द्वारा समाजोन्मुखी संस्कृति की विकास प्रक्रिया आगे बढ़ती है।

1215 नैतिक आधार भूमि

समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास का अगला चरण नैतिक संस्कार के रूप में प्रस्तुत होता है। समाज विज्ञान के कोषकार के मतानुसार जीवनगत मूल्यों तथा आदर्शों की अनुभूतियों से सम्बन्धित नैतिक भावना व्यक्ति को समाज में वर्तमान सांस्कृतिक उपकरणों के माध्यम से मिलती है तथा वह व्यक्ति को यहाँ तक अनुप्राणित कर देती है कि उसके लिये वह सुख-दुःख की ही नहीं, वरन् मृत्यु तक की परवाह नहीं करता।¹ नैतिक संस्कारों का मुख्य उद्देश्य आत्म संयम तथा दिव्य गुणों की प्रतिष्ठा है। डॉ० राजबली पाण्डे ने 'गौतम-धर्मसूत्र' द्वारा निर्दिष्ट चालीस संस्कारों के अतिरिक्त दया, क्षमा, अनसूया, शौच, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता आदि आत्मा के आठ गुणों का संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति में परिपक्व हो जाने को ब्रह्म प्राप्ति के लिये आवश्यक माना है।²

1216 आध्यात्मिक आधार भूमि

मानव के भोजन तथा अन्य रक्षात्मक साधन जीवनगत आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से जितने सत्य हैं, उतनी ही उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता की सत्यता भी असंदिग्ध है और जीवन सग्राम में सफलता प्राप्ति के लिये इन आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है।³ किन्तु पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही चिन्तकों ने मानव-जीवन की अपूर्णता तथा उसका किसी शाश्वत व्यवस्था पर निर्भर होना स्वीकार किया है। आधुनिक मनोविज्ञान भी आध्यात्मिक संस्कारों को चेतना में निहित एक स्थिति के रूप में स्वीकार करती है। डॉ० रमेश शर्मा ने आधुनिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ में संस्कृति की आधार भूमि की व्याख्या करते हुए कहा है "आधुनिक मनोविश्लेषकों में फ्रायड ने दमित वासनाओं से निर्मित जिस अवचेतन के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी, उसके मूल में काम तत्त्व था। इस तत्त्व

1 Edvin R A Seligman Encyclopaedia of the social sciences, p 622, 623, Heading – Culture

2 डॉ० राजबली पाण्डे हिन्दू संस्कार, पृ० 36, शीर्षक – नैतिक प्रयोजन।

3 Leslie A White The evolution of culture, p 9

से संकीर्ण व्यक्तित्व का ही विकास हो सकता है। नारी सदर्भित वासना जन्य जीवन बोध का पर्याय बन सकता है। यद्यपि यह भी जीवन का एक यथार्थ बोध है, लेकिन यही मानवीय जीवन का यथार्थ नहीं है। युंग ने मानवीय मनोसंरचना के यथार्थ को समझते हुए सामूहिक अवचेतन के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जिसका निर्माण मानवीय सांस्कृतिक विकास के साथ अनेक वैयक्तिक अवचेतन से मिलकर होता है। यह स्थिति मानवीय जीवन बोध का सुसंस्कृतिकरण कही जा सकती है। युगीय मनोवैज्ञानिक की आद्य रूप और उसकी अभिव्यक्तियों की अवधारणा उस रहस्य के अतल तल की ओर सकेत करती है जो मानव की आध्यात्मिक क्रिया के परीक्षण में बार-बार सामने आता है। युंग ने आद्य को 'साइकोइड' मानकर चित्तीय और अचित्तीय दोनों रूपों में एक समान सत्तावान किसी पदार्थ की सभावना प्रकट की है। आद्य रूप और उसकी अभिव्यक्तियों की यही अवधारणा आध्यात्मिक चिन्तनधारा में मानवीय जीवन, नारी-जीवन बोध को परिभाषित करने की आधारशिला है। हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि सृजनशील नारी के आद्य बिम्ब ने ही सृष्टि के आद्य रूप और उसके विकास के अतल-तल को उद्घाटित करने की चेतना का विकास किया है।¹

उपर्युक्त सांस्कृतिक विकास के आधार वैयक्तिक संस्कार के साथ व्यक्ति के विकास की दिशा निर्धारित करते हुए समाजोन्मुखी संस्कृति के लिए एक व्यापक धरातल तो तैयार कर देते हैं लेकिन समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप निर्माण सामाजिक आधार पर ही होता है।

1.2.2 संस्कृति : निर्माण और विकास की सामाजिक आधार भूमि

दाम्पत्य जीवन के अन्तर्गत जब स्त्री और पुरुष मातृत्व एवं पितृत्व को प्राप्त करते हैं तब एक ओर उनके हृदयों में वात्सल्य की भावना, सतान के लिए अपूर्व त्याग, स्वार्थ, निमन्त्रण आदि जैसी अनेक भावनाएँ जागृत होने लगती हैं और दूसरी ओर सन्तान में भी माता-पिता के प्रति प्रेम, ममता, सम्मान, आज्ञा पालन तथा उनके लिए सर्वस्व को भी उत्सर्ग कर देने वाली श्रद्धा का विकास क्रमशः होता जाता है। बालक के बड़े हो जाने पर जब संबंध सामाजिक सस्थाओं से होता है, तब वह पारिवारिक जीवन की भाँति सामाजिक व्यवहार तो सीखता ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त सहयोग, सद्भावना, परोपकार, अनेक विध-संगठन, त्याग तथा समाज सेवा आदि वृत्तियों को नैसर्गिक रूप

1. जायसी की सिंहाल परिकल्पना एक सांस्कृतिक जीवन बोध – डॉ० रमेशचन्द्र शर्मा

से ग्रहण तथा उनसे संस्कृत होकर तत्सम गुणों का विकास जिस प्रकार उसमें समाज के बीच रहकर होता है, उसी प्रकार परम्परागत ज्ञान एवं अनुभव भी उसके सहायक होते हैं। इन सभी बातों के कारण व्यक्ति का संस्कार-निखार होता है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त बातों को ग्रहण करने में व्यक्ति एक प्रकार से स्वतंत्र कहा जा सकता है क्योंकि अनिवार्यता का कोई बंधन उस पर नहीं रहता, यद्यपि यह आवश्यक है कि वातावरण के कारण उसकी ग्रहण शक्ति तथा प्रयत्न के अनुसार उनका संस्कार पढ़ना अवश्यभावी है। इसके अतिरिक्त समाज-व्यवस्था की अनेक बातों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, नियम, अधिनियम आदि को उसे अनिवार्यतः सामाजिक सदस्य होने के नाते स्वीकार करना पड़ता है। कहना न होगा कि सामाजिक संस्थाओं के अनेक विश्वास तथा मान्यताएँ व्यक्ति में अप्रत्यक्ष रूप से स्वतः भी आकर उसकी वृत्ति का अंग बन जाती हैं। जो एक विशेष प्रकार के सामाजिक संस्कारों की ओर संकेत करती हैं।

व्यक्ति का सम्यक् विकास अथवा संस्कार होना उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों पर निर्भर करता है। एक के द्वारा वह आत्म-निरीक्षण, आत्मानुशासन तथा निजी साधना द्वारा व्यक्तिगत दोषों का परिहार आत्मशुद्धि तथा अपनी वृत्तियों तथा कार्यों को सन्मार्ग की ओर लगाता है तथा दूसरे के द्वारा वह सामाजिक आचार-व्यवहार, सेवा, प्रेम, उदारता तथा सहानुभूति आदि की भावना से बहिर्जीवन का श्रृंगार करता है। ये संस्कार उसके जीवन में घुल-मिलकर चरित्र के अंग बन जाते हैं।

सामान्यतया व्यक्ति समाज के आदर्शों तथा विचारों से संस्कारित होता ही है, किन्तु उसके अतिरिक्त आत्मगत संस्कारों द्वारा वह स्वयं ऐसे विचार तथा आदर्श दे सकता है जो कि समाज का भी मार्ग दर्शन करते हैं। इस प्रकार संस्कारों की परम्पराएँ समाज के निजी वैशिष्ट्य तथा निजी व्यक्तित्व को लक्ष्य किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संस्कृति की सामाजिक आधार भूमि संस्कृति के विकास के लिए दो दिशाओं का रेखांकन करती है —(1) आचरण प्रधान तथा (2) सामूहिक संस्कार प्रधान। समाज शास्त्रियों के मतानुसार मनुष्य का जीवन अपनी प्राथमिक अवस्था में आज जैसा न था। सांस्कृतिक चेतना ने उसको अपने जीवन से हटकर समाज की ओर बढ़ने की दिशा दी। खोज तथा

आविष्कार उसके विकास की मजिले है।¹ डा० भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में, “इस दिशा में बढ़ते हुए हम आदिम अवस्था से जितनी ही दूर सामाजिकता की ओर बढ़ते जाते हैं, उतने ही सभ्य कहलाते हैं।² संस्कृति की सामाजिक आधार भूमि की ओर भी स्पष्ट संकेत हैं। उसका मूल सम्बन्ध सभा से है, क्योंकि जिस ‘सभ्य’ शब्द से उसकी व्युत्पत्ति हुई है, उसका तात्पर्य सभा में व्यवहार की साधुता सभा या समाज में रहने की योग्यता अथवा सामाजिकता से है।³ सभ्य की यह अवधारणा सामाजिक आधार पर सांस्कृतिक चेतना का एक सुन्दरतम विकास है। इस प्रकार सांस्कृतिक चेतना एक सामाजिक गुण भी है, जिसका प्रादुर्भाव मनुष्य के समाज में रहने के कारण होता है।⁴

अतएव इसके लिए कुछ सामाजिक सन्दर्भ में विधि निषेधों के प्रति व्यक्ति की सजगता आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय सभ्यता की अवधारणा संस्कृति के समाजोन्मुखी स्वरूप की व्यवस्था है।

1.2.3 संस्कृति के समाजोन्मुखी विकास की प्रक्रिया और व्यक्ति

जीवन सन्दर्भों की स्वरूप संरचना में मनुष्य में सामूहिक भावना तथा उसके परिणामस्वरूप सामूहिक आचारों एवं सहयोग की भावना का विकास हुआ था। ये सभी भावनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ स्वतः विकसित होकर प्राणी शास्त्रीय पर्यावरणीय धरातल पर शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक आचरण के रूप में विकसित हुई थी। कहना न होगा कि यह सामूहिक भावना सामाजिक संस्कृति के विकास की प्रारम्भिक अवस्था है। इस प्रकार सामाजिक संस्कृति व्यक्ति के आश्रय से धीरे-धीरे विकसित होने वाली एक कृत्रिम किन्तु अनिवार्य स्थिति है, जो निरन्तर विकसित होती हुई परिस्थितियों के प्रति प्रकृत या स्वाभाविक भाव से सामाजिक विकास की कुछ मजिले पार करने के बाद सामूहिक विरासत से सामाजिक संरचना का रेखांकन करती जाती है। समाजोन्मुखी संस्कृति की चेतना के मूल में सामाजिक मूल्य कर्म, तप, त्याग, सेवा, प्रेम समाज का ऐसा रूप निर्माण करते हैं जो परम्परागत श्रृंखला के मानवीय जीवन का गौरवमय विकास ही रेखांकन नहीं करते,

1 क डॉ० जयचन्द्र विद्यालंकार भारतीय कृष्टि का क ख, प्रथम संस्करण, पृ० 9 से 12

ख डॉ० भगवत शरण उपाध्याय सांस्कृतिक भारत, पृ० 10

2 वही, पृ० 11

3 डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० 2

4 कल्याण हिन्दू संस्कृति विशेषांक, पृ० 175, भगवानदास केला का ‘मानव-संस्कृति’ शीर्षक लेख।

बल्कि जीवन में अनुप्राणित होकर सांस्कृतिक जीवन का अंगीभूत बन जाना चाहते हैं। इस आधार भूमि पर पल्लवित सांस्कृतिक चेतना की उपलब्धि में जिस आंतरिक आनन्द की अनुभूति होती है, वह सूक्ष्म तथा अन्तः सौन्दर्य को प्रकाश में लाने का सामर्थ्य रखती है। जीवनगत आनन्द का सतत सन्धान करना मानव की मूल प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति ने ही उसे पशुत्व से ऊपर उठाकर इतना उत्कृष्ट रूप दिया है। संस्कृति की इस विकास प्रक्रिया में व्यक्ति संस्कार उसे दो दिशाओं में ले जाता है। एक दिशा में वह अपने आत्मिक संस्कार के माध्यम से अपने व्यक्ति के आध्यात्मिक मंडल का अंग बना लेता है। सांस्कृतिक चेतना की यह स्थिति समाजोन्मुखी संस्कृति से प्रत्यक्षतः दूर होती है। यह स्थिति अप्रत्यक्ष रूप से समाज को एक जीवन दिशा तो देती है लेकिन मूलतः यह वैयक्तिक संस्कृति ही कही जा सकती है। संस्कृति के विकास की दूसरी दिशा व्यक्ति को सामाजिक सन्दर्भों में रखकर उसका संस्कार करती हुई विभिन्न स्तरों से उसका मन संस्कार करती हुई उसके सामाजिक व्यक्तित्व का विकास करती है, जिससे एक सुसंस्कृत समाज की संरचना होती है। हमारे शोध का विषय क्षेत्र संस्कृति की यही दिशा समाजोन्मुखी संस्कृति है।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि संस्कृति ने व्यक्ति को सङ्कुचित दृष्टिकोण से ऊपर उठाकर सदैव उन्मुक्त वायुमण्डल से श्वासोच्छ्वास ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया है और इसमें सन्देह नहीं कि समाजोन्मुखी संस्कृति संस्कार द्वारा अपूर्ण मानव-जीवन को पूर्णतत्त्व प्रदान करनेवाली मानव की यह उपलब्धि ही समस्त की प्रेरक शक्ति सिद्ध हुई है।

मानव-जीवन प्रारम्भिक युग में अचेतन अवस्था शनैः शनैः लुप्त होती हुई आवश्यकताओं की वृद्धि और मानव के बौद्धिक विकास ने मानव को उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये योग्य बना दिया। प्राकृतिक उपादानों के विभिन्न उपयोग किए गए, तब उसके मस्तिष्क ने इसको पूर्ण रूप से समझ लिया कि प्राकृतिक वातावरण केवल आर्थिक और भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं करता बल्कि सौन्दर्य विज्ञान और आध्यात्मिक क्षेत्रों की आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि करता है। अतः मानव मानव में प्राकृतिक उपादानों का अपनी अनुकूलतम स्थिति में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।

पीछे सस्कृति की आधारभूमि पर विचार करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सस्कृति का विकास मानवीय मूल-प्रवृत्ति के सुसस्कृतिकरण के रूप में भी होता है और उसके अपने सामाजिक सन्दर्भ में भी। आधुनिक मनोविज्ञानी व्यक्ति के सामाजिक आचरण का मूल भी मूल प्रवृत्तियों में ही मानकर चलते हैं। डॉ० मैकडूगल का कथन है “सामाजिक आचरण का आधार वात्सल्य अथवा कोमलता का सवेग है, जो सतति पालन की मूलवृत्ति से सबधित है। यद्यपि मूलतः इसका सबध माता से ही था तथापि कालांतर में इसका आविर्भाव पिता में भी हुआ। इसका क्षेत्र निज सतति तक ही सीमित न रहा, वरन् क्रमशः व्यापक होता गया। इसका प्रमाण यह है कि जब कभी हम किसी निर्बल एवं निराश्रित व्यक्ति को देखते हैं अथवा उसके विषय में सुनते हैं तो हमारा हृदय द्रवित हो जाता है।”¹

डॉ० मैकडूगल² के अनुसार हमारी समस्त उदात्त सामाजिक भावनाओं, परोपकारी सवेगों का स्रोत उक्त मूल प्रवृत्ति ही है। अन्य सवेगों की भांति इसके प्रकटीकरण में बाधा उपस्थित होने पर भी हमें क्षोभ होता है और परिमाणतः युयुत्सा मूल प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है। फिर क्रोध का सवेग युयुत्सा की प्रवृत्ति का अनुसरण करता है।

जिन्सबर्ग, मैकडूगल³ के सामाजिक सवेगों के सिद्धान्त का विश्लेषण करता हुआ कहता है, ‘सामाजिक सवेग भी उसी प्रकार पैदा होते हैं, जैसे अन्य सवेग। अन्य सवेगों की तरह, जीवन के लिये उनका भी महत्त्व है। इसके अतिरिक्त मैकडूगल का यह कथन है कि सामाजिक सवेग किसी आदिम सवेग व्यापक रूप हैं, तथ्यपूर्ण नहीं वात्सल्य का सवेग तो एक ही परिवार के सदस्यों तक सीमित रहता है। वात्सल्य—जनित सबध तथा उससे भिन्न अन्य सामाजिक सबधों में बहुत अंतर है।

मैकडूगल⁴ के अनुसार नि स्वार्थ कार्य आत्महित के लिये किये गये कार्यों के परिणाम हैं। अन्य शब्दों में आत्म-हितार्थ कार्य मुख्य हैं और नि स्वार्थ कार्य गौण हैं। जिन्सबर्ग का मानना है कि सवेगों का सबध उनके विषय से होता है। किसी विशेष सवेग का परिणाम अपने लिए अथवा दूसरे के लिए हितकर है — यह प्रश्न बाद में उपस्थित होता है। एक प्रकार से देखा जाए तो सभी सवेगों का

1 सस्कृति और समाजशास्त्र (भाग-2), डॉ० रागेय राघव श्री गोविन्द शर्मा पृ० 3

2 वही

3 वही

4 वही पृ० 4

आधार आत्म हित नहीं है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के संपर्क में आता है तो उसमें सामाजिक भावनाओं की उत्पत्ति होती है।

अतएव स्पष्ट है कि सामाजिक सवेग के लिए आवश्यक उद्बोधक संपर्क में आए हुए व्यक्ति है। परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार इसकी प्रतिक्रिया में परिवर्तन रहता है। जब उद्बोधक निजस्व होता है तो उसका परिणाम हितार्थ सवेग होता है और जब उद्बोधक दूसरे व्यक्ति अथवा उससे सबद्ध कोई पदार्थ होता है तो वह परोपकारी सवेग का सृजन करता है।

संस्कृति की मानव शास्त्री व्याख्या करते हुए सी०सी० नार्थ ने कहा है 'मानव की निजी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए सहायक सिद्ध होने को उसके द्वारा निर्मित साधनों में संस्कृति निहित होती है।'¹

मैलिनोविस्की (Malinowski) ने संस्कृति की इस प्रकार परिभाषा दी है, 'संस्कृति मानव का हस्त उद्योग है और वह साधन जिससे वह अपने साध्यों को प्राप्त करता है।'²

1.3 संस्कृति और समाज

1.3.1 संस्कृति की समाजोन्मुखी विकास की प्रक्रिया और समाज

समाज और संस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। समाज की स्वरूप परिकल्पना बिना सांस्कृतिक चेतना के संभव नहीं है, और बिना समाज के सांस्कृतिक परिकल्पना अधूरी है, उसकी दिशा का निर्धारण वैयक्तिक सीमाओं में सीमित रहकर किसी स्वस्थ और सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सकता।

समाज मानव जीवन की स्वरूपगत संरचना है। मनुष्य ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण तथा पुनर्निर्माण करता है, जो उसके आचार-विचार और व्यवहार को ठीक रास्ते पर ले जाए और उन पर नियंत्रण रखे। मनुष्य का यह संगठन समाज कहलाता है। यह मनुष्य को स्वतंत्र करता है और बंधन में भी डालता है। यह उसमें एकता और रक्षा के भाव संचालित करता है उसके लिए जीवन

1 संस्कृति और समाजशास्त्र (भाग-2), डॉ० रागेय राघव, श्री गोविन्द शर्मा, पृ० 4

2 द्रष्टव्य वही पृ० 5

के मूल्य और मानदंड की सृष्टि करता है। रूढ़ि, विश्वास और कार्य प्रणाली की सत्ता और पारस्परिक सहायता की, समूह और समुदाय की, मानवीय व्यवहार के नियंत्रण की और मानवीय स्वतन्त्रताओं की एक पद्धति और व्यवस्था होती है। एक प्रकार से देखा जाये, तो समाज की यह नियंत्रण व्यवस्था ही तो संस्कृति नाम्नी तत्त्व है। जिसका विस्तृत विवेचन हम पूर्ण प्रकरणों में कर चुके हैं।

समाज की आधारभूत व्यवस्था एक समान लय में निहित है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'समाजवाद' में समाज शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए, डॉ० सम्पूर्णानन्द ने समाज की परिभाषा की है, उनके अनुसार, "सम अजन्ति जना अस्मिन् इति" – जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गति से, एक से चले वही समाज है।¹

प्रो० मैकाइवर ने अपने ग्रंथ 'सोसाइटी' में समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है, "समाज रीति और व्यवहारों का प्रभुत्व एवं पारस्परिक सहायता का, एकाधिक समुदायों तथा विभागों का और मानव-आचार एवं स्वतंत्रता के नियन्त्रण का क्रम है। इस सतत परिवर्तनशील जटिल क्रम को समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंध का जटिल जाल है, और सदा परिवर्तित होता रहता है।"²

इस प्रकार समाज व्यक्तियों का वह संगठन है, जिसमें लोग एक साथ चलते हैं, जिसमें परिस्थिति और भावना की एकता हो तथा जिसे आचरण करते समय एक दूसरे के अस्तित्व का भी ध्यान रखते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व को ध्यान में रखते हुए आचरण करता है, तो 'समाज' का आविर्भाव होता है। ऐसे ही संबंधों को हम सामाजिक कह सकते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरे के अस्तित्व को ध्यान में रखकर आचरण करते हैं। जितना जटिल समाज होता है, सामाजिक संबंध भी, उतने ही विभिन्न होते हैं। माता-पुत्र का, स्वामी-सेवक का, मित्र-मित्र का, गुरु-शिष्य का संबंध इसके कतिपय उदाहरण हैं। साधारण भाषा में राजनीतिक, आर्थिक, वैयक्तिक, कौटुम्बिक प्रभृति अनेक पद सामाजिकता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

1 सम्पूर्णानन्द समाजवाद, पृ० 19

2 Society is a system of usages and procedures of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and liberties. This ever changing complex system we call society. It is the web of society relationship and is always changing (Iver R., Society, London, 1950)

मनुष्य अपने जीवन क्रम अपनी भावना को निरन्तर समाजोन्मुखी करने के प्रयास में रहता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक एवं समाज विज्ञानी अरस्तू ने तो यहाँ तक कहा है कि जो व्यक्ति सामाजिक नहीं है वह या तो पशु है अथवा देवता। जन्म-काल से मनुष्य को समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। अपनी सुरक्षा तथा सुख के लिये पालन एवं पोषण के लिए उसे सदा समाज पर आश्रित रहना पड़ता है। मानव के स्वप्नों एवं कल्पनाओं, सभ्यता तथा संस्कृति अवसरो तथा आकाक्षाओं का स्रोत समाज है। बुद्धि तत्त्व, जो मनुष्य को पशु से भिन्न करता है, समाज की ही उपज है। समाज के बिना मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त विवेचन को आधार बनाकर व्यक्ति और समाज को एक दूसरे के सन्दर्भ में यदि देखा जाये तो, व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं : इन दोनों के बीच अन्योन्याश्रय सबध होता है, क्योंकि एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं हो सकती। समाज से अलग रहने वाला या तो देवता है या पशु। समाज व्यक्ति में केवल वंशानुक्रम के गुण ही नहीं, बल्कि उसको समस्त वातावरण भी देता है, उसका जनन, विकास, शिक्षण, भाषा, संस्कार, धर्म सब समाज से प्राप्त होते हैं, उसी तरह समाज भी व्यक्ति से ही बनता है, उसी से बिगड़ता है। मीड के अनुसार "आत्म चेतना ही विकास के मूल से है।" इस तरह सामाजिक एकता न तो शारीरिक है, न यात्रिक बल्कि यह व्यक्तियों के आदर्शों और लक्ष्यों पर आधारित है।

जिन गुणों को हम सामाजिक गुण मानते हैं, आखिर व्यक्तियों के द्वारा ही तो वे अर्जित होते हैं, क्योंकि व्यक्तियों के जीवन के अतिरिक्त सामाजिक जीवन कोई अलग चीज नहीं है।

1.3.2 संस्कृति और समाजोन्मुखी संस्कृति

मानवशास्त्रियों के अलावा समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को समाज के सदर्भ में परिभाषित करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य विद्वान लेस्ली ए० व्हाइट ने लिखा है, "संस्कृति घटनाओं का वह समूह

है, जिसमें व्यवहारो, वस्तुओ, विश्वासो, विचारो, ज्ञान, भावुकताओ (अवमूल्यन) का समावेश होता है, जो कि प्रतीको के उपयोग पर आधारित होता है।¹ /

एच०पी० फेयरचाइल्ड ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है, “चिन्हों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहारों को सामूहिक रूप से संस्कृति के नाम से जाना जाता है।”²

पूर्व प्रकरणों में संस्कृति के स्वरूप और परिभाषाओं में हम देख चुके हैं कि संस्कृति वैयक्तिक संस्कार के द्वारा सामाजिक संस्कार की एक विकास प्रक्रिया है। संस्कृति की आधार भूमि पर विचार करने पर भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह सच है संस्कृति सामाजिक संस्कार के अतिरिक्त वैयक्तिक संस्कार के द्वारा उसे समाज से अलग आध्यात्मिक विकास की ओर भी ले जाती है, लेकिन संस्कृति की आत्मा को लक्ष्य करके ही व्यक्ति के संस्कार में रमती है। संस्कृति सामाजिक संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

समाजोन्मुखी संस्कृति के इसी स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए स्वामी रामतीर्थ के इन विचारों को देखा जा सकता है “तुम समाज के साथ ही ऊपर उठ सकते हो और समाज के साथ ही तुम्हें नीचे गिरना होगा। यह तो नितान्त असम्भव है कि कोई व्यक्ति अपूर्ण समाज से पूर्ण बन सके। क्या हाथ अपने आप को शरीर से पृथक् रखकर बलशाली बन सकता है कदापि नहीं।³ प्रसिद्ध विचारक रस्किन ने भी सामाजिक संस्कृति के उपादेयता पर बल देते हुए कहा है “वही समाज सदा सुखी रह सकता है जिसने नैतिक गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया।”⁴

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजोन्मुखी संस्कृति ही संस्कृति का एक मूलभूत सामाजिक ढाँचा है और व्यक्ति समाज की एक इकाई है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है और वह समाज का एक अंग भी है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास समाज निरपेक्ष भी कर सकता है, जैसे आध्यात्मिक साधना के साधक का विकास। आध्यात्मिक साधन के सदर्भ में साधक अपनी मूल

1 संस्कृति और समाजशास्त्र (भाग-1), डॉ० रागेय राघव, श्री गोविन्द शर्मा, संस्करण 1961, पृ० 5

2 द्रष्टव्य वही पृ० 5

3 उत्तरी भारत के सांस्कृतिक विकास में सतों का योगदान, नैपाल सिंह, पृ० 27

4 द्रष्टव्य, वही पृ० 28

प्रवृत्तियों को सुसस्कृत करते हुए अपनी चेतना का विकास करता है जो उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों तक सीमित रहता है लेकिन वही संस्कार जब समाज के संदर्भ में स्वस्थ समाज की संरचना से जुड़ जाते हैं, समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। समाज के ढांचे पर संस्कृति का महल सुशोभित होता है, जो समाज की वर्तमान सभ्यता साधना और उपलब्धियों के साथ-साथ उसके गत-जीवन की भौतिक और भावनात्मक उपलब्धियों का प्रतिफल होता है।

यद्यपि संस्कृति व्यक्ति द्वारा अर्जित की जाती है, किन्तु वह व्यक्ति समाज का अंग बनकर, समाज द्वारा प्रदत्त तथा उसमें प्रचालित भौतिक तथा भावनात्मक उपलब्धियों को ग्रहण करता है। वह समाज में रह समाज के विकास के लिए इन साधनाओं, आकांक्षाओं और मान्यताओं को लेकर अग्रसर होता है। अतः संस्कृति एक मानव की धाती नहीं होती, अपितु उसमें सम्पूर्ण समाज की भौतिक सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक सभी प्रकार की उपलब्धियाँ, विचारधाराएँ, मान्यताएँ विश्वास और उद्देश्य निहित होते हैं। वह जाति विशेष की बात जीवन से ही नहीं, वर्तमान परिस्थितियों एवं भविष्य की आकांक्षाओं को भी अपने में समाहित रखती है।

1.3.3 समाजोन्मुखी संस्कृति की उद्भावना

समाज की उपज व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व है। सामाजिक भावना से सम्पन्न व्यक्ति समाज को निरन्तर सुसस्कृत करने का प्रयास करता रहता है।

मनुष्य बुद्धि से एक सृजनशील प्राणी है। उसकी सृजनात्मक बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होती है। मनुष्य की यह सृजनशीलता ही संस्कृति का मूल है। मानव अपने परिवेश को अपने अनुकूल बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। मानव-जीवन के संदर्भ में उसकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही संस्कृति है, और इसी से मानव अपने परिवेश को अपने अनुकूल करता है और आंतरिक जीवन के आधार पर अपना मानसिक व आत्मिक प्रसार करता है।

समाजोन्मुखी संस्कृति का सबंध समाज में व्याप्त उन सभी कार्यों से होता है। जो मानवता के विकास के लिए उचित हैं तथा मार्ग प्रशस्त करते हैं, प्रत्येक समाज का अपना एक प्राकृतिक परिवेश है, जिसके आधार पर उसके चिन्तन का विकास होता है। यह चिन्तन ही उसके जीवन विकास की धारा का रेखांकन करता है।

इस प्रकार मानव में सांस्कृतिक चेतना एक ऐसा तत्त्व है जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में घुल-मिल गयी है। इस संसार में ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कोई व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य न हो और उसका सांस्कृतिक स्तर न हो। मनुष्य पृथ्वी पर अन्य जीवा से पृथक् है, मनुष्य ही ऐसा है जो अन्य जीवों की भांति जैवी प्रेरणाओं का स्वविवेक से प्रतिरोध कर जीवन-यापन की पद्धति पर आत्म-नियंत्रण करता है। इसी आत्म नियंत्रण की पद्धति को संस्कार कहा जा सकता है। इन्हीं संस्कारों के बल पर समाज पाशाविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण या सयम रखता है।

अतः आत्म नियंत्रण की सांस्कृतिक चेतना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है, लेकिन यह विकास दृष्टि के साथ सामाजिक स्तर पर भी होता है। इसके लिए समाज और व्यक्ति का समन्वय आवश्यक है। प्रारम्भिक युग में व्यक्ति प्रायः एक तरह सोच करते थे। उस सोच में वैयक्तिक विकास की ही दिशा अधिक मुख्य होती थी। लेकिन ज्यों-ज्यों व्यक्ति-व्यक्ति के सम्पर्क में आगे गया, उसकी सांस्कृतिक सोच समाजोन्मुखी होने लगी, परिणाम स्वरूप समाज में अपने व्यक्तित्व को समाहित कर देने में ही उसे अपना कल्याण दिखायी देने लगा, यहाँ आकर ही संस्कृति ने समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

समाजोन्मुखी संस्कृति का उद्भव जीवन संघर्ष और समायोजन के बीच हुआ है। यह कोई पहले से तैयार माल की तरह नहीं, बल्कि जीवन जीने की स्थिति में भोगे हुए उन विशद अनुभवों की संरचना है, जो उसे त्याग परोपकार, पर पीड़ा और सुरक्षा की भावना के साथ होती है। समाजोन्मुखी संस्कृति ने कई सामाजिक भाव और आपसी बन्धन ही विकसित नहीं किये, बल्कि कई विधि निषेधों का भी विधान किया। संस्कृति का यही स्वरूप समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास की दिशा का निर्धारक है। उदाहरण के लिए नैतिकता संस्कृति की आंतरिक शक्ति है यह आत्मिक संस्कृति का विकास करती है। लेकिन नैतिकता एक प्रकार की सामाजिक चेतना जो मनुष्य को सद्कर्म के लिये प्रेरित करती है और उसे कर्तव्य के प्रति जागरूक बनाती है।

1.3.4 समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप

समाजोन्मुखी संस्कृति एक अन्तर्निहित जीवन गुणता है जो बहुत गहरे भाव मानव स्वभाव में समाहित है। यह एक प्रकार की खेती है। यह खेती है भावों और विचारों की आचार और व्यवहारों

की, मूल्यों और जीवन दर्शन की। यह अनुभूति और अनुभव दोनों हैं। यह जन की सोच समझ और अभिरुचि का ही संकेत नहीं देती वरन् सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना से भी परिचित कराती है। वह एक ऐसा कारक है, जो समाज को परस्पर जोड़ता है। वह जगत को उस रूप में प्रतिबिम्बित करता है, जिस रूप में समाज ने उसकी अवधारणा की होती है। संस्कृति समाज के क्रम-विकास से जुड़ी है। समाजोन्मुखी संस्कृति मानवीय क्रियाकलाप का उत्पाद भी है और उसकी उपलब्धियों की अभिव्यक्ति भी। वह मानव-विकास की प्रक्रिया में प्रकट एक विशेष प्रकार का क्रिया कल्प है जो उसकी अन्तर्निहित क्षमताओं, प्रकृति और परिवेश के साथ उसके संबंधों, समाज और मूल्यों के प्रति उसकी जागरूकता को संकेतित करता है।

इस प्रकार समाजोन्मुखी संस्कृति की परिधि में किसी भी समाज के विभिन्न अंग परिवार, समूह, वर्ग, वर्ण जीवन सदर्भ, शासन-व्यवस्था सामाजिक अन्त क्रियाएँ, उसमें व्याप्त विभिन्न आध्यात्मिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि उपयोगितावादी तथा मनोरजनात्मक संस्थाएँ और उनमें व्याप्त आपसी द्वन्द्वों एवं अन्तर्विरोधों की विविधता बहुलता आ जाती है। अतः किसी भी रचना या साहित्य में समाजोन्मुखी संस्कृति के स्वरूप के अनुशीलन के लिए हमें समाजोन्मुखी संस्कृति के इन्हीं आयामों का रेखांकन करना होगा।

1.4 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के विविध आयाम

1.4.1 सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था परक आयाम

सामाजिक संरचना का मूल आधार तथा समाजोन्मुखी संस्कृति की प्रधान आधारभूत संस्था परिवार है जिसकी संरचना विवाह के माध्यम से होती है, मानव-जीवन के आरम्भ में अवश्य ही विवाह नाम की कोई संस्था नहीं थी, बाद में समाज के सन्दर्भ में सांस्कृतिक चेतना के विकास के साथ ही विवाह की आवश्यकता पड़ी। विवाह परिवार चेतना का जनक है। परिवार सामान्यता मनुष्य के विशेष प्रकार के भावात्मक सम्बन्ध का केन्द्र माना गया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध सतान की वृद्धि, उसका पोषण और रक्षण इसके महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। परिवार की संस्था का महत्त्व उस समय और बढ़ जाता है, जब स्त्री और पुरुष में आत्मीयता, पत्नी और पति होने के कारण नहीं बल्कि पिता और माता होने के कारण होती है। इस अवस्था में अनेक संबंधों के परिणामस्वरूप जो शिशु उत्पन्न होता

है वह उनके बीच की कड़ी होता है। शिशु के रक्षण और पोषण में स्त्री और पुरुष एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। मानव माता-पिता पर सतान उत्पन्न करने की बड़ी जिम्मेदारी होती है। प्रकृति ने उनमें स्वाभाविक रूप से यह शक्ति रखी है, जिससे वे अपना अधिक से अधिक विकास कर सकें। इस परिवार संरचना के माध्यम से ही सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था की सांस्कृतिक दिशाएँ खुलती हैं। जिनको संक्षेप में इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है –

- | | | | |
|---|---------------------|---|-------------------------------|
| 1 | पारिवारिक संरचना | 2 | सामाजिक व्यवस्था – वर्ग, वर्ण |
| 3 | जीवन व्यवस्था | 4 | खान-पान |
| 5 | वेष-भूषा | 6 | मनोरंजन |
| 7 | यातायात के साधन आदि | | |

1.4.2 आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम

समाजोन्मुखी संस्कृति की दूसरी दिशा उसकी आर्थिक व्यवस्था होती है। कोई समाज आर्थिक दृष्टिकोण से उन्नत होते हुए भी यदि उसे सांस्कृतिक आधार नहीं दे पाता है, तो उस समाज में सुख, शान्ति और समरसता की परिकल्पना नहीं की जा सकती। आर्थिक व्यवस्था सभी के हितों और समाज के विकास को आधार बनाकर विकसित की जाती है, तो उस समाज का सांस्कृतिक विकास जीवन को सुन्दरतम बनाते हुए आगे बढ़ता है।

समाजोन्मुखी संस्कृति के आर्थिक व्यवस्थापरक आयामों का दिग्दर्शन उस समाज के व्यवसायों के स्वरूप पर दिखायी देता है। व्यवसाय विकास समाज के सांस्कृतिक विकास का परिचायक होता। उससे समाज परिष्कृत अभिरुचि, सौन्दर्य बोध और जीवन यापन के स्तर का बोध होता है। अतः समाजोन्मुखी संस्कृति के अनुशीलन के लिए हमें किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था को देखना होता है।

आर्थिक व्यवस्था का एक अंग संपत्ति का अधिकार भी है। सामाजिक आदर्शों के विवेचन में किसी में संपत्ति को वैयक्तिक माना गया है और उसकी रक्षा पर जोर दिया गया है, तो दूसरे में इसे सामाजिक कहा गया है और व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में इसकी निन्दा की गई है। संपत्ति एक व्यापक शब्द है, इसमें जमीन, मुद्रा, पशु, बैक और सरकारी खजाने के कागज पत्र सभी आते हैं।

सम्पत्ति वस्तुओं के समूह का नाम है। वास्तव में संपत्ति का सबंध अधिकार से है। प्राचीन काल से सम्पत्ति का महत्त्व चला आ रहा है। पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तु के अनुसार “एक अच्छे जीवन के लिये जितनी संपत्ति की आवश्यकता है, वह असीमित नहीं। व्यक्तिगत संपत्ति आपत्तिजनक नहीं है, किन्तु इसकी सीमा होनी चाहिये।”

1.4.3 राजनीतिक व्यवस्थापरक आयाम

राजनैतिक व्यवस्था का मुख्य आधार सरकार होती है। राज्य की इच्छाओं की अभिव्यक्ति इसी संस्था द्वारा होती है। परन्तु इस संस्था का रूप विभिन्न समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास के आधार पर होता है। राजनीतिक तंत्र समाज की जागरूक चेतना के आधार पर विकसित होता है। किसी भी समाज का ज्यो-ज्यो समाजोन्मुखी संस्कृति का विकास होता है, उसकी राजनीतिक व्यवस्था समाजवाद की ओर उन्मुख होने लगती है। चाहे वह गणतंत्र हो अथवा एक का सांस्कृतिक चेतना के विकास के साथ उसमें सर्व जन हिताय की भावना का विकास होता है। इसी बिन्दु के आधार पर हम किसी भी साहित्य में समाजोन्मुखी संस्कृति के स्वरूप की रेखाएँ खींच सकते हैं।

1.4.4 धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम

समाजोन्मुखी संस्कृति का एक प्रमुख अंग धर्म भी होता है। प्रत्येक धर्म की अपनी क्रियाएँ होती हैं, उसके विश्वास सिद्धान्त दूसरे धर्मों से नहीं मिलते। मनुष्य का मस्तिष्क इतना प्रगतिशील रहा है कि विभिन्न उपकरणों को लेकर उसने उन्हें धर्म की सजा दे दी। मुसलमानों का आराधना केन्द्र मस्जिद है, हिन्दू मन्दिरों में जाते हैं। मानव ने अपने धर्म की विशिष्ट परम्पराओं को स्वयं ही खोज निकाला है। आदिवासी धर्मों में प्रकृति का गहरा प्रभाव है। वे टॉटेम की पूजा करते हैं। जिसमें प्रकृति के विभिन्न अंगों की साकार तथा कल्पनाशील रूपरेखा में पूजा की जाती है। आदिवासी समाजों में धर्म की परम्पराएँ और रूढ़ियाँ जटिल होती हैं, परन्तु वहाँ पर धर्माधिकारी का कठोर नियन्त्रण होता है। जादू, टोने, भूत पिशाच, वैताल पर विश्वास करना इन आदिवासी धर्मों का मुख्य अंग बन गया है। इस प्रकार विश्व में धर्मों में विभिन्नता पायी जाती है। अतः उनके कार्य-कलाप भी भिन्न होते हैं।

145 भारतीय संस्कृति की सामाजिक आधारभूमि

भारतीय संस्कृति को अध्यात्म प्रधान संस्कृति की सज़ा दी गई है। लेकिन अध्यात्म के शिखर पर खड़े होकर भी यह सामाजिक जीवन दृष्टि की सांस्कृतिक आधार-भूमि का निर्माण करती है। जैसा कि हम पहले भी सकेत कर चुके हैं कि भारतीय चिन्तन में सभ्यता की अवधारणा संस्कृति की सामाजिक आधारभूमि पर ही खड़ी हुई है।

मानव जीवन की स्वाभाविक आकांक्षाओं एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच किसी स्थायी कलह को नहीं स्वीकार किया गया है।¹ इस समन्वयमुखी दृष्टिकोण को उसने संक्षेप में पुरुषार्थ चतुष्टय को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के द्वारा प्रकट किया है, जिसमें मानव-जीवन की जो सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत की गई है। उसके अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन है। जो जीवन रूपी वृक्ष की सुसंस्कृत अर्थवत्ता को स्पष्ट करते हैं।

146 भारतीय धर्म, अर्थ एवं काम भावना और समाजोन्मुखी संस्कृति

भारतीय संस्कृति में यदि धर्म की अवधारणा को लिया जाए तो यह समाजोन्मुखी संस्कृति का मुख्य आधार है। धारयति इति धर्म के आधार पर सृष्टि के चर, अचर के साथ सबंधों की धारणा उसका निर्वाह ही धर्म है। धर्म हमारी सामाजिक व्यवस्था को एक भावनात्मक आधार देता है। जिसके आधार पर ढाचा बनता है। धर्म के पश्चात् जीवन की अर्थ और कामपरक दिशाएँ आती हैं।

भारतीय चतुराश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाश्रम जिसे सभी आश्रम धर्मों का आधार मनुस्मृति में स्वीकार किया गया है।² विशेषकर उसमें ही अर्थ तथा काम के सेवन की परिस्थिति आती है। गृहस्थाश्रम में स्थित व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत तथा पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु धनोपार्जन एक अनिवार्य कर्तव्य सा हो जाता है जिसके साथ ही काम-वासना की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी सामान्य व्यक्ति में होती ही है। किन्तु यदि मनुष्य धन का उपार्जन समाज के सदस्यों के हित-अहित की परवाह किये बिना ही आरम्भ कर दे तो यह निश्चित है कि इसके परिणामस्वरूप

1 Dr B L Atreya The spirit of indian culture, Ed 1952, p 33

2 द्रष्टव्य - मनुस्मृति षष्ठोऽध्याय श्लोक क्रमांक 89 तथा 90

हित-स्वार्थों के कारण पारस्परिक सघर्ष आरम्भ हो जायेगे, जैसे कि आज के युग में वर्ग सघर्ष के दृश्य प्रायः दिखायी पड़ते हैं। यही अवस्था काम के सेवन की भी है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार काम वासनाओं के वशीभूत होकर जीवन बिताना पशु प्रवृत्ति है, परन्तु आत्मसंयम द्वारा मनुष्य उस प्रवृत्ति से उठ सकता है।¹

आज का मानव सामान्यतः दुःखी, चिन्ताग्रस्त, असंतुष्ट तथा निराशावादी बन चुका है, जिससे धनोपार्जन तथा वासनात्मक सुखोभोग के लिये अपनी समस्त शक्ति का अपव्यय करने के अतिरिक्त के जीवन के किसी उच्चतर लक्ष्य का ज्ञान ही नहीं हो पाता।² अध्यात्म साधना से सम्बन्धित जीवन के स्थायी तथा निस्सीम सुख की ओर व्यक्ति को उन्मुख करके भारतीय संस्कृति ने एक दृष्टिकोण से भौतिक दुःख के मूल कारणों का मनोवैज्ञानिक निराकरण सा प्रस्तुत कर दिया है, जिसके साथ ही नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों के समुचित विकास का अवसर भी उसने प्रदान किया है। उसमें व्यक्ति के जीवन की जो उद्देश्यपूर्ण योजना प्रस्तुत की गई है, उसमें अर्थ तथा काम की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के क्रमशः परिष्कार की ओर ध्यान देते हुए जीवन की निश्चित अवधि तक उनका संयमित सेवन, धर्म अथवा कर्तव्य के अधिष्ठान द्वारा ही विधेय ठहराया गया है। तात्पर्य यह है कि अर्थ तथा काम की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निषेध न करके उसके क्षेत्र में एक आदर्श की प्रतिष्ठा करती है, जिसके अनुसार व्यक्ति उचित उपायों का सहारा लेकर ही अर्थोपार्जन तथा योग्य एवं कृती सन्तान को जन्म देने के लिए ही कामवृत्ति का सेवन करके एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करने का मार्गदर्शन प्राप्त करता है। ईशावास्योपनिषद् में भौतिक सुख साधनों के मूलाधार अर्थ लिप्सा को संयमित रखने के लिए त्याग द्वारा उनके भोग का जो आदेश दिया गया है।³ उससे भी उपर्युक्त दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट है कि धर्म पर आधृत अर्थ और काम की वृत्तियों पर नियंत्रण अथवा संयम ही नहीं किया जाता अपितु उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण उत्कृष्टता का भी विकास हो जाता है। जीवन के व्यवहारिक स्वरूप पर पूर्णतया विचार करते हुए भारतीय संस्कृति ने यह जो जीवन-पद्धति प्रतिष्ठित की है उसके कारण अनेक नैतिक मूल्यों का अपने आप

1 डॉ० सम्पूर्णानन्द समाजवाद अध्याय 4 पृ० 38 शीर्षक – कुछ उत्तर

2 Dr B L Atreya The spirit of indian culture Ed 1952, p 34 Heading – The four ends of life

3 कल्याण उपनिषद् अथ ईशावास्योपनिषद् श्लोक 1

विकास हो जाता है। डॉ० अज्ञेय के अनुसार 'अनियंत्रित जीवन में सम्भाव्य दुष्प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके भारतीय ऋषियों ने यह महत्त्वपूर्ण खोज की कि उत्तम जीवन के सम्यक् संचालन के धन का एकत्रीकरण तथा सुखोपभोग सत्य, न्याय, सच्चरित्रता, हृदय की शुद्धता, करुणा, सहानुभूति, सामाजिक उत्कर्ष तथा आत्मसम्यग् इत्यादि के नैतिक नियमों द्वारा पथ प्रदर्शन करते हुए नियंत्रित रखा जाये।'¹

'गृहस्थाश्रम' का जीवन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का है। भावी सन्तानों का भविष्य उस पर निर्भर होने के साथ ही यह सामाजिक जीवन की पूर्व निर्दिष्ट मूलभूत प्रवृत्तियों के सम्यक् निर्वाह का काल भी है। अर्थोपार्जन में गृहस्थ को नैतिक सिद्धान्तों तथा निश्चित अनुशासन का पालन करना पड़ता है और इसका ध्यान रखते हुए वह इतनी संपत्ति का अर्जन कर लेता है, जिससे परिवार का भरण-पोषण करने के साथ-साथ देश तथा समाज के हित में भी उसका सदुपयोग कर सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन को भली-भाँति चलाने के साथ कामवृत्ति की समुचित तृप्ति के लिए गृहस्थाश्रम में एक ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य की योजना की गई है, जिसके द्वारा उत्तम सन्तान प्राप्ति के लिये उसका उपयोग करके व्यक्ति अपने महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है।²

मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन करने के लिए भारतीय दृष्टाओं ने मूलभूत मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित³ जिस जीवन पद्धति का विधान किया है⁴ उसे भारत के प्राचीन साहित्य में 'वर्ण व्यवस्था' की संज्ञा प्राप्त है और तदनुसार समाज को चार वर्गों में विभक्त करके प्रत्येक के कर्तव्य कर्मों का सम्यक् निर्देश किया गया है। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य कोई भी कार्य अथवा व्यवसाय करने को विवश है, जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी रुचि या योग्यतानुसार और कई बार उसके प्रतिकूल भी किसी न किसी साधन को अपनाने के लिए बाध्य हो जाता है। सर्वथा आत्मनिर्भर रहकर उक्त आवश्यकताओं की

1 द्रष्टव्य Dr B L Atreya The spirit of indian culture, Ed 1952, p 33. Heading - The four ends of life

2 डॉ० राधाकृष्णन् हिन्दुओं का जीवन दर्शन, अनु० कृष्णकिशोर सिंह, तीसरा व्याख्यान, पृ० 74 से 76, शीर्षक- हिन्दू धर्म

3 डॉ० राधाकृष्णन् हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, अनु० कृष्णकिशोर सिंह, पृ० 73, शीर्षक - हिन्दू धर्म

4 द्रष्टव्य B L Atreya The spirit of indian culture, p. 44-45. Heading - Hindu

पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती है। इसके कारणों तथा तज्जन्य परिणाम को प्रकाशित करने वाले, पाश्चात्य विचारक लिन्डसे (Lindse) के मतानुसार, “मनुष्य में पाई जाने वाली समान आवश्यकताओं की पूर्ति भिन्न क्षमताओं और योग्यताओं से ही होती है। अतः समाज की अवस्थिति श्रम के विभाजन पर ही आधारित है, जो कि मानव-प्रकृति की अभिव्यक्ति है, किसी कानूनी व्यवस्था का परिणाम नहीं है।”¹ उपर्युक्त द्विविध परिस्थितियों के कारण ससार के प्रायः सभी सभ्य देशों में अनेक व्यावसायिक वर्ग बन जाते हैं, जो कभी-कभी सामाजिक वर्गों का भी रूप धारण कर लेते हैं।

श्रम-विभाजन के अन्तर्गत केवल सामाजिक आवश्यकता तथा उसके लिए व्यक्ति की विवशता पर ही विचार किया गया है। आज से सहस्राब्दियों पूर्व भारतीय द्रष्टाओं ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को लक्ष्य कर लिया था कि रुचि, प्रकृति, योग्यता तथा कार्यक्षमता आदि के विचार से जब मनुष्यों में परस्पर भिन्नता है, तो उन्हें उनके गुण कर्मानुसार कार्य मिलने पर वे अपना निजी विकास अधिक सरलता से कर सकते तथा समाज के लिये भी अधिक उपयोगी हो सकते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि व्यक्ति की योग्यता तथा अभिरुचि के अनुसार कार्य मिलने पर उससे विपरीत स्थिति के मिले हुए कार्य की तुलना में वह अधिक सफल होगा तथा साथ ही ऐसे लोगों से निर्मित समाज भी अधिक सफल होगा तथा साथ ही ऐसे लोगों से निर्मित समाज भी अधिक उन्नत होगा। इस गुण धर्म के साथ सामाजिक आवश्यकतानुसार कार्यों के समुचित सतुलन का भी उसमें ध्यान रखने पर उपर्युक्त उन्नति में वृद्धि अवश्यभावी है।

स्मृतियों में समाजोन्मुखी संस्कृति की एक ऐसी व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया है, जिसके विकास से व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ समाज की उन्नति एक सुसंस्कृत आधार पर हो सके।

इस व्यवस्था के अनुसार पहले प्रकार के वे ज्ञानशक्ति प्रधान विचारशील लोग हैं, जो अपनी संपूर्ण शक्तियों को ज्ञान-विज्ञान की खोज में ही नहीं लगाते प्रत्युत अपना आदर्श जीवन के चरम लक्ष्य-मुक्ति के लिये आवश्यक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति को दृष्टि में रखते हुए प्रशस्त आचरण का विकास

करते जाते हैं।¹ अपनी अखंड साधना द्वारा वे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्रकाश में लाते तथा उन्हें निस्वार्थ भाव से समस्त समाज के लिए सुलभ बनाकर वे कल्याणकारी कार्य भी करते हैं। संक्षेप में, उसकी विशेषताएँ लोकमंगल के लिये ज्ञान देना, धन-कीर्ति आदि की भौतिक स्पृहाओं से दूर रहना, आत्मसयम, सरलता, तप, त्याग तथा पवित्रता आदि हैं।² इस प्रकार के अनेक दिव्य गुणों का विकास करते हुए व्यक्ति समाज में अपने जीवन उच्चादर्श तो प्रदान करता ही है, साथ ही सद विचारों का प्रचार करते हुए वह आवश्यकतानुसार लोक मत का परिचालन भी कर सकता है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सात्त्विकता तथा आध्यात्मिकता का आदर्श इन्हें सत्ता तथा अर्थ दोनों की लिप्साओं से स्वभावतः दूर रखता ही है, जिसके कारण भौतिक जगत की वासनायें उन्हें जीवनगत उच्च प्रवृत्तियों के विकास में बाधक नहीं हो पाती, तथापि सभावना की आशंका से उनके कर्तव्य कर्मों के अन्तर्गत भी इस बात पर बल दिया गया है।

भारतीय संस्कृति व्यवसाय अथवा पेशे के आधार पर ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं स्वीकार करती। अगाग्निभाव-सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण से चौथी उल्लेखनीय बात यह ध्वनित होती है कि समाज रूपी शरीर की पूर्णता के लिये अवयव रूप चारों वर्णों की स्थिति अनिवार्य है तथा वे सभी एक दूसरे के ऐसे पूरक हैं कि न तो कोई पूर्णतया आत्मनिर्भर है और न अन्यो के लिये परिहार्य ही। इन वर्णों से सम्बन्धी पूर्ववर्ती विवेचन से यह मूलभूत सम्बद्धता प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के विद्वेष अथवा वर्ग संघर्ष की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

भारतीय मनीषियों ने समस्त जीवन का नियमन ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तों के द्वारा किया था कि उसका प्रत्येक घटक अपने लिये उपयुक्त उपजीविका का साधन अथवा व्यवसाय निश्चित करता हुआ उनके संचालन की सुविधाएँ भी प्राप्त करता था, किन्तु यह सब करते हुए अपने हित-साधन के साथ-साथ जो उक्त व्यवस्था के कारण उससे अपने आप जो समाज सेवा भी हो जाती थी, वह उसमें आत्मसंतोष तथा हार्दिक प्रसन्नता अनुभव करता था, कि अपने लिए उपयुक्त कार्य को उसने

1 द्रष्टव्य – Dr Radhakrishnan Religion and society, Ed IIInd, p 122 to 129, Heading – Hindu social organisation

2 द्रष्टव्य – Dr B L Atreya The spirit of indian culture, Ed 1952, p 45, Heading – Hindu social organization

रीति से सपादित किया है। समाज व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मों के उपर्युक्त व्यक्ति दृष्टिगोचर होती है किन्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कर्म-सिद्धान्त इतने तक ही सीमित नहीं है, जिसे इस संस्कृति की निम्नलिखित विशेषता से प्रकट किया जा सकता है। अच्छे-बुरे कर्मों का परिणाम भौतिक-व्यवस्था के शासनगत न्याय द्वारा मिले अथवा न मिले, किन्तु आधिभौतिक या ईश्वरीय न्याय के अनुसार उनका फल निश्चित है और इस कारण उनमें नैतिकता न्याय के अनुसार उनका फल निश्चित है और इस कारण उनमें नैतिकता के आदर्शों की प्रतिष्ठा किसी भी प्रकार की बाह्य विवशता द्वारा नहीं, प्रत्युत पवित्र कर्तव्य के रूप में हुई है। डॉ० अत्रेय के अनुसार 'भारतीय मनीषा ने ही नहीं, अपितु अनेक पाश्चात्य विचारकों तक ने कर्म तथा पुर्नजन्म के सिद्धान्त को युक्ति संगत तथा अनेक दैनिक समस्याओं का समाधान-कारक उत्तर प्रस्तुत करने वाला स्वीकार किया है।'¹ इसके अतिरिक्त उपनिर्दिष्ट परमात्म तत्त्व की सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में व्याप्त भारतीय संस्कृति की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता को प्रकाशित करती है, और वह - प्राणीमात्र ही नहीं अपितु समस्त जड़ चेतन प्रकृति के प्रति एकात्मकता की भावना की अनुभूति।

आत्मा सम्बन्धी भारतीय धारणा समस्त जड़ चेतन प्रकृति के प्रति एकात्मकता की भावना का विकास करती है। जगत के नाना प्राणियों तथा पदार्थों में जो अन्तर दृष्टिगत होता है वह ऊपरी है। भीतर से सभी एक है और यह विचार उनके प्रति व्यक्ति के अन्तःकरण में एकात्मकता तथा भ्रातृभावना का विकास करता है।² इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि "मानव जाति में भ्रातृभाव की जो बात अन्यान्य देशों में सुन पड़ती है उसने भारत में समस्त चेतन सृष्टि में भ्रातृभाव का रूप धारण किया है जिसमें सभी प्राणी छोटी-छोटी चींटियों तक सभी जानवर शामिल हैं, ये सभी हमारे शरीर हैं। हमारा शास्त्र कहता है - "एव तु पडिते ज्ञात्वा सर्व भूतमय हरिम्" इत्यादि। इसी तरह पण्डित लोग उस प्रभु को सर्वभूत मय कहकर सब प्राणियों की ईश्वर

1 द्रष्टव्य - Dr B L Atreya The spirit of indian culture, Ed 1952, p 32. Heading - Incarnation and the law of Karma

2 क - Dr S Radhakrishnan The heart of hindustan, p. 9

ख - Swami Vivekananda Essentials of hinduism, p. 24

बुद्धि से उपासना करेंगे। यही कारण है कि भारतवर्ष में गरीबों जानवरों सभी प्राणियों और वस्तुओं के बारे में ऐसी करुणापूर्ण धारणाएँ घोषित की जाती हैं।¹

अतएव उस महान् सिद्धान्त के अनुसार हम मनुष्य मात्र को ही नहीं अपितु पशु-पक्षी एवं छोटे-छोटे प्राणियों तक को आत्मवत् मानने लग जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष में दीन-दुखियों तथा जीवनमात्र के लिये करुणा एवं सहानुभूति की भावना विकसित हुई है।

1.5 साहित्य और संस्कृति

संस्कृति, समाज तथा साहित्य का परस्पर सम्बन्ध अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से बड़ा घनिष्ठ और अन्योन्याश्रित होता है। साहित्य को लोकचित्त का प्रतिबिम्ब कहा जाता है। साहित्यकार के माध्यम से जन-चित्तवृत्ति साहित्य के फलक पर नाना रूप-रंगों में प्रतिफलित होती है। यह भी कहा जा सकता है कि कोई कृति अपने सर्जक की व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रतिरूप होती है और जन चित्तवृत्तियाँ भी उस व्यक्ति-सर्जन की वैयक्तिक चेतना-प्रणालिका में होकर जब तक नहीं गुजरती जब तक वो अभिव्यंजन के स्तर पर नहीं आ पाती। किन्तु इससे भी बड़ा यह सत्य है कि सर्जक स्वयं एक समष्टि का अविभाज्य अंग होता है, ऐसा अंग जिसे उस समष्टि के अतीत और वर्तमान ही नहीं, कारण कार्य की श्रृंखला में गुथा अनागत से भी अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिये साहित्य विशिष्ट अर्थों में समाज की अनुभूतियों, आशा-आकांक्षाओं, घात-प्रतिघातों, वेदनाओं और मूल्यों का मार्मिक विवरण होता है।

साहित्य अपने सर्जना युग से सर्वथा निरपेक्ष नहीं रह सकता। जब कोई साहित्यकार वर्तमान से आखे मीचकर अतीत के अथवा अनागत के किसी लोक में विचरण करने जाता है तो उसके इस विवरण के वैयक्तिक या सामाजिक स्तरीय मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं, और ऐसी स्थिति में विषय के प्रस्तुत पक्ष में न सही, अप्रस्तुत पक्ष में, अनुभूति के रूप में न सही, अभिव्यक्ति के रूप में, भाव के रूप में न सही, भाषा के रूप में – साहित्यकार का, वर्तमान साहित्यकार की रचना का अभिन्न अंग रहता ही है और वह 'वर्तमान थोड़े अंशों में व्यक्ति का वर्तमान होता है, अधिक अंशों में समष्टि

1. स्वामी विवेकानन्द – भारत में विवेकानन्द, पृष्ठ 34

का। अतः किसी साहित्य में से उसके वर्तमान को, उसमें निहित समाज को, अथवा उसमें निरन्तर प्रवाहमान किसी धारा के देशकाल – विशिष्ट अंग को पकड़ना एक विशिष्ट अध्ययन है।

इस प्रकार किसी युग विशेष की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और कलात्मक सांस्कृतिक सचेतना उस युग के साहित्य प्रतिमानों में सचरित होकर साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। साहित्य में चाहे लौकिक पक्ष का विवेचन हो चाहे आध्यात्मिक का, दोनों ही पक्षों में समाज के सांस्कृतिक विकास पर ही साहित्य चेतना केन्द्रित रहती है। इस प्रकार समाज, संस्कृति और साहित्य तीनों का एक श्रृंखलाबद्ध सम्बन्ध है। किसी भी युग की समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप उस युग के साहित्य में सुरक्षित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्येक कवि अथवा युग का साहित्य तत्कालीन मानव-भावों, विचारों और आकांक्षाओं का ही प्रकटीकरण है। यह अभिव्यक्ति की भावना व्यक्ति में शैशव-काल से ही देखी जा सकती है। इस कथन को डॉ० मनमोहन शर्मा के इन शब्दों के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है – “मनुष्य मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अपने भावों तथा विचारों द्वारा दूसरों पर प्रकट करने एवं स्वयं को भी अतीव उत्सुकता के साथ दूसरों के भावों एवं विचारों को सुनने और समझने के द्वारा मानवी-भाषा का सामान्य रूप का प्रथम उदय हुआ है। मानव सृष्टि रचना के विविध वैचित्र्य का प्रदर्शन काल्पनिक जगत में डूबा हुआ अपनी भाव भंगिमाओं में करता ही रहता था। यह स्थिति वाणी की सशक्त शक्ति के आ जाने के पूर्वतर रही थी। नवजात शिशु से लेकर दो-तीन वर्ष तक के बालक में जो अवस्था रहती है। वर्षों तक वैसी ही स्थिति मानव की रही थी। शनैः शनैः वाणी और अर्थ की भाषा का प्रसार जैसे ही हुआ, उसके सामने वैसे ही धर्म की भाषा भी बाह उठाये खड़ी हुई। बहुत दिनों तक मानव ने उस भाषा में स्तुति की, गान गाये एवं विविध मनौतियाँ मनाई।”¹

साहित्य शब्द से भाव अर्थ में ‘ष्यज्’ प्रत्यय के योग से इस शब्द की व्युत्पत्ति हुई, जिसका अभिप्राय ‘साथ होना’ मिलन का एक भाव प्रकट करना और ‘सहभाव’ होना है। सहभाव अथवा सम्मिलन किस वस्तु का? मनुष्य-मनुष्य का, वर्तमान-वर्तमान का, भाव-भाव का, भाषा-भाषा का ग्रन्थ-ग्रन्थ का तथा अतीत-अतीत का, दूर और निकट का। जहाँ विश्व की किसी भी चमत्कारिक

1 भारतीय संस्कृति और साहित्य – डॉ० मनमोहनलाल शर्मा, पृ० 243

वाङ्मय में लिपिबद्ध होकर जीवन और सौन्दर्य की व्याख्या हो, आलोक इसी को 'साहित्य' की सज़ा देते हैं। जीवन की व्याख्या का अर्थबोध भावोन्मेष एवं विचारात्मक और चमत्कारपूर्ण अनुरजन समीक्षा होती है। यदि अर्थ बोध का अर्थ किसी बात की जानकारी मात्र कराना है, तो वह साहित्य नहीं रहेगा। एक साहित्यिक की दृष्टि में साहित्य शब्द किसी एक विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करता है, जिसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वह अर्थ किसी एक विशिष्ट वर्ग या श्रेणी से सम्बन्धित हो। जिस शब्द को हम साहित्य की सज़ा देने जा रहे हैं, वह तो मानव मात्र की रुचि को टटोलता है, जिसमें आनन्दप्रद एवं कलात्मक भावनाएँ इस भाँति सजाकर रखी गई हो, कि जिस पर दृष्टि-निक्षेप कर लेने पर साधारणीकरण का रूप उपस्थित हो जाये। ऐसा ही साहित्य मानव मात्र के जीवन को सरस, सुखी तथा सुन्दर बनाता है।

संक्षेप में इस रूप में भी हम इसको स्वीकार कर सकते हैं कि बाहरी ससार में जो कुछ बनता है बिगड़ता है, उस पर मनन कर मानव हृदय अपने विचारों और भावनाओं द्वारा जो कुछ रचना कर बैठता है वह ही तो 'साहित्य' की सज़ा धारण कर लेता है।

इस प्रकार साहित्य अपने आप में एक कठिन साधना है। यह रचनाकार को आत्मिक सुख देने के साथ-साथ पाठक वर्ग के हित-साधन का उद्देश्य भी लिये होता है। संक्षेप में कहा जाये तो साहित्य जीवन की विविधता की ऐसी समग्र अभिव्यक्ति है, जिसमें व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों का समावेश तो होता ही है, साथ ही जो व्यक्ति के बोध को उन्नत करने में प्रेरक भी बनती है और जिससे व्यक्ति के जीवन को सार्थक दिशा उपलब्ध होती है तथा जीवन मूल्यों का महत्त्व ज्ञात होता है। साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने परिवेश को केवल प्रतिबिम्बित ही नहीं करता बल्कि उसे परिवर्तित भी करता है। साहित्य में ऐसे स्थल भी मिलते रहे हैं जो तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों, विश्वासों और रीतिरिवाजों का सच्चा चित्र उपस्थित करते हैं।

साहित्य में समाजोन्मुखी संस्कृति की झाँकी जिस रूप में हमारे सामने आती है। उसका प्रस्तुतीकरण निम्न रूपों में किया जा सकता है —

- | | |
|---------------------------|-------------------------------|
| 1 प्रकृति वर्ग | 2 मानवेतर वर्ग |
| 3 काल्पनिक वर्ग | 4 मानव वर्ग |
| 5 कलाएँ | 6 पर्वोत्सव |
| 7 मनोविनोद सम्बन्धी उपकरण | 8 परम्परागत प्रचलित मान्यताएँ |

साहित्य में समाजोन्मुखी संस्कृति के उपर्युक्त वर्गों का समाहार सीधे-सीधे नहीं होता। साहित्यकार साहित्य के प्रतिमानों के माध्यम से इन वर्गों को साहित्य का अंग बनाते हुए सांस्कृतिक सचेतना का संचार करता है। साहित्य की समीक्षा या शोधपरक अध्ययन दोनों ही उस सांस्कृतिक चेतना के उद्घाटन की अपेक्षा करते हैं। आगे अलग अध्याय में हम जायसी के काव्य में इसी सांस्कृतिक सचेतना के उद्घाटन का प्रयास करेंगे।

द्वितीय अध्याय

मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक मूल्यांकन

1. मध्यकाल का काल निर्धारण और अवधारणा
2. मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक धरातल
3. मध्यकालीन समाज का स्वरूप
4. मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक मूल्यांकन

मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक मूल्यांकन

2.1 मध्यकाल का काल निर्धारण और अवधारणा

आजकल की सर्वमान्य प्रणाली के अनुसार भारत के इतिहास को प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक युग में विभक्त किया जाता है। भारतीय इतिहास में काल-विभाजन का क्रम विशिष्ट राजसत्ताओं एवं राजवंशों से सम्बद्ध है। मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व काल को इतिहासकारों ने प्राचीन काल ठहराया है तथा ब्रिटिश शासन की स्थापना के उत्तर काल को आधुनिक काल की सजा दी है। इन दोनों के बीच का युग मुस्लिम प्रभुत्व का काल मध्यकाल कहा जाता है।¹ डॉ० द्विवेदी इस प्रकार के विभाजन को पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित मानते हैं। उनके कथनानुसार “वस्तुतः यह शब्द अंग्रेजी के ‘मिडिल ऐज’ के अनुकरण पर बना लिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी विचारकों ने साधारणतः सन् 476 ईसवी से लेकर 1553 ईसवी तक के काल को मध्ययुग कहा है।²

भारतीय इतिहासकारों में कुछ ने छठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काल को ‘मध्यकाल’ माना है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी ‘मध्यकालीन भारतीय सस्कृति’ को 600 ई० से 1200 ई० तक सीमित रखा है। सच तो यह है कि इस ‘महामानव समुद्र’ के निवासियों के जीवन में एक मौलिक एकता अनस्यूत रही है। यद्यपि वे विभिन्न नस्लों के सम्मिश्रण से बने हैं फिर भी तथाकथित प्राचीन युग के अन्त तक उन्होंने अपनी चारित्रिक एकता तथा वैयक्तिक विशेषता को खो दिया। उस समय से ही हमारे जीवन में एक नई प्रक्रिया का जन्म हुआ, जो अब तक सम्पूर्ण रूप से बनी हुई है।

हर्ष की मृत्यु (647 ई०) को युग परिवर्तनकारिणी घटना कहा जा सकता है, क्योंकि यही से इतिहास एक नया मोड़ लेता है। इसके पूर्व भारतवर्ष पूर्ण रूप से हिन्दू बना रहा। आर्य, द्रविड, शक, हूण, मगोल, पुक्कस आदि झुण्ड के झुण्ड इस देश में आये किन्तु उस समय भारतीय सस्कृति की पावन शक्ति इतनी तीव्र थी कि उसने आगत विजातियों को उनकी समस्त विशेषताओं समेत स्वीकार कर आत्मसात कर लिया। अभी तक जितनी भी बाह्य जातियाँ आई थी, वे अपनी सांस्कृतिक संपन्नता

1 पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास – डॉ० अवध बिहारी पाण्डेय, पृ० 3

2 मध्यकालीन धर्म साधना – डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 10, संस्करण 1956

मे दरिद्र थी। “अब तक कोई ऐसा मजहब उसके द्वार पर नहीं आया था जिसको हज्म करने की शक्ति वह नहीं रखता।”¹ इस प्रकार वह युग एक प्रकार से सांस्कृतिक सकट का युग कहा जा सकता है। द्विवेदी जी ने इस युग में एक खास प्रकार की ‘पतनमुख और जब दी हुई’ मनोवृत्ति का होना स्वीकार किया है।²

इस प्रकार पॉचवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक के समय को मध्यकाल कहना कुछ रूढ़ हो गया है। मध्यकाल का उपर्युक्त काल, काल-निर्धारण ऐतिहासिक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में इस मध्यकाल की सीमा अपेक्षाकृत और भी सीमित हो जाती है। यहाँ उसी दृष्टि से हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का निर्धारण अपेक्षित है। यो तो ऐतिहासिक मध्ययुगीन परिस्थितियाँ भी बहुत अशों तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को प्रभावित करती चलती हैं।

बारहवी शताब्दी में ही लगभग समस्त उत्तर भारत पर मुस्लिम विजेताओं का स्वत्व स्थापित हो चुका था तथा पुनः केन्द्रीय सत्ता भारत व्यापी अधिकार-विस्तार के प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे। मुगल साम्राज्य शाही का प्रथम कठोर सैनिक शासन एवं पुनः शिष्ट प्रशासन व्यवस्था अनेक राजनीतिक सघर्षों और उत्थान-पतन के साथ सत्रहवीं शताब्दी तक चलती रही, किन्तु भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल ही विलक्षण रूप से उस नवीन चेतना और सांस्कृतिक नव-निर्माण का काल है जिसमें भक्ति-आन्दोलन ने समस्त उत्तर भारत की आध्यात्मिक एकता, सामाजिक भावना और जीवन की सोददेश्यता को नये मूल्य प्रदान किये थे। आगे चलकर जब चेतना की लहर मन्द पड़ गई तथा भावना रूढ़िगत और जड़ होने लगी तब निर्माण की शक्तियाँ क्षीण हो गयीं। “वस्तुतः शताब्दी के उत्तर मध्य से ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर मध्ययुग का क्रम प्रारम्भ हो गया जो अठारहवी शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया।”³

1 कबीर, पाचवा परिवर्धित – डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 171

2 मध्यकालीन धर्म साधना – डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 10

3 आलोचना (पत्रिका) अंक 10, पृ० 7

परिस्थितियों के आन्तरिक सगठन एवं सांस्कृतिक चेतना से ही युग-विशेष में एक विशिष्ट साधना का प्रादुर्भाव होता है, अन्य कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती, जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में प्राक्काल में न हो चुका है। आलोच्यकाल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

2.2 मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक धरातल

भारतीय समाज के सांस्कृतिक विकास में मध्यकाल भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का बहुत ही उथल-पुथल और परिवर्तन का काल है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्यकाल के सांस्कृतिक धरातल पर विस्तार से विचार करते हुए कहा है — “इस समय देश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गई थी और पश्चिम सीमात से मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। आक्रमण होना कोई नई बात नहीं थी, इसके पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके थे। परन्तु वे आक्रमण अधिकतर सैनिक और राजनीतिक आक्रमण थे। परन्तु इस बार का आक्रमण एक विशिष्ट धर्मगत और सांस्कृतिक का भी आक्रमण था। इस बार के आक्रमणकारी एक सगठित धर्म या मजहब के अनुयायी थे। मजहब और सगठित धर्मसंस्था भारत के लिए अपरिचित ही थी। इस धर्ममत में एक ईश्वर को माना जाता है, एक आचरण का पालन किया जाता है और ये लोग जब किसी नस्ल, कबीले या जाति के व्यक्ति को एक बार अपने सगठित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। यह धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरे से गूँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। किसी जाति का कोई व्यक्ति दूसरे में नहीं जा सकता था। परन्तु मजहब ठीक इससे उल्टा है, वह व्यक्ति को अपने समूह का अंग बना देता है और अंगीकृत होने के बाद व्यक्ति की जाति हमेशा के लिए गायब हो जाती है। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखते हुए व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती थी, जबकि इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूहगत उपासना का प्रचारक था। एक का केन्द्र-बिन्दु चरित्र था, दूसरे का धर्म मत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था, कि विश्वास चाहे जो भी हो, चरित्र शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो। मुसलमानी समाज के साधारण लोगों का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्मगत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेने वाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी होता है, और जो इस धर्ममत को नहीं मानता है वह अनन्त नरक

मे जाने के लिए बाध्य है। इस्लाम ने भारत के समस्त कूफ़ को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर इस देश में पदार्पण किया।¹

भारतीय समाज में इस्लाम के प्रवेश के साथ भक्ति आन्दोलन की लहर उठी, जिसकी प्रतिष्ठाया तत्कालीन हिन्दी भक्ति साहित्य में देखी जा सकती है। आचार्य शुक्ल ने इस भक्ति आन्दोलन को अपनी दृष्टि से देखा था। आचार्य द्विवेदी ने इस दृष्टि को नकारते हुए इसे मध्यकाल की सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया का एक अंग माना। उन्होंने आचार्य शुक्ल से असहमति व्यक्त करते हुए कहा है – “कुछ विद्वानों ने इस भक्ति-आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है यह ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत सकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल-वाहिनी खड़ी हो गई, क्योंकि जाति के कठोर शिकजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्तिवाद से इस अवस्था को सभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि की प्रतिष्ठा की। चौदहवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य की मूल प्रेरणा भक्ति ही रही। इसके पूर्ववर्ती साहित्य में यह वस्तु नहीं है, इसलिये उसमें न तो किसी प्रकार का स्पंदन दिखाई देता है, और न वक्तव्य वस्तु की कोई ताजगी। चौदहवीं शताब्दी के बाद का हिन्दी साहित्य अत्यन्त सवेदनशील प्राणधारा से उद्वेलित है और महान् आदर्शों से अनुप्राणित है, रोगमुक्त मनुष्य की भाँति उसमें स्वास्थ्य जन्य क्षुधा और नैरुज्यजन्य स्फूर्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ से हिन्दी साहित्य नए मोड़ पर खड़ा हो जाता है और यद्यपि वह पुरानी परम्परा से एकदम विच्युत नहीं हो जाता, तथापि उसमें रूप और शोभा के प्रति रूग्ण आकर्षण का अभाव है। रूप और शोभा में वह दैवी ज्योति देख सकता है, और अपने पाठकों को ऊँचे धरातल पर बैठाकर तलदेश की गदगी से दूर रख सकता है। इस साहित्य में कृत्रिमता का अभाव है, और सहज- सरल मानव-जीवन के प्रति आस्था है।”²

1 हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 64

2 हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 66

आचार्य द्विवेदी जी द्वारा विश्लेषित साहित्य चेतना मध्यकाल के सांस्कृतिक धरातल को समझने के लिए एक दिशा संकेत देती है।

मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना का धरातल किसी एकाएक होने वाली घटना का परिणाम नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि में भारत के अतीत की सांस्कृतिक विरासत की एक लम्बी श्रृंखला है जिसमें वैदिक और अवैदिक दोनों ही चिन्तन-धाराओं की अमृत चेतना विद्यमान है। अतः मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक स्वरूप को समझने के लिये हमें इस सांस्कृतिक श्रृंखला और इसकी चेतना को समझना होगा।

2.2.1 वैदिक संस्कृति और तज्जन्य भावना

वैदिक संस्कृति की चेतना अध्यात्मशास्त्र का चरम विकास माना जाता है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त और इस विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग अनेक उपनिषदों में भी पाया जाता है।¹ श्रुति के रहस्यभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने के कारण 'उपनिषद्' के लिये ही वेदान्त का प्रयोग होता है। कालान्तर में उपनिषदों के सिद्धान्तों में आपाततः प्रतीयमान विरोधों के परिहार तथा तथ्यों की एकवाक्यता के निमित्त बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' का निर्माण किया, जो उपनिषन्मूलक होने के कारण 'वेदान्त सूत्र' के नाम से भी अभिहित होता है। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का सार प्रस्तुत करती है। ये तीनों ग्रंथ – उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता-प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रस्थानत्रयी द्वारा प्रतिपादित जीवन दृष्टि की वैदिक संस्कृति की चेतना और तज्जन्य भावना कही जा सकती है।

वैदिक संस्कृतिजन्य भावना का सामाजिक विकास हमें पुराणों में दिखायी देता है। पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय मन और बुद्धि से अगम्य देश में रख दिया था पुराणों ने उसे सर्वसाधारण इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है। वेदों के सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतितपावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है – ब्रह्म सब प्रकार के नाम रूप तथा भावों से

1 वेदान्ते परम गुह्यम् (श्वेता-उप 6/22) वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ (मुण्डक 3/2/6)

परे है। पुराण कहते हैं – भगवान् सर्वनामी, सर्वरूपी तथा सर्वभावमय है। वेद कहते हैं – एकं सुद्विप्रा बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं – एक सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। विभिन्न रूपों और नामों में, विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर जगत् में रमने वाले भगवान की ललित लीलाओं का प्रदर्शन पुराणों का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को मानवता के भीतर भगवत्ता की अनुभूति को जागृत कर सनातन धर्म को लोकप्रिय धर्म बनाने में नितान्त स्तुत्य कार्य किया है।

पुराण सगुण उपासना का प्रतिपादक है। फलतः भावमयी मूर्तियों के तथा विशाल कलात्मक मन्दिरों के निर्माण की ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट हुआ है। मध्ययुगीन मन्दिर कला के अनुशीलन की प्रचुर सामग्री पुराणों में बिखरी पड़ी है। नाना प्रकार के समाजोपयोगी पुण्य-कर्म, कुआ या तालाब खोदवाना, धर्मशाला बनवाना, भगवान के मन्दिर का निर्माण, पूजा का विधि-विधान आदि नाना कार्यों का (जिसके लिये 'पूर्त' शब्द का व्यवहार किया जाता है) विधान भी इस धर्म के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार पुराणों के माध्यम से वैदिक संस्कृति अध्यात्म चेतना सामाजिक जीवन व्यवहार का विषय बन गई। आध्यात्मिक जीवन का प्रभामंडल लोकजीवन को आलौकिक करने लगा। वैदिक संस्कृति की समाजोन्मुखी चेतना को गृहस्थाश्रम के रूप में परिवार चेतना और नारी पुरुष संबंधों के रूप में देखा जा सकता है।

2.2.1.1 वैदिक संस्कृति जन्य भावना और नारी-पुरुष सम्बन्ध

वैदिक संस्कृति जन्य भावना, प्रमुख अवदान इस समाजोन्मुखी संस्कृति की मूल आधारशिला के रूप में गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा है। गृहस्थाश्रम की सांस्कृतिक संस्था विवाह ने जीवन को एक सृजनशील सांस्कृतिक दिशा दी। जिससे समाज चेतना में रचनाशीलता के साथ स्थायित्व और यौन सम्बन्धों को एक व्यवस्थित आधार मिला।

गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रतिष्ठा का हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम के ऊपर ही आश्रित तथा अवलंबित हैं। अर्जुन ने इस आश्रम की स्तुति में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया।

गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदण्ड है वही हमारे समाज की रीढ़ है, जो समाज के शरीर को उन्नत तथा स्वस्थ बनाये रखती है। मनु के भी एतद्विषयक सिद्धांत महाभारत के इन मौलिक तथ्यों से नीति भिन्न है –

‘गृहस्थेभ्यापि निर्मुक्ता गृहस्थानेव सश्रिता ।

प्रभव च प्रतिष्ठा च दान्ता विदन्त आस्नेत ॥’¹

महाभारत काल में विवाह संस्था अपने पूर्ण गौरव तथा उच्च आदर्श के साथ एक प्रतिष्ठित संस्था हो गई थी। उसकी मर्यादा का तथा आदर्श का पूर्ण निरूपण कर दिया गया था, जिससे स्खलित होना नितान्त निन्दनीय तथा गर्हित माना जाता था। उस युग में प्रौढ़ विवाह का सिद्धान्त मान्य था अर्थात् विवाह के समय कन्या प्रौढ़ होना बिल्कुल आवश्यक था। इसका पता उस युग के विवाह वय की परीक्षा करने से भली भाँति लगता है। स्वयंवर के समय में द्रौपदी का वर्णन प्रौढ़ कन्या के रूप में किया गया है। अर्जुन के द्वारा हरण के समय सुभद्रा पूर्ण युवती थी। उत्तरा का विवाह प्रौढ़ अवस्था में किया गया था, क्योंकि विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उसके उदर से परीक्षित का जन्म हुआ था। एक अन्य प्रमाण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। अनेक धर्मशास्त्रीय निबन्धों में उद्धृत किया गया यह महाभारतीय श्लोक भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस युग में प्रौढ़ वय प्राप्त होने पर कन्या का विवाह होता था। यह महत्त्वपूर्ण पद्य है – “त्रिंशद् वर्षो वहेत् कन्या हृद्या षोडशवार्षिकीम्” जिसमें तीस वर्ष के वर का सोलह साल वाली कन्या के साथ विवाह करने का स्पष्ट आदेश है।

एक सुसंस्कृत सामाजिक जीवन की संरचना के लिए पति और पत्नी दोनों का अपने आदर्श पर दृढ़ रहने की शिक्षा महाभारत देता है। एक पति ही पत्नी का आदर्श है, जिसके जीवित रहने या मर जाने पर वह किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त नहीं कर सकती

“एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवपरायणम् ।

मृते जीवति वा तस्मिन् नापर प्राप्नुयान्नरम् ॥”²

1 शांति पर्व, 11/23-24

2 आदि पर्व – अ 104

इसी प्रकार पति का एक पत्नीव्रत आदर्श है, एक ही पत्नी का धारण। यदि वह उसका परित्याग कर किसी दूसरी स्त्री के पास जाता है, तो वह ससार में महापातकी होता है -

“भार्या तथा व्युच्चरत कौमारब्रह्मचारिणीम्।

पतिव्रतमेतदेव भविता पातक भुवि।”¹

सच तो यह है कि कुटुम्ब रूपी ‘वृत्त’ को दोनो अर्धवृत्त मिलकर पूरा करते हैं - पतिव्रता नारी और पत्नीव्रती पुरुष आदर्श समाज के लिये दोनो ही पोषक तत्व हैं। परन्तु दुःख है कि हिन्दु समाज ने पहले अश पर जितना ध्यान दिया, उतना दूसरे अश पर नहीं। धर्मशास्त्र का किसी पर पक्षपात नहीं। उसने तो दोनो के लिए एक समान मान्य तथा उपयुक्त नियम बनाया है, परन्तु बहुतो को पता नहीं कि स्त्री के समान पुरुष को भी व्यभिचार का पातक लगता है और समाज के लिए व्यभिचारी पुरुष उतना ही हेय है, जितनी व्यभिचारिणी नारी। समाज को उच्छृंखल बनाने का दोष स्वैरी पुरुष पर ही अधिक है। इसलिये तो छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति की यह महत्त्वपूर्ण उक्ति है -

“न स्वैरी स्वैरिणी कुतः, यदि स्वैरी स्वेच्छाचारी पुरुषः, नही तो स्वैरिणी कहाँ?”

गृहस्थाश्रम के परिवेश में नारी-पुरुष सम्बन्ध ही नहीं सामाजिक जीवन के अन्य आयामों की सांस्कृतिक सचेतना का व्यक्त रूप हमें वैदिक साहित्य और उस पर आधारित संस्कृत साहित्य में दिखाई देता है। समाजोन्मुखी संस्कृति की यह भावना मध्यकालीन समाज के लिए एक सांस्कृतिक धरातल विरासत में लिए खड़ी थी। मध्यकाल में वैष्णव भक्ति आन्दोलन के माध्यम से युगानुरूप परिवर्तित संस्करण के रूप में भारतीय समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना वैष्णव धर्मसाधना के रूप में अपना एक व्यापक सामाजिक आधार लेकर प्रस्तुत हुई।

2.2.2 वैष्णव संस्कृति और तज्जन्य सांस्कृतिक भावना

वैष्णव धर्म के अनेक नामों में ‘भगवत’ नाम परम प्रसिद्ध और आख्येय है। भागवत धर्म वैदिक और अवैदिक ब्राह्मणेतर आर्य और निषाद संस्कृतियों का सुन्दर सुखद सगम है। 9वीं शताब्दी के अनन्तर सत्रहवीं शताब्दी तक के विकास के साथ उनके साहित्य का मूल स्वर भक्ति रहा। इस

साहित्य की अपनी एक विशेषता यह है कि परम्परागत भारतीय साधना से अविच्छिन्न रहते हुए भक्ति का समाजोन्मुखी बनाता है। जिसकी अपनी एक सांस्कृतिक चेतना है। यह साहित्य 'जन-साहित्य' और इसके मूल तत्त्व हैं — प्रेम तथा श्रृंगार। इस साहित्य के मूल तत्त्व ही भागवत संस्कृति की अपनी विशिष्टता है।

समाज और साहित्य में धर्म का विकास मनोविज्ञान के आधार पर हुआ है। मध्यकाल में जब कठोर से कठोरता बन्धनों को अपनाने वाला धर्म अपने स्वाभाविक गुण प्रेम और सौन्दर्य से दूर होने लगा, तब वह प्रेम और श्रृंगार की खोज में भटकने लगा।

भागवत संस्कृति ने मानव-मन की इस स्थिति को पहचान कर उसे सात्त्विक प्रेम की ओर मोड़ने का प्रयास किया। रसिकेश्वर कृष्ण को प्रेम का आश्रय बनाकर भागवत संस्कृति ने प्रेम का उदात्तीकरण करते हुए सात्त्विक संस्कृति ने आध्यात्मिक चेतना के बिम्बों को लौकिक जीवन में उतारकर आध्यात्मिक चेतना से संचरित समाजोन्मुखी संस्कृति का विकास किया, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

भारतीय साहित्य में मानवीय मूल्यों से अनुप्राणित सर्वांगीण सांस्कृतिक चेतना का मूल कारण यही वैष्णव या भागवत संस्कृति ही है। भारतवर्ष की सांस्कृतिक चेतना मूलतः कर्म पर आधारित है। यहाँ धर्म के नाम पर अनेक पाखण्डों का प्रचार भी हुआ है। वास्तव में धर्म का एकमात्र प्रतिमान मानवीय वृत्तियों का परिष्कार और समाज का उन्नयन है। इसी लक्षण को आधार बनाकर वैष्णव संस्कृति का विकास हुआ है। यही कारण है कि अनेक विदेशियों ने इस धर्म की सांस्कृतिक चेतना के आधार पर इसे स्वीकार कर गौरव और गर्व का अनुभव किया। हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकस, आभीर, यवन, खस आदि जातियों के पुरुष भी इस संस्कृति के साथ एक मेल हो गये। धर्म की समाजोन्मुखी वैष्णव संस्कृति की चेतना ही श्रीमद् भागवत में व्यंजित है —

“किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द पुलकसा ।

आभीर कका यवना खसादय ।।

येडन्येत्र पापा यदुपाश्रयाश्रया ।

शुध्यन्ति तस्यै प्रभविष्णवे नम ।।”¹

मध्यकाल में वृन्दावन के अनेक सम्प्रदायों के रूप में वैष्णव सस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ। वृन्दावन के वैष्णव आन्दोलन पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय¹ का कहना है – “इसमें हिन्दी के भक्ति साहित्य सरोवर को प्रेमामृत से लबालब भर दिया। कृष्ण भक्ति का प्रचार भक्ति आन्दोलन के युग में वैष्णव सस्कृति का प्रधान अंग रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 15वीं शताब्दी के पश्चात् यह भक्ति आन्दोलन जन-आन्दोलन के रूप में सारे भारतवर्ष में फैल गया था भारत वर्ष की प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य की अभिवृद्धि इस आन्दोलन के द्वारा हुई।

वैष्णव सम्प्रदायों की मूल चेतना को समझते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्प्रदायों और हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त वैष्णव सस्कृति ने भक्ति के रागात्मक और सामाजिक पक्ष को विशेष बल दिया है। इससे प्रपत्ति अर्थात् शरणागति और समर्पण की भावना को विशेष बल मिला। भक्ति की इन प्रवृत्तियों ने मानव मन का शोधन कर उसे समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न किया है। वैष्णव सस्कृति का यह प्रभाव मध्यकाल में अन्य अनेक सम्प्रदायों में भी किसी न किसी रूप में संचरित हुआ है, जिनसे उनकी साहित्य चेतना और सांस्कृतिक चेतना का निर्माण हुआ है।

इस युग में प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन केवल धर्म-प्रचार, समाज-सुधार अथवा कोरे तत्त्ववाद तक ही सीमित न होकर जीवन के सभी क्षेत्रों को अनुप्राणित करता है, जिस पर विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा। यहाँ संक्षेप में उल्लेख देना पर्याप्त होगा कि उसके प्रवर्तन ने बलात् धर्म-परिवर्तन को विवश की जाती हुई भारतीय जनता अमर आश्वासन प्रदान किया था तथा उसने उस युग की सामाजिक विषमता को भी दूर करने के लिये डॉ० राधाकमल मुखर्जी के शब्दों में “धार्मिक तर्कवाद नहीं प्रामाणिक अन्तर्दृष्टि को अपनाया।”²

भारतीय धर्मसाधना एवं उसके विविध सांस्कृतिक मूलतत्त्व एक निश्चित मूलस्रोत से प्रवाहित होकर युगानुरूप परिवर्तनों के साथ विकसित होते रहे हैं। यहाँ की धर्म साधना के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उसका केवल दार्शनिक पक्ष ही नहीं है, प्रत्युत डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के

1 भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन – डॉ० बलदेव उपाध्याय

2 भारतीय समाज विन्यास – डॉ० राधाकमल मुखर्जी, पृ० 69

अनुसार 'वह सामाजिक समस्याओं एवं उद्देश्यों का व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत करता है।¹ डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार – 'धर्म के इन द्विविध पक्षों के कारण उसमें ऐसा अद्भुत सामर्थ्य आ गया है जिसके कारण वह सभी प्रकार के सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के बीच स्थित रहकर भारतीय जीवन का पथ प्रशस्त करता रहा है और परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करके सनातन सार्वकालिक धर्म के रूप में स्थित रहा है।²

षट्दशवीं शती के पूर्ववर्ती दक्षिण के आचार्यों ने डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार आलवारों की भक्ति पद्धति को शास्त्र सम्मत रूप प्रदान किया था, जिसका उत्तर भारत में प्रचार व प्रसार करने के महत्कार्य का सूत्रपात उन्हीं की परम्परा से उत्पन्न होने वाले स्वामी रामानन्द ने किया है।³

भारतीय ही नहीं अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने स्वामी रामानन्द के इस युग प्रवर्तक महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। आग्ल मनीषी एफ० ई० के (F.E. Keay) ने उन्हें उत्तर भारत का सबसे बड़ा धार्मिक नेता, भक्ति आन्दोलन का जनक एवं उत्प्रेरक तथा समवर्ती काल के अनेक मत-पथों का प्रेरणा-स्रोत माना है।⁴ फारक्यूहर महोदय ने उन्हें "हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप को विकसित करने वाले धर्म प्रवर्तकों की श्रेणी में भक्ति आन्दोलन के वास्तविक नेता के रूप में घोषित किया था।⁵ Will Durant भारतीय चिन्ताधारा के क्षेत्र में उनके व्यापक प्रभाव के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भारत के सभी प्रान्तों-उपप्रान्तों तक पहुँच चुका था। विविध धर्म साधनाओं ने उनके व्यक्तित्व के प्रकाश में स्वमत का साधन किया था।⁶

रामानन्द के साथ और भी अन्य अनेक ऐसे आचार्य और भक्त साधक हैं जिन्होंने मध्यकालीन धर्मसाधना के रूप में समाजोन्मुखी संस्कृति का धरातल निर्मित किया था। इनमें वल्लभाचार्य और महाप्रभु चैतन्यदेव का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के विद्वान प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के शब्दों में 'उनके (चैतन्यदेव) प्रेम विह्वल चरित्र ने भक्ति की

1 Dr S N Dasgupta - Hindu mysticism, p 9

2 Dr Radhakrishnan - Religion and society - Lecture III, p 115

3 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी – शीर्षक – भक्तों की परम्परा, पृ० 46

4 F E Keay - A history of hindi literature, p 21

5 J N Farquhar - An outline of religious literature of India, p 323

6 Will Durant - North Indian saints p 17

जिस स्रोतवाहिनी को बहाया, उससे न केवल बग और कलिंग की भूमि सिंचित हुई, अपितु ब्रजमण्डल भी आप्लावित हो गया।¹

विल डूरेण्ट (Will Durantt) के मतानुसार मध्यकालीन भारत में उदित हुए अनेक सम्प्रदायों के बीच महाप्रभु वल्लभाचार्य के व्यक्तित्व तथा शिक्षाओं ने भारत तथा बाहर के जन जीवन को जितना अधिक आकृष्ट किया है, उतना किसी अन्य ने नहीं किया।² उन्होंने चैतन्य की भांति किसी मत विशेष की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त अपनी पूजा-पद्धति एवं भजन-कीर्तनों द्वारा जन-समाज के निकट पहुँचने का मार्ग अपनाया। उनके जीवन का जो संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवरण डॉ० दीनदयालु गुप्त ने प्रस्तुत किया है उससे प्रकट होता है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर किस प्रकार समाज के प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपनी विचारधारा की ओर मोड़कर कृष्णभक्ति के प्रचार-प्रसार का सगठित प्रयास किया था।³

2.2.3 वेद विरोधी आन्दोलन और तज्जन्य भावना

हिन्दू समाज में वेद-विरोधी आन्दोलन इस्लाम के उदय से, कम से कम एक हजार वर्ष पहले ही छिड़ चुका था और बहुत से लोग वेद, ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठानों में विश्वास खो चुके थे। वैदिक सांस्कृतिक चेतना से कुछ सांस्कृतिक आयामों को लेकर विभिन्न चिन्तन धाराएँ अस्तित्व में आयीं। इन चिन्तन धाराओं में जैन-धर्म, बौद्ध धर्म, तान्त्रिक साधना और इस्लाम को लिया जा सकता है। मध्यकाल का सांस्कृतिक धरातल इन सांस्कृतिक चेतनाओं से अनुप्राणित रहा है। मध्यकाल के सांस्कृतिक धरातल को समझने के लिये हमें इन सांस्कृतिक धाराओं के कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को समझना होगा।

2.2.3.1 जैन धर्म : वैचारिक विमर्श

वेद विहित कर्म प्रधान संस्कृति के समानान्तर निवृत्तिमार्गी श्रमण संस्कृति की धारा प्रवाहित होती रही है। मध्ययुगीन जैन पुराणों में इसकी पर्याप्त चर्चा है। श्रमण संस्कृति की आधारशिला

1 प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी – ब्रज का इतिहास – शीर्षक चैतन्य सम्प्रदाय, पृ० 38

2 Will Durantt - North indian saints, p 81

3 डॉ० दीनदयालु गुप्त – अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग-1, शीर्षक – वल्लभाचार्य जी और उनका सम्प्रदाय, पृ० 71-73

अहिंसा, तपस्या, योग-चार्य आदि धार्मिक आधार है। इस संस्कृति का प्राचीनतम सन्देशवाहक जैन धर्म तथा जैन दर्शन है। जैन धर्म की ज्ञान मीमांसा और तत्त्व मीमांसा ने सामाजिक संदर्भों को समझने के लिए एक बहु आयामी दृष्टि प्रदान की। उनके अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। सन्दर्भ विशेष में देखने की दृष्टि ने सांस्कृतिक धारा को ऐसी दिशा दी, जिससे एक विकासशील सांस्कृतिक चेतना का धरातल मध्यकालीन समाज के सामने आया।

मनुष्य के स्वरूप ज्ञान के लिये उसके देश, काल, जाति, धर्म, वर्ण, समाज आदि का ही ज्ञान अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत उन निषेधात्मक धर्मों का भी ज्ञान आवश्यक है जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से पृथक् किया करते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वपर्याय तथा परपर्याय का समुच्चय मात्र होती है।

मध्यकालीन सांस्कृतिक धरातल प्रत्यक्ष रूप से भले ही जैन दर्शन के इस तात्त्विक चिन्तन से प्रभावित न हुआ हो, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उसने निश्चित रूप से मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित किया है। यह चेतना हमें सूफियों की बहुआयामी चिन्तनधारा में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

जैन संस्कृति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आचार मीमांसा' है। सम्यक् चरित्र जैन धर्म के त्रिरत्नों में प्रमुख है। सम्यक् चरित्र की आराधना से ही मानव क्लेशों से तथा अशोभन कर्मों से नितान्त पार्थक्य प्राप्त कर लेता है। 'केवली' इस धर्म का अन्तिम पर्यवसान है। श्रावक तथा यति की दैनन्दिनी चर्या का विधान बड़े विस्तार के साथ धर्मग्रन्थों में किया गया है तथा उनका पालन भी उतने ही आग्रह तथा श्रद्धा के साथ आज भी आवश्यक समझा जाता है। पार्श्वनाथ ने पहले चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का उपदेश किया था। चौबीसवे तीर्थंकर महावीर ने इनके साथ ब्रह्मचर्य की जोड़ दिया। जैन धर्म में ये ही पंच महाव्रत कहलाते हैं। 'अहिंसा' तो जैनाचार का प्राण है तथा अन्य सदाचार के नियम उसी को केन्द्रित कर जागरूक होते हैं। जैन संस्कृति में धर्म, आचार तथा नैतिक जीवन के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा है।

2.2.4 जैन संस्कृति और तज्जन्य भावना

जैन संस्कृति की भावना समाज और साहित्य के माध्यम से मध्यकालीन समाज के लिये एक धरातल प्रदान करती है। जैन कवियों ने 'रासा' नामक काव्यों की सृष्टि की है, जिनमें तीर्थंकरों तथा

तत्कालीन अन्य मान्य सन्तों का आध्यात्मिक जीवन—चरित बड़े ही उत्साह से जनता को शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया है।

श्री अम्बदेव कृत 'सघपति समरा रास' भी इस कोटि के चरित काव्य का नमूना है। जैन कवियों की कविता में आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है, जिसमें शान्त रस का पूर्ण वैभव उपलब्ध होता है। जैन कवियों ने स्वतन्त्र काव्यों का प्रणयन कर जैन तत्त्वों को कविता के रोचक माध्यम के द्वारा मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना के पोषण में एक श्लाघनीय प्रयत्न किया है। हृदय को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने के लिये सरस तथा सुबोध काव्यों का निर्माण किया है।¹

2.2 5 बौद्ध संस्कृति और तज्जन्य भावना

वैदिक सांस्कृतिक चेतना के विरोध में बौद्ध संस्कृति का नाम भी लिया जाता है। इस धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध ससार की एक दिव्य विभूति थे तथा अपने युग की परिस्थिति के अनुरूप उन्होंने जिस धर्म का चक्रप्रवर्तन किया वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगलमय है कि उसकी शीतल छाया जीवन को कल्याणमय बनाने के लिये मानव—जीवन को कृतकृत्यता को दिशा प्रदान करते हैं। इसके दो रूप इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं — शुद्ध धार्मिक रूप जिसमें आध्यात्मिक ग्रन्थियों को बिना खोले हुए जीवन निर्वाह तथा व्यवहार के निमित्त आचार का सरल प्रतिपादन है तथा दार्शनिक रूप, जिसमें प्रकाण्ड बौद्ध पंडितों ने बुद्ध के आचार प्रधान उपदेशों की आध्यात्मिक व्याख्या कर शुद्ध तर्क के बल पर तत्त्वों का गम्भीर अन्वेषण किया है।

2 2 5 1 आचार मीमांसा

बौद्ध धर्म मूलतः आचार प्रधान धर्म है। मानव—समाज के शिथिल तथा विश्रुखल आचरण को सुधारना तथा व्यवहार और अध्यात्मिक उभय—दृष्टियों से स्वस्थ तथा जागरूक समाज का निर्माण करना बौद्ध व्यक्ति दोनों रूपों का यही भौतिक ध्येय तथा लक्ष्य था। तथागत ने विषय सक्ति के एक अन्त तथा विषय प्रहाण के दूसरे अन्त को नितान्त दुष्ट बतलाकर दोनों के बीच में प्रवाहित होने वाले मार्ग मध्यम मार्ग को ही मानवों का कल्याण साधक बतलाया है। बौद्ध धर्म के 'मध्यममार्ग' का रहस्य

1 जैन कवियों की हिन्दी कविता के लिये द्रष्टव्य — नाथूराम प्रेमी जै०सा०इ०, 1937, कामताप्रसाद जैन हिन्दी जैन साहित्य।

इसी गम्भीर तत्त्व पर आश्रित है। गौतम ने एक ओर विशाल साम्राज्य अटूट वैभव तथा वैयक्तिक सौख्य को लात मारी तथा दूसरी ओर घोर तपस्या, शारीरिक क्लेशदायक साधना को तिलाजलि दी तथा दोनों के मध्यस्थ मार्ग का उपदेश अपने उदात्त प्रवचनों के द्वारा किया। बुद्ध के द्वारा उन्मीलित तत्त्व सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव (जीविका), सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि तथागत शिक्षा की अष्टपदी है। इन आठों तथा संक्षेप में आचारमार्गी सूत्र में किया गया है। इस दशा का नाम युगल रूप है। इसी सहज दशा जिसके निर्वाण, महासुख, सुखराज साक्षात्कार आदि अनेक अन्वर्थक अभिधान हैं। मन के स्वभावतः लय हो जाने से इस दशा का सहजिया सकेत है उन्मनी भाव। इस समय साधक अपने निजस्व-भाव अर्थात् अपने सच्चे रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही है आनन्द का अगाध वारिधि जो प्रत्येक साधक के लिये अन्तर्वर्ती होने से 'सहज' नाम से सकेतित होता है।

2 2 5 2 मध्यकालीन समाज और बौद्ध संस्कृतिजन्य भावना

वज्रयान का उद्भव तथा विकास, उदय तथा अभ्युदय हिन्दी के उदय का समकालीन माना जाता है और इसीलिये हिन्दी की प्राचीनतम कविता की भव्य झोंकी हमें सिद्धों के दोहे तथा रीतिकाव्यों में पूर्ण रूप से मिलती है। चौरासी सिद्धों की लम्बी परम्परा अष्टम् शतक से आरम्भ कर द्वादश शतक तक फैली हुई है।

बौद्ध आचार और दार्शनिक मीमांसा में जिस सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं मध्यकालीन संस्कृति उसकी दिशा को अपने धरातल के साथ जोड़कर चलती है। मध्यकालीन समाज और साहित्य में काम और अध्यात्म का जो मनोरम संयोग दिखाई देता है, बौद्ध साधना की संस्कृति में निहित भावना उसकी पृष्ठभूमि में रही है। सूफी साहित्य की चेतना के निर्माण में उसका अपना योगदान है। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। बुद्ध के द्वारा उन्मीलित तत्त्वों का संक्षेप आचारमार्गी सूत्र में किया गया है —

सब्ब पापस्स अकरण कुसलस्य उपसम्पदा।

सच्चित्तं परियोदपन्नं एव बुद्धान् सासनं ॥'

‘समस्त पापों का न करना, पुण्य का संचय तथा अपने चित्त की परिशुद्धि (पर्यवदापन) बुद्ध का यही अनुशासन है।’¹ यह अनुशासन मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना का भी एक अंग रहा है। हीनयान का नैरात्म्यवाद का सिद्धान्त चैतन्य सत्ता को देखने की जो दिशा प्रदान करता है। उससे मध्यकालीन विचारकों को मानस प्रवृत्तियों को देखने की दृष्टि मिलती है। बौद्ध-दर्शन में पंच स्कन्धों के अन्तर्गत रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान की गणना है। ‘रूप’ से तात्पर्य पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु रूप च भूत तथा तज्जन्य शरीर से है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को ‘रूप’ किसी वस्तु के साक्षात्कार को ‘सज्ञा’ तज्जन्य सुख-दुःख तथा उदासीनता के भाव को वेदना, अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारण भूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को ‘संस्कार’ तथा चैतन्य को ‘विज्ञान’ के नाम से पुकारते हैं।

बौद्ध धर्म के इस चिन्तन ने मध्यकाल में सांस्कृतिक चेतना का ऐसा धरातल प्रस्तुत किया, जिसने आध्यात्मिक चिन्तन को एक मनोवैज्ञानिक आधार और समाजोन्मुखी स्वरूप प्रदान किया।

बौद्ध संस्कृति का एक रूप व्रज्यानी साधना है। वज्र, दृढ़, सार कभी शीर्ण न होने वाला, अच्छेद्य अमेद्य अदाही तथा अविनाशी होने के कारण ही शून्यता का प्रतीक माना गया है।² यह शून्य निरात्मा है, देवी रूप है। ‘शून्यता’ तथा ‘करुणा’ का व्रज्यानी प्रतीक ‘प्रज्ञा’ तथा ‘उपाय’ अथवा पदम तथा वज्र माना जाता है। जिनके युगल मिलन की कल्पना शैवों के शिवशक्ति के मिलन के समान ही की गई है। सूर्य और चंद्र को यदि पुरुष तथा प्रकृति मान ले तो हम कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आलिग्न बिना मध्यमार्ग का उद्घाटन होता ही नहीं। इडा और पिंगला का समीकरण करने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। जब षट् चक्र का भेदन कर आज्ञा चक्र के ऊपर साधक की स्थिति होती है, तब कुण्डलिनी शैव शैव ऊपर चढ़कर सहसार चक्र में स्थित परम शिव के साथ आलिग्न में बद्ध हो जाती है। बौद्ध चिन्तन की यह व्रज्यानी चेतना नारी तत्त्व को समझने की एक दृष्टि प्रदान करती है। इस सांस्कृतिक चेतना ने मध्यकाल में नारी की अस्मिता को एक नई चेतना के रूप में विकसित करने के लिये अवकाश प्रदान किया। पुरुष की नारी के प्रति कामुक दृष्टि को एक तत्त्व बोध से मुक्त दृष्टि देकर नारी की सजृनशीलता को समझने का एक व्यावहारिक धरातल दिया।

1 भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन – पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 33

2 व्रजशेखर अद्वयवज्र संग्रह, पृ० 23

2.2.6 नाथ सम्प्रदाय की सांस्कृतिक चेतना

मध्यकालीन विचारधारा पर नाथ सस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय का विकास सिद्धो की वीभत्स तामसिक पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में सदाचरण को आधार बनाकर हुआ था। इस सम्प्रदाय में कार्य की साधना और मानसिक साधना दोनों का समन्वय किया गया है। नाथ सस्कृति जाति, वर्ण, व्यवस्था के विरोध में एक विशिष्ट चेतना को लेकर सामने आयी। सामाजिक सन्दर्भ में नाथ सम्प्रदाय पर विचार करते हुए 'डॉ० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय का कथन है "उस युग में उत्तरी भारत का हिन्दू जन समाज दो वर्गों में बटा हुआ था। पहला वर्ग वह है जिसका नियन्त्रण ब्राह्मण व्यवस्था तथा स्मृत्यादिक धर्म ग्रन्थों के अनुसार होता था। इस वर्ग के लोग अपने जीवन का नियमन और यापन इन धर्म शास्त्रों के अनुसार करते थे। दूसरा वर्ग वह था जो इन ग्रन्थों और इनके विधानों की चिन्ता नहीं करता था तथा "अकाल संन्यास" भी जिनके यहाँ विहित था यह दूसरा वर्ग मोक्ष साधन के लिये मानव जीवन का नियमन करने वाली वर्णाश्रम व्यवस्था को उपयुक्त नहीं समझता था, न स्वीकार ही करता है उसे धर्म शास्त्रों का आश्रम क्रम भी मान्य नहीं था।"¹ नाथ पथ के रूप में विकसित सांस्कृतिक संचेतना गृहस्थों में भी इसी रूप में संचरित थी और वह भोग में योग को आधार देकर लौकिक जीवन उदात्तीकरण का विकास कर रही थी। नाथ पंथी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—'नाथ मत को मानने वाले संन्यासी भी हैं, और गृहस्थ भी। नाथ योगी की जो प्रायः संन्यासी होता है तथा प्रायः मठों में या एकान्त में रहता है, भली भौति दीक्षा होती है, वह मेखला, श्रगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बांधबर, झोला आदि चिन्ह धारण करता है। किन्तु गृहस्थ योगी के लिये यह सब धारण करना आवश्यक नहीं है। नाथ मत में दीक्षा, संन्यासी और गृहस्थ दोनों की होती है। दीक्षित होने के बाद ही व्यक्ति सन्यस्त योगी रहने का या गृहस्थ योगी रहने का निश्चय करता है।"²

मध्यकालीन धर्मसाधना में नाथ पथ ने जिस सस्कृति का विकास किया, वह विरक्त और सामाजिक जीवन दोनों को आधार बनाकर चला है। इसका प्रभाव मध्यकालीन भक्ति साधना और साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मध्यकालीन भारत के आध्यात्मिक जीवन में हमारे

1 गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ० 20

2 गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ० 34

आलोच्यकाल तथा उसके पूर्व से ही नाथपथी योगियों की एक बहुत बड़ी संख्या समस्त देश में फैली हुई थी। सूफी सत उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत नाथपथी योगियों के उल्लेख जायसी और मझन आदि सूफी कवियों के अतिरिक्त 'नारायण दास' के 'छिताई चरित' तथा 'आलम' कृत 'माधवानल कामकदला' में भी मिलते हैं। इन चारों ही प्रेमाख्यानों के प्रेमी नायक, नायिका की प्राप्ति के लिये योगी का जो वेश धारण करते हैं वह इसी साधना से सम्बन्ध रखता है। सूफियों पर पड़ने वाले इस साधना के प्रभाव के परिणाम स्वरूप उनकी कथावस्तु के अन्तर्गत गोरखपथी कल्पना को तो स्थान मिला ही है, साथ ही नाथ सम्प्रदाय में व्यजित आध्यात्मिक, सांस्कृतिक सचेतना की समाजोन्मुखी संस्कृति से जोड़ने की प्रेरणा भी मिलती है।

2.2.7 तान्त्रिक संस्कृति और तज्जन्य सांस्कृतिक भावना

भारत की सांस्कृतिक धारा प्राचीन काल से ही मध्ययुग तक तान्त्रिक या आगमिक संस्कृति से निरन्तर प्रभावित रही है। जायसी और उनके काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि के रूप में तान्त्रिक संस्कृति की अपनी भूमिका है। आगमिक संस्कृति के विकास क्रम में अनेक सम्प्रदायों में प्रतीक पूजा का चेतना रहित प्राधान्य होने से समाजोन्मुखी संस्कृति की दृष्टि से यह सांस्कृतिक चेतना से विमुख हो गयी। 9वीं 10वीं शताब्दी में आगमिक संस्कृति का विकास आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हुआ। इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों ने जीवन और समाज में भक्ति उपासना एवं ध्यान तथा उसकी पृष्ठभूमि पर बल दिया, जिसमें व्यक्ति के मन शोधन के साथ उसका उच्चतम आध्यात्मिक विकास हो सके। इस प्रकार आगमिक संस्कृति के सांस्कृतिक विकास ने समाज में सांस्कृतिक जीवन और चिन्तन के लिये एक सशक्त आधार दिया। कश्मीरी शैव दर्शन इसका एक तर्क सगत उदाहरण है। वीर शैव सम्प्रदाय जैसे अन्य अनेक आगमिक सम्प्रदायों ने नैतिकता और पवित्रता पर जोर देते हुए आत्म सयम के विकास को आध्यात्मिक जीवन में प्रश्रय दिया। तान्त्रिक संस्कृति की मूल चेतना मध्यकाल के लिए सांस्कृतिक धरातल को एक दिशा देती है।

2.2.7.1 तन्त्र का अर्थ

'तन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'तन्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होती है। 'तन्' धातु का अर्थ है विस्तार। अतः तन्त्र का अर्थ है वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है।

(तन्येत विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्)। यह तो हुई इस शब्द की व्याकरणगम्य व्युत्पत्ति। 'तन्त्र' की निरुक्ति तन् (विस्तार करना) और त्रै (रक्षा करना) इन दोनों धातुओं के योग से सिद्ध होती है, जिसका तात्पर्य है कि तत्र विपुल अर्थ के विस्तार करने के शास्त्र एवं तदनुसारी आचरणशील व्यक्तियों का त्राण भी करता है।¹ फलतः इससे सफलता की सिद्धि की भी सूचना मिलती है। शैव सिद्धान्त के एक प्रख्यात तन्त्र ग्रन्थ 'क्रमिक आगम' के अनुसार तन्त्र की निरुक्ति इस प्रकार है—

“तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्र समन्वितान्।

त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्याभिधीयते।²

“तन्त्र का दूसरा प्रख्यात नाम आगम है। वाचस्पति मिश्र ने योग भाष्य की अपनी तत्त्व वैशारदी व्याख्या में 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति की है— आगच्छन्ति बुद्धिं मारोहन्ति, यस्मात् अभ्युदयनि श्रेयसोपाया स आगम, अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आते हैं वह 'आगम' कहलाता है अर्थात् अभ्युदय और निश्रेयस के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र ही आगम है। 'आगम' की यह व्युत्पत्ति उसका निगम से पार्थक्य दिखलाने के लिये भी पर्याप्त है कर्म, उपासना तथा ज्ञान को स्वरूप बतलाता है।³

भारतीय सस्कृति, निगमागम मूलक है। निगम (नैसर्गिक अथवा प्रतिभा सहज साक्षात् ज्ञान) तथा आगम (तर्क पर आधारित अथवा नियोजित ज्ञान) उसकी स्थिति के लिये दो आधार स्तम्भ हैं। जिनमें 'निगम' वेद का सूचक है तथा 'आगम' तन्त्र का द्योतक है। उनके 'आगम' कहलाने का भी यही कारण है कि उनके अनुशीलन से अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आरूढ़ होते हैं।⁴ श्रेयस और निःश्रेयस के रूप में तत्र की चेतना ही समाजोन्मुखी सस्कृति के विकास की चेतना है। तान्त्रिक चेतना के स्वरूप को समझने के लिए हमें पहले तत्रों के स्वरूप पर विचार करना होगा।

1 भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन — पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 82

2 द्रष्टव्य — वही

3 द्रष्टव्य — वही

4 द्रष्टव्य — लेखक — रचित बौद्ध दर्शन, पृ० 425-460

2272 तन्त्र भेद

तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं — ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र। ब्राह्मण तन्त्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं। 1 वैष्णव (पाञ्चरात्र या भागवत) 2 शैवागम, 3 शाक्तागम। जिसमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परादेवता रूप में उपासना विहित है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद से आगम भी द्वैत-प्रधान, अद्वैत-प्रधान तथा द्वैताद्वैत प्रधान हैं। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है, शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि होती है। परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इन्हीं तन्त्रों के आधार पर तान्त्रिक मत और उसकी सांस्कृतिक चेतना पर हम एक विहगम दृष्टिपात करेंगे।

2273 तन्त्र मत

तान्त्रिक मत में तीन भाव तथा सात आचार हैं। पशु भाव, वीर भाव तथा दिव्य भाव — ये तीन भाव हैं तथा वेचार वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्तचार तथा कौलाचार ये पूर्वोक्त तीन भावों से सम्बद्ध सात आचार हैं। 'भाव' मानस अवस्था है तथा 'आचार' बाहरी आचरण है। भावों में साधक द्वैत से अद्वैत में प्रतिष्ठित होता है। पशुबद्ध जीव का प्रतीक होने से वदीय भावद्वैत भावापन्न पुरुष का द्योतक होता है। जो साधक वीर भाव की पुष्टि से द्वैत भाव के दूरीकरण में समर्थ होता है तथा इष्ट देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को डुबाकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करता है वह दिव्य कहलाता है। आचारों का वर्गीकरण इस प्रकार है

आचार	भाव
वेद वैष्णव शैव तथा दक्षिण आचार	पशु भाव
वाम सिद्धान्त	वीर भाव
कौल	दिव्य भाव

वह परम तत्त्व पूर्ण अखण्ड सौन्दर्य का निकेतन है जगत सौन्दर्य है वह उस पूर्ण सौन्दर्य के कण मात्र का विकास तथा विलास है। सचमुच भगवान् अपने ही रूप को देखकर आप ही मुग्ध होता है। श्री चैतन्य चरितामृत का यह कथन यथार्थ है कि अपने ही रूप को देखकर कृष्ण मन में

चमत्कार उत्पन्न होता है तथा उसका आलिंगन करने की इच्छा मन में उत्पन्न होती है —

‘रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार। आलिंगिते मने उठे काम।।

यह चमत्कार ही पूर्णाहता चमत्कार है। प्रेम इसी का प्रकाश है। शिव-शक्ति के मिलन का प्रयोजक और कार्य स्वरूप यही आदि रस या शृंगार रस है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का शिव तत्त्व ही त्रिपुरा (शाक्त) सिद्धान्त में कामेश्वर तथा कामेश्वरी है तथा गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा है, दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। इसे ही शाक्त मत में सुन्दरी या ‘त्रिपुरा सुन्दरी’ के नाम से अभिहित किया जाता है। श्री शंकराचार्य ने ‘सौन्दर्य लहरी’ में इसी अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया है।

कश्मीर में प्रचलित तान्त्रिक मत शिवाद्वैत सिद्धान्त की प्रत्यभिज्ञा, स्पद अथवा त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं। स्पद तथा त्रिक एक ही दर्शन की दो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का एक समान विवरण उपलब्ध होता है। ‘त्रिक’ नामकरण के अनेक कारण हैं। 92 आगमों में सिद्धा, नामक तथा मलिनी इन तीनों आगमों के प्रधानतया उपजीव्य होने के कारण अथवा पशु पति तथा पाश इन त्रिविध विषयों की व्याख्या के हेतु यह दर्शन ‘त्रिक’ नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन की दार्शनिक दृष्टिपूर्ण अद्वैतवादी है तथा साधना मार्ग में शक्ति तथा ज्ञान के पूर्ण सामञ्जस्य का यह पक्षपाती है।

जीवन के प्रति तन्त्र की एक विशिष्ट दृष्टि है। तन्त्र मानव की सम्पूर्णता तथा समग्रता का पक्षपाती है। ससार के प्रपञ्चों में पड़ने वाला मानव अपनी इनी-गिनी शक्तियों के विकास में ही कृतकार्य होता है। उसका चेतन मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है। उसके अचेतन अथवा उपचेतन मन में पड़ी हुई अगाध, अपरिसीमिता तथा अनुद्बुद्ध विचारधारा चेतन मन के स्तर पर आने के लिए अपने अवसर की प्रतीक्षा किया करती है। उन सबको उद्बुद्ध कर चेतन स्तर पर लाने से ही मानव की समग्रता सिद्ध हो सकती है। मनुष्य स्वभावतः युगल रूप है। न पुरुष नारी बिना पूर्णता पा सकता है और न नारी पुरुष के बिना। इन दोनों का सामञ्जस्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिये तन्त्रों की अभीष्ट है। तान्त्रिक भाषा में इसका नाम युगनद्ध

(अर्थात् सयोजन, ऐक्य)। तान्त्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आश्रित है और इसलिये इस युग में वह बहुत ही समर्थ उपादेय और उपयोगी मानी जाती है।

2274 तंत्रमत और उसकी सांस्कृतिक चेतना

तान्त्रिक सस्कृति की मूल चेतना का प्रथम बिन्दु द्वयात्मक अद्वय है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने तान्त्रिक चेतना के इस बिन्दु को स्पष्ट करते हुए लिखा है – “यह तो सभी आगमिक जानते हैं कि जड चेतन, नश्वर-अनश्वर, शाश्वत-परिवर्तनशील, स्वतन्त्र और बद्ध, श्याम और श्वेत दो शक्ति तत्त्व पदार्थ सृष्टि में हैं, जिन्हें शक्ति प्रसरण एवं सकोचन क्रिया कहते हैं। एक विभु है, एक अणु है, एक ईश्वर है एक जीव। एक ब्रह्म है दूसरा आत्मा। एक पशुपति है एक पशु। माया का आवरण भी सभी आगमिक मानते हैं। माया का आवरण दूर होना चाहिये। साजन से निरजन, समल से निर्मल बनने से ही आनन्द की प्राप्ति होती है। क्योंकि अन्त में विरोधी तत्त्वों का विनाश करके सभी सम पर आ जाते हैं अभेद का प्रतिपादन ही सम्पूर्ण आगम शास्त्रों का समन्वय बिन्दु है। यही नहीं आगमिक विचारणा की पूर्णता भी अद्वैतवादी दृष्टि में ही जाकर हुई है।”¹

तान्त्रिक सस्कृति की यह मूलगत परम साम्य ही अद्वैत स्थिति है। यही सामरस्य है, जिसके सबध में श्रुतियों में कहा है – “परम साम्ययुपैति दिव्यम्”। यह स्थिति अभेदात्मक है, इसमें भेद नहीं है परन्तु भेद रहने पर भी दृष्टि भेद से विलक्षणता है। इस सन्दर्भ में पूर्व कौलगण कहते हैं कि “शिव और शक्ति में साम्य रहने पर भी शेष-शेषी भाव है अर्थात् शिव शेषी है और शक्ति शेष है। अथवा शक्ति शेषी है, और शिव शेष है। उत्तर कौल शेष-शेषी भाव नहीं मानते हैं। उक्त मत में शक्ति ही प्रधान और जगत्कर्त्री है। प्रधान होने के कारण शक्ति शेष भाव है। शिव नहीं है, शिव का परिणाम पचतत्त्व रूप है, यह स्वरूप परिणाम है शक्ति का परिणाम मन आदि के रूप में होता है।”²

तान्त्रिक सस्कृति की द्वयात्मक अद्वय अथवा समरसता की चेतना मध्यकालीन सांस्कृतिक धरातल को जीवन में समरसता के भाव के रूप में देखने को प्रेरित करती है। यह चेतना आध्यात्मिक सत्ता के दर्शन करती है। मध्यकाल की आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य इस जीवन और जगत के रूप

1 आगम ओर कबीर – डॉ० रमेश शर्मा पृ० 21

2 तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि – महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज पृ० 3

मे प्रेम का आश्रय करके चेतना की अद्वैत की स्थिति मे ले जाना है। मध्यकालीन साहित्य मे भी विश्वात्मक स्थिति में अद्वैत सिद्धि की चेतना ही दिखाई देती है। इसकी यही चेतना लौकिक जीवन मे भी समरसता की भावना की उद्भावना की प्रेरक है। मध्यकालीन साहित्य मे जहाँ लौकिक जीवन की अभिव्यक्ति है वहाँ मानवीय जीवन मूल्यों को संबध भावना के आधार पर दो में अभेद भावना की स्थापना पर जोर दिया गया है। वहाँ काव्य चेतना में भेद परक सामाजिक जीवन के लिए आशका है और समरसता की सिद्धि के लिए ललक है।

तान्त्रिक संस्कृति की दूसरी आधारभूत चेतना जागरण है। इस संस्कृति का एक मंत्र है कि सोये रहने से मनुष्य का जीवन नहीं चलने का, उसे जागना होगा। 'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठित्'। जिस पूर्णत्व को मानव जीवन का लक्ष्य माना जाता है, उसकी उपलब्धि के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है— निद्रा से जागरण अर्थात् प्रबोधन। उसके बाद आत्मा की ऊर्ध्वगति के मार्ग मे परमशिव परासवित् अथवा परमसत्ता का साक्षात्कार करना। मनुष्य को जागना होगा, सिद्धान्त आसान है लेकिन व्यवहार मे बड़ा कठिन है। साधारण दृष्टि में देखने में आता है कि सभी आत्मा सुप्त रूप मे विद्यमान है। कर्मी, ज्ञानी अथवा दूसरी किसी भी अवस्था मे अवस्थित आत्मा अधिकांशतः आत्मविमर्श शून्य दीखती है। गोपनीय कविराज जागरण की अवधारणा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "आत्मा जब तक निद्रित रहती है, यानि कुण्डलिनी शक्ति जब तक प्रबुद्ध नहीं होती, तब तक उसका स्तरभेद स्वाभाविक ही रहता है। उस समय उसकी अस्मिता योग्यता के तारतम्य से देह, प्राण, इन्द्रिय अथवा शून्य या माया मे क्रिया करती रहती है। यह स्मरण रखना होगा कि यह अस्मिभाव वास्तव मे चैतन्य का ही है, ग्राहक का नहीं। पद का विस्तार क्षेत्र चूँकि अनाश्रित से पृथ्वी तक है, इसलिये पद की सख्या अनेक है, किन्तु अस्मिता किसी पद का धर्म नहीं, वह चित्ति का धर्म है। जिस किसी पद मे अस्मिता की धारणा हो सकती है। धारण का मतलब है, दृढ़ अभिनिवेश जिसके प्रभाव से इच्छा मात्र से क्रिया तक उद्भव हो सकता है।"¹

तान्त्रिक संस्कृति के इस जागरण के सिद्धान्त ने मध्यकाल के सांस्कृतिक धरातल को एक सशक्त आधार दिया है। यह जागरण ही मध्यकाल की समाजोन्मुखी सचेतना का आधार है।

1 तान्त्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि — महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, पृ० 26-27

जागरण पूर्णत्व, मन के उन्मेष-निमेष की आध्यात्मिक परिभाषा कुछ भी हो, सामाजिक सदर्थ में भी जागरण, पूर्णत्व और मन का उन्मेष-निमेष उतना ही प्रासंगिक है। मानव-जीवन प्रेम के अभाव में पूर्णत्व की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। प्रेम के अभाव में वह स्वार्थ बोध के साथ खण्ड दृष्टि लिए हुए जीवन के विभिन्न सदर्थों में भटकता रहता है। जीवन सौन्दर्य ही उसे उद्बोधन देकर जागरण के लिये प्रेरित करता है। इस जीवन सौन्दर्य का मूलाधार प्रेम है, जो जायसी के काव्य की मूल चेतना है। इस प्रेम को ही आधार बनाकर मध्यकालीन काव्य में समाज की विभिन्न सस्थाओं के सुसस्कृत ढांचे खड़े किये गये हैं। विभिन्न सम्बन्धों की स्वरूप संरचना पर एक सजग दृष्टि से विचार किया गया है। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप निर्धारण के संकेत में मध्यकालीन साहित्य सृष्टा बड़े सजग है, वे उसे एक सुसस्कृत रूप देना चाहते हैं और अपनी इस संचेतना की अभिव्यक्ति काव्य में विविध प्रकार से करते हैं।

जागरण के सदर्थ में ही तान्त्रिक संस्कृति में पूर्णत्व के स्फुरण की बात कही गई है। लेकिन, पहली अवस्था में पूर्णत्व स्थायी नहीं होता। इसलिये कि उसके साथ मन सबध रहता है। मन रहने से मन के होते हुए उन्मेष होता है, और मन का संबंध नहीं रहने से निमेष रहता है। उसके बाद मन नहीं रहता है। तब उन्मनी अवस्था आती है। कह सकते हैं कि उसके प्रभाव से पूर्णत्व सुप्रसिद्ध होता है। आगमविद् आचार्यों ने इसे सुप्रबुद्ध अवस्था कहा है। अब कहा जा सकता है कि आत्मा का पूर्ण हुआ।

मध्यकालीन सास्कृतिक चेतना जब जीवन बोध की ओर अग्रसर होती है। वह प्रतीकों के माध्यम से पूर्णत्व के स्फुरण के साथ समर्पण भाव को प्रेरणा देती है। वहाँ प्रेम का आदर्श समाजोन्मुखी सास्कृतिक चेतना का परिचायक है, जो अपूर्णत्व के प्रतीक पुरुष को प्रेम का आधार देकर सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये तैयार करना चाहती है। मध्यकालीन सास्कृतिक चेतना लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही सन्दर्भों में प्रेम का एक ऐसा सास्कृतिक धरातल तैयार करती है, जिससे समाज के एक आदर्श जीवन बोध का बिम्ब तैयार होता है।

तान्त्रिक संस्कृति की चेतना एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु उसकी नारी चेतना है। तान्त्रिक संस्कृति में स्त्रियों की अस्मिता की स्वीकृति समान भाव से की गई है, स्त्रियाँ भी तान्त्रिक क्रिया कलाप में उतना ही भाग ले सकती हैं, जितना कि पुरुष। इतना ही नहीं तन्त्रागम में स्त्री गुरु होने की अधिकारिणी है।

मध्यकाल के सांस्कृतिक धरातल की आधारभूत चेतना सामाजिक सन्दर्भ में नारी चेतना ही है। मध्यकालीन साहित्य को यदि गंभीरता से देखा जाये तो लौकिक दृष्टि से यह नारी अस्मिता का काव्य है। नारी अस्मिता की यह चेतना मध्यकालीन काव्य को तान्त्रिक संस्कृति के नारी तत्त्व और नारी साधना से किसी न किसी रूप में मिली होगी, ऐसी संभावना है।

इस प्रकार से देखा जाए तो तान्त्रिक संस्कृति विश्व को उस परम सत्ता का विकास मानकर जीवन को एक व्यावहारिक धरातल देती है। तान्त्रिक संस्कृति में संस्था (समाज) को चेतना का सहज विकास मान कर उसके व्यावहारिक स्वरूप को स्वीकार किया गया है। "ब्राह्मण भगवान की वैश्व-अभिव्यक्ति है और मानव भी उसी भगवान की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है और मानव में भी सृष्टि के सभी तत्त्व अन्तर्निहित हैं। उसकी देह ब्राह्मण को मूल-रूप में धारण करती है और ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति भी इसी के अन्दर प्रच्छन्न है। इसका जागरण इन शक्तियों को खोजकर कार्य करना, अपने देवत्व का आलिंगन करना वह आदर्श है, जिसे समस्त आगम उद्घोषित करते हैं।"¹

तन्त्र शास्त्र के व्यावहारिक धरातल और उसके सामाजिक सन्दर्भ पर विचार करते हुए कहा है— "तन्त्र शास्त्र सम्पूर्ण मानव तथा उसके समाज को आलिंगित करने के कारण अपने क्षेत्र में बहुत ही विशाल है। इसका क्षेत्र ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और कार्यपाद इन चारों पादों में विभाजित है, पर समस्या केवल व्यक्ति की नहीं है। मानव समष्टि का सदस्य है, उसका उद्देश्य, उसके प्रयत्न, समष्टि का सामने उपस्थित बृहत्तर समस्या के भाग है, और अश है, जिसका वह एक सदस्य है यद्यपि वह अश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, मानव कभी भी पूर्णतया अपने में जीवित नहीं रह सकता है, वह सजातीय प्राणियों के बीच ही रहता है, और वह चाहे या न चाहे, जितना वह वातावरण को प्रभावित करता है, उससे कहीं अधिक उसके द्वारा वातावरण प्रभावित होता है। तन्त्र शास्त्र इस को स्वीकार करता है और उसके समाधानों को इस तरह से समायोजित करना चाहता है कि वह एक दूसरे को सफल कर दे सार्थक कर दे। ये कहा जा सकता है कि यह समाज को भी एक जीवन पद्धति एक धर्म देता है जिससे कि व्यक्ति और समाज दोनों ही सुसंगठित रूप में अपने समान

1 तान्त्रिक साधना— माधव पुण्डीक पण्डित, पृष्ठ 6-7

ध्येय मे एक दूसरे की मदद कर सके। वह ध्येय इस पार्थिव सृष्टि आत्मा के सामजस्य और आनन्द को खोजना और उपलब्ध करना है।”¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि तान्त्रिक सस्कृति की सचेतना जिस मानवीय जीवन को लेकर चलती है, उसी का एक विकास मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना में दिखाई देता है। एक प्रकार से देखा जाये तो मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना भी परिवेश में आध्यात्मिक चेतना की व्यञ्जना है तथा आध्यात्मिक चेतना के ससार के साथ एक समाजोन्मुखी सस्कृति की परिकल्पना है।

2.2.8 इस्लामिक सांस्कृतिक चेतना और मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक धरातल

इस्लाम की सांस्कृतिक चेतना का मूल आधार कलाम पाक या कुरान है। कुरान का अवतरण मुहम्मद साहब की दिव्य दृष्टि के कारण हुआ था, किन्तु कुरान यह भी नहीं कहता है कि दिव्य दृष्टि केवल मुहम्मद साहब को ही मिली थी, क्योंकि प्रत्येक जाति में दिव्य दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं। ऐसा कुरान का मत है। इसीलिये सच्चा मुसलमान प्रत्येक धर्म ग्रन्थों का आदर करता है, क्योंकि ये सभी धर्म भगवान के बनाये हुए हैं। कुरान के अनुसार फकीर भी दिव्य दृष्टि सम्पन्न होते हैं। ईश्वर के सिवा कुरान देव-योनि को भी मानता है।² कुरान में देवों और देवदूतों का नाम ‘मलक’ या फरिश्ता है। इनको हम देख नहीं सकते, और न प्रकट होकर मनुष्य से सम्पर्क कर सकते हैं। भगवान, मुहम्मद साहब को जो पैगाम भेजते थे, वे पैगाम कभी-कभी जिबरील ले आते थे, किन्तु मुहम्मद साहब, जिबरील को चर्म चक्षु से नहीं आध्यात्मिक दृष्टि से देखते थे। मल्को के बारे में कुरान का यह विश्वास है कि वे मनुष्य की आध्यात्मिक प्राप्ति में सहायक होते हैं। शैतान भी देवताओं की तरह मलक योनि का है किन्तु शैतान में विश्वास रखने की कुरान मनाही करता है। कुरान का कहना है कि मनुष्य में उच्च और नीच दोनों ही प्रकार की वासनाएँ काम करती हैं। नीच वासनाये जीव धारण के लिए हैं उच्च वासनाएँ आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये। नीच वासनाएँ अगर नियन्त्रण

1 तान्त्रिक साधना— माधव पुण्लीक पण्डित पृ० 7—9

2 इकबाल का मत है कि कुरान इस सम्भावना में भी विश्वास करता है कि सृष्टि का रचयिता केवल खुदा ही नहीं कुछ और शक्तियाँ भी हैं (Secret of the Self की भूमिका) उस पुस्तक में निकोलसन ने कुरान के 23वें अध्याय की 14वीं आयत में एक उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है — सृष्टि की रचना करने वालों में परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ है।

मे नहीं है तो मनुष्य का पतन हो जाता है। कुरान की कल्पना है कि नीच वासनाओं को उभारने का काम जिन करते हैं, जिन से बचने के लिये मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुरान की लगभग सभी मान्यताएँ एक सुसस्कृत-सामाजिक व्यवस्था के निर्माण को आधार शिला देती हैं। कुरान की सांस्कृतिक चेतना ने मध्यकालीन भक्ति साहित्य को एक विशिष्ट सांस्कृतिक सचेतना की ओर उन्मुख किया था। शोधकर्त्ताओं के लिए यह बिन्दु अभी भी आकर्षण का विषय हो सकता है, क्योंकि इसके उद्घाटन के साथ मध्यकालीन भक्ति साहित्य को समझने के लिए एक दिशा मिलेगी। इस्लाम की दुहाई का प्रचार और मूर्ति पूजा का खंडन, ये सिर्फ लोभ को छिपाने के आवरण थे। इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ “शान्ति में प्रवेश करना”¹ होता है। अतः मुस्लिम वह व्यक्ति है जो “परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति का सबध”² रखता हो। अतएव, इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा वह धर्म जिसके द्वारा मनुष्य भगवान् की शरण लेता है तथा मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम का बर्ताव करता है।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद का जन्म 570 ई० में हुआ था। अरब में फैले अन्ध विश्वास तथा कुरीतियों का उन्होंने विरोध किया। इन दिनों अरब के निवासी मूर्ति तथा विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते थे। देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये बेकार की क्रियाएँ की जाती थीं। स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त हीन थी। मुहम्मद साहब ने इन कुरीतियों को दूर करने के लिए एक नवीन धर्म का प्रचार किया। उन्होंने अरब वासियों को उपदेश दिया कि ईश्वर निराकार है उसे प्राप्त करने के लिये विभिन्न परम्पराओं तथा मूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं। दूसरे मुहम्मद साहब ने समाजिक भेद भावों का भी विरोध किया। उनके अनुसार समाज के सब सदस्य बराबर हैं, उन्हें भेद भाव की दृष्टि से देखना अनुचित है।

सातवीं शताब्दी के मध्य में एक बार अरबों ने भारत में प्रवेश करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अगले वर्षों तक उन्होंने मुल्तान को अपने अधिकार में कर लिया। सिन्धु विजय के पश्चात् 300 वर्ष तक राजपूतों ने अरबों को आगे नहीं बढ़ने दिया। 11वीं 12वीं

1 मोहम्मद अली (रिलीजन ऑफ इस्लाम)

2 मोहम्मद अली (रिलीजन ऑफ इस्लाम)

शताब्दी के आरम्भ में महमूद गजनवी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किये। अन्तिम आक्रमण में उसे सफलता प्राप्त हुई। भारत में इस्लाम का प्रवेश स्थायी रूप से मुहम्मद गौरी के आक्रमण के पश्चात् हुआ।

इस्लामिक सस्कृति के सम्बन्ध से मध्यकालीन सस्कृति को सामाजिक धरातल देने की नींव डालने वाला बाबर माना जा सकता है। बाबर मंगोल था। ये मंगोल बड़े ही भयंकर वीर थे। इनका सबसे बड़ा नेता चिङ हिरहान (1155 ई० तक) हुआ, जो इतिहास में चंगेज खॉ के नाम से प्रसिद्ध है। हान या खान मंगोल भाषा में एक सम्मान सूचक शब्द था। दूसरी जातियों ने यह शब्द उन्हीं लोगों से लिया है। चंगेज खॉ बौद्ध था, किन्तु इस बौद्ध सेनापति ने इतनी निर्दयताएँ की, कि इतिहास आज तक उसकी याद रोमांच के साथ करता है।

तैमूरलंग (1369 ई०) भी मों की ओर से अपने को चंगेज का वंशज कहता था और बाबर भी इसी वंश की सत्तान था। कहते हैं तैमूर के बाद उसके उत्तराधिकारी मारकाट को छोड़कर कला और विद्या की भी साधना करते थे और मध्य एशिया में एक समय तैमूरी रिनासास (सांस्कृतिक जागरण) भी चला था। बाबर इसी सांस्कृतिक जागरण में पला था, इसीलिये मंगोल खानदान के लोग भारत में भी सांस्कृतिक कार्य करने वाले हुए।

इस्लामिक सस्कृति जन्य मध्ययुगीन भारतीय सांस्कृतिक धरातल पर विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नहीं आया अथवा आया भी दक्षिण के समुद्री तटों पर व्यापारियों के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त सिन्ध और उसके आस-पास के भागों में। महमूद गजनवी, मोहम्मद गौरी और बाबर, ये सच्चे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। उन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजें ही देखी थीं। अबूबक्र, उमर और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी। प्रो० हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक “आवर हेरिटेज” में इन आक्रमणों के बारे में लिखा है “ये जो नये लोग भारत आये, उन्होंने इस्लाम के तत्त्व को भले ही नहीं समझा हो, किन्तु उसकी बाहरी बातें उन्होंने ग्रहण कर ली थीं।” लेकिन बाहरी बातें क्या भीतरी तत्त्व का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं? इस्लाम के गौरव का कारण उसकी आरम्भिक उदारता थी। भारतीय सस्कृति के इतिहास में इस्लामिक चेतना को लेकर प्रवेश करने वाले गजनी और गौरी जैसे मुसलमान इस्लाम के सेवक नहीं थे उनमें दूसरों का धर्म लूटकर आनन्द मनाने की भावना प्रधान थी।

मुसलमान, शासकीय वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण अत्यधिक विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगते थे। हिन्दू भी उनके सम्पर्क में आकर विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगे। मदिरापान, अनेक स्त्रियाँ रखना तथा जुआ खेलना हिन्दूओं के लिये आम बात हो गयी थी। हिन्दू राजाओं और सामन्तों के यहाँ भी श्रेणी विभाजन का प्रचलन हुआ तथा श्रेणियों के अनुसार दरबार में बैठक होने लगी। सरकार¹ के शब्दों में "शासन प्रबन्ध, दरबारी शिष्टाचार, वेशभूषा, सैनिक संगठन, अस्त्र-शस्त्र, उच्चवर्गीय जीवन, विलास सामग्री वास्तुकला, उद्यान कला पर मुसलमानी प्रभाव अत्यधिक था।" इसी प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये हिन्दुओं के समान मुसलमान भी योगियों, साधुओं तथा पीरों के पास जाने लगे। जौहर के समान दहेज प्रथा भी मुसलमानों में हिन्दुओं के सम्पर्क से आयी। अब विवाहों में दहेज किसी न किसी रूप में दिया-लिया जाने लगा। जिस प्रकार हिन्दुओं ने मुसलमानों के वस्त्र तथा वेशभूषा को अपनाया उसी प्रकार मुसलमानों ने भी अपनी वेशभूषा में परिवर्तन किया। पगड़ी पहनने का रिवाज, मुसलमानों में हिन्दुओं से ही आया। इस्लाम मूर्ति-पूजा का विरोधी है। परन्तु भारत के हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा ने उसे भी प्रभावित किया। हिन्दू धर्म का प्रभाव सबसे अधिक इस्लाम के सूफीवाद पर पड़ा। अधिकांश विद्वानों का मत है कि इस्लाम के सूफीवाद पर वेदात्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। सूफी संत रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित होकर ईश्वर को प्राप्त करने के लिये भक्ति तथा प्रेम-साधना पर बल देने लगे। इसी प्रकार नाथ योगी सम्प्रदाय के सम्पर्क में आकर सूफियों ने यौगिक क्रियाओं को भी अपना लिया।

डॉ० ताराचन्द्र² लिखते हैं कि 'इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म की रूपरेखा में आश्चर्यजनक परिवर्तन किये। उनके अनुसार रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य तथा वीर शैव सम्प्रदाय आदि इस्लाम से अत्यधिक प्रभावित हैं। यहाँ तक कि वह शंकराचार्य को भी इस्लाम से प्रभावित बताते हैं।

2.2.9 इस्लामिक सांस्कृतिक संघर्ष : समन्वयात्मक सांस्कृतिक भावना का विकास

धीरे-धीरे दोनों संस्कृतियों आपसी भेदभाव को भूलकर एक-दूसरे के निकट आने लगी तथा उनमें परस्पर सामंजस्य भी होने लगा। दोनों जातियाँ एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करने लगी।

1 भारतीय संस्कृति का इतिहास - दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृष्ठ 366

2 भारतीय संस्कृति का इतिहास - दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृष्ठ 363

यदि हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं और सन्तों ने हिन्दू मुस्लिम विचारों के सफल समन्वय का सफल प्रयास किया तो मुसलमानों के सूफी सम्प्रदाय तथा उनके लेखकों व कवियों ने भी हिन्दू सिद्धान्तों व परम्पराओं को ग्रहण किया। हिन्दू धर्म के प्रति सद्भावना का उदाहरण कश्मीर के सुल्तान का है जो कि अमरनाथ और शारदा देवी के मन्दिर में दर्शन के लिये जाया करता था। अनेक मुसलमान हिन्दुओं के साधु-संतों के पास अपनी इच्छा पूर्ति के लिये जाते थे। मुहम्मद तुगलक जैसा मुसलमान सुल्तान हिन्दू-संन्यासियों और योगियों के पास जाता था। हिन्दू भी अब मुसलमानों के निकट आने लगे वे भी मुसलमानों के सत तथा पीरों को अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा से देखते थे। रावलपिण्डी के ब्राह्मणों ने अब्दुल कादिर जिलानी को अपना गुरु बना लिया था।

इस प्रकार दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के अत्यधिक निकट आने लगी थी। इस तरह के मेल-जोल के कारण अनेक ऐसे सम्प्रदायों में 'सत्य पीर' नामक सम्प्रदाय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कला तथा साहित्य के क्षेत्र में भी दोनों संस्कृतियों ने एक दूसरे को प्रभावित किया।

2.2.10 सूफी चिन्तन की सांस्कृतिक चेतना और मध्ययुगीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक धरातल

सूफी सम्प्रदाय का विकास इस्लाम की ही एक शाखा के रूप में हुआ है। मुहम्मद साहब के द्वारा इस्लाम का परिवर्तन एक सघीय धर्म के रूप में हुआ है। इसमें सामाजिक, धार्मिक आधारों के सामाजिक और सघीय जीवन को आधारभूत शिक्षा दी। नमाज, रोजा, हज और जकात सभी ऐसी धार्मिक क्रियाएँ हैं जिनके द्वारा समाज में समानता, एकता तथा संगठित जीवन को एक नियोजन बद्ध रूप से सामाजिक ढांचा निर्माण करने के लिये प्रोत्साहन मिला। इस्लाम की सांस्कृतिक चेतना को स्पष्ट करते हुए दिनकर जी लिखते हैं— "इस्लाम में मूल रूप में जिस ईश्वर की कल्पना की गई, वह प्रतापी और स्वेच्छाचारी प्रभु की कल्पना थी। ईश्वर के सामने तर्क या मानवीय न्याय बुद्धि के लिये कोई अवकाश नहीं था। अल्ला' शब्द का अर्थ ही शक्ति सम्पन्न पुरुष होता है। इस्लाम ने ईश्वर के उन गुणों को प्रधानता दी, जिनसे प्रेम कम, भय अधिक हो सकता था।

इस्लाम की धार्मिक चेतना का रूप यह था, कि ईश्वर बहुत समीप से सब कुछ देख रहा है और उसकी छोटी सी भी अवज्ञा हुई तो इसका परिणाम भयानक हो सकता है।¹

सूफी चिन्तन की सांस्कृतिक चेतना के मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक विकास पर विचार करते हुए दिनकर ने सूफियों की सांस्कृतिक चेतना को रेखांकित किया है— “मनुष्य का हृदय, स्वभावतः ही प्रेम चाहता है। आदमी की इच्छा होती है कि उसका भगवान भी उससे प्रेम करे, उसे अपने साथ हँसने बोलने और खेलने कूदने की आजादी दे। अतएव खुदा और बन्दे के सम्बन्ध के बारे में मुहम्मद साहब ने जो कठोरता रखी थी, वह कालचक्र में ढीली होने लगी और बड़ा धीरे-धीरे खुदा को वह रूप देने लगा जो प्रेम और माधुर्य के अधिक अनुकूल था। इस विकास का पहला सोपान तब तक प्रकट हुआ, जब नबी की मृत्यु के बाद शियाओं के उग्र सम्प्रदाय ने ‘गुलूब’ और ‘तकसीर’ के सिद्धान्तों की घोषणा की। ‘गुलूब’ यानि वह विश्वास कि मनुष्य ईश्वर कोटि तक पहुँच सकता है, अर्थात् स्वयं ईश्वर बन सकता है। ‘तकसीर’ यानि यह विश्वास कि ईश्वर भी चाहे तो मनुष्य रूप में प्रकट हो सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शियाओं ने हजरत अली में देवत्व का आरोप किया। इन नये विचारों ने खुदा को पूर्ण सौन्दर्य और बन्दे को उस सौन्दर्य का पुजारी बना दिया।”²

आचार्य चन्द्र बली पाण्डेय सहित अनेक विद्वानों का मत है— “इस्लाम के अन्दर से ही कुछ लोगो ने सूफी आन्दोलन के आधार पर इस्लामी जगत में उथल-पुथल मचा दी थी। ये लोग सादगी के परिपोषक थे। बाह्य श्रृंगार, बनावट एवं आडम्बर से इन्हे घृणा थी। सरलता सादगी और पावनता इनके जीवन अभिन्न अंग के रूप में प्रतिष्ठित हुई।”³

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में “सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रखकर उस सम्प्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र भी बहुत साधारण रखे। सूफियों की सरलता और सादगी उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संकेत देती है।”⁴

1 सस्कृति के चार अध्याय — डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 5,6

2 सस्कृति के चार अध्याय — डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 7

3 कबीर का रहस्यवाद

4 वही

सूफी सांस्कृतिक चेतना की व्याख्या करते हुए अबुल हुसैन अननूरी¹ ने कहा है कि “सूफी वह है जिसे ससार से घृणा और परमात्मा से प्रेम हो।” लेकिन ऐसा करने वाला प्रत्येक साधक ‘सूफी’ नहीं हो सकता। सूफी संत जन्नेद² ने संकेत किया है “कि सूफी साधक का धर्म होता है कि वह अपने नहीं प्रत्युत परमात्मा के लिये जीवन यापन करे।” विशल-अल-हाफी³ के अनुसार “सच्चा सूफी वास्तव में वह है जो ब्रह्मनिष्ठ होकर अपने कल्ब को सार्फ रखता है।” जून-नून-मिस्त्री⁴ ने सूफी के लक्षण गिनाते हुए कहा है “कि सूफी वह है जो स्वयं न तो किसी के अधिकार में ही हो और न किसी बात का अधिकारी ही हो। उनके अनुसार सच्चा सूफी वह है जो अपने वचन एवं कर्म से सामंजस्य रखे। उसकी इस दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि मौनता ही उसकी साधना है।

आरम्भ में सूफी धर्म का विकास एकांतवास, आत्म-चिन्तन और सादगी तथा निर्धनता के जीवन के रूप में हुआ। किन्तु बाद में प्रेमतत्त्व का सिद्धान्त जब मिला तो सूफियों ने शुष्क धर्म में भाव प्रणता का रंग भर कर श्रुद्धित और अतृप्त हृदय पक्ष को जीवित किया। सूफियों की सांस्कृतिक चेतना के विकास का अपना इतिहास है। प्रथम दो हिजरी शताब्दियों के मुस्लिम सूफी सत सयमी एवं कट्टर धार्मिक भावों वाले व्यक्ति थे, जो ‘तोबा’ (पश्चाताप) तथा ‘तवक्कुल’ (ईश्वर निर्भरता) के सिद्धान्तों पर अधिक बल देते थे। इस्लाम के ये आदि सूफी-सत मूल रूप से कुरान के सर्वश्रेष्ठ होने के विचार से अनुप्राणित थे। उनका चिन्तन कुरान और हजरत मुहम्मद साहब के व्यवहारों एवं आचरणों की सीमा के अन्तर्गत ही सीमित था।⁵ हिजरी ईस्वी की दूसरी शताब्दी तक सूफीवाद ने अद्वैतवाद (ब्रह्म ज्ञान) का रूप धारण कर लिया था परन्तु इसमें प्रेम से प्रेरित होकर उपासना के कुछ अंश भी मौजूद थे। राबिया (दूसरी शताब्दी हिजरी की मूकनारी) सूफी सत कहती है, “ईश्वर प्रेम में, मैं ऐसी डूब गयी हूँ, कि मेरे हृदय में न तो किसी वस्तु के लिये प्रेम बाकी रहा है और न घृणा।” सूफी सत और उसके इष्ट देव के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए भी वह मानव-प्रेम लाक्षणिक भाषा प्रयोग करती है। प्रारम्भिक सूफी सतों के वैराग्य ने तीसरी हिजरी में तसुव्वुफ ने

1 जायसी एक नव्यबोध – अमर बहादुर सिंह ‘अमरेश’, पृ० 43

2 द्रष्टव्य – वही

3 द्रष्टव्य – वही

4 वही

5 Massignon, Essai Sur Les Origines du Lexique Technique de to mystique Muslman - Paris, 1992

परम्परानुकूल एक गति को जन्म दिया, जिसका उद्देश्य ईश्वर के प्रति प्रेम-पूर्ण भक्ति और स्वात्म को अनुशासित करना है। सूफी सास्कृतिक चेतना के सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मुस्लिम सूफी सतों ने अपनी प्रधान प्रवृत्तियों के होते हुए भी जीवन की तीर्थ यात्राओं से नाता नहीं तोड़ा। 'रोटी जीवन की एक वास्तविकता है। फिर भी इसे सामाजिक न्याय तथा शान्ति के दामो पर बलिदान किया जा सकता है। ऐसा विदित होता है कि ये सूफी सत आध्यात्मिक उन्नति और दिव्योन्माद के लिये जीवन के सामाजिक नैतिक दृष्टिकोण को त्याग देने के लिये तैयार न थे। उन्होंने इस बात का पूर्णतया अनुभव कर लिया था कि मनुष्य का सामाजिक नैतिक अस्तित्व इस भूतन से चिपटा हुआ है, यह मिट्टी का है, पार्थिव है यही कारण है वे अपने शिष्यों से न्याय तथा परोपकार के आचरण करने का आग्रह करते थे।

उपर्युक्त विवरण सूफियों की जिस सास्कृतिक चेतना की विकास यात्रा का चित्र प्रस्तुत करता है, हिन्दी सूफी कवि उसी की एक व्यवस्थित श्रृंखला के रूप में अपने साहित्य की रचना करते हैं। मलिक मोहम्मद जायसी इसी सूफी सास्कृतिक श्रृंखला की एक सशक्त कड़ी है, जो सास्कृतिक चेतनाओं के अन्य विविध रूपों से अपनी स्वरूप संरचना करती है।

उपर्युक्त विभिन्न सास्कृतिक चेतनाओं पर विहगम दृष्टिपात करने के बाद हम आश्चर्य होकर कह सकते हैं कि मध्यकाल के सास्कृतिक परिवेश पर यदि गंभीरता से विचार किया जाये तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इस युग में आरम्भिक सांस्कृतिक चेतना आध्यात्मिक परिवेश में समाजोन्मुखी संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिये एक परिवेश दे रही थी। हिन्दी के भक्त और सत कवियों ने इस सास्कृतिक चेतना को अपने चिन्तन के लिए एक प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता।

2.3 मध्यकालीन समाज का स्वरूप

भारतीय सामाजिक संगठन मूलतः प्राचीन काल से एक सास्कृतिक चेतना के साथ विकसित हुआ है परन्तु निरन्तर परिवर्तित कालचक्र के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के स्वरूप में परिवर्तन होते रहे। जिससे समाजोन्मुखी सास्कृतिक चेतना का ह्रास हुआ, परिणामस्वरूप सास्कृतिक चेतना के पुनः उद्धार के लिये सास्कृतिक चेतनाओं को आगे आना पड़ा।

मध्यकालीन भारतीय समाज के स्वरूप का ज्ञान अधिकतर हमें 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में भारत आये यूरोपीय यात्रियों के लेखों¹ से प्राप्त होता है। इस काल में ब्रूटन तथा कार्टराइट नामक दो अंग्रेज व्यापारी 1532 ई० में भारत आये थे। बर्नियर, टैबर्नियर, थोबो – तीन फ्रांसीसी यात्री 1666 ई० के लगभग भारत आये थे। पैलसर्ट जहाँगीर के काल में आया था। उपर्युक्त यात्रियों ने मध्यकालीन समाज का आखो देखा हाल लिखा है, जिसको किसी सीमा तक प्रामाणिक माना जा सकता है।

भारत में मूल रूप से बसने वाले समुदायों में हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक थी, परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू समाज विभिन्न जातियों में विभाजित था। राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और वैश्यों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। ब्राह्मण पौरोहित्य तथा अध्यापन का कार्य करते थे। क्षत्रियों का कार्य युद्ध करना था। राजपूत भी क्षत्रियों के समान सेना में भर्ती होते थे। राजपूतों के हाथ में राजनैतिक शक्ति थी। वैश्य प्रमुखतया व्यापार तथा विभिन्न उद्योगों में लगे हुए थे। कायस्थों को भी उच्च वर्ग से स्थान प्राप्त था। शूद्रों की दशा पूर्व के समान अब भी शोचनीय चल रही थी।

2.3.1 मध्यकालीन समाज : बदलता परिदृश्य

मध्यकाल में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मूल रूप से वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थी जो इस काल तक आते आते ह्रास की ओर उन्मुख हो रही थी। वैदिक कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आधार कर्म था जो सामाजिक सभी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति के व्यवसाय, अर्न्तवर्ण विवाह तथा ज्ञानोपार्जन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। वैदिक समाज में कर्म—प्रधान था और सामाजिक व्यवहार में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था।

डॉ० आशीर्वाद लाल² श्रीवास्तव के अनुसार “मध्यकालीन समाज में हिन्दू समाज का स्वरूप अपरिवर्तनशील रहा है। लेकिन निष्पक्ष दृष्टि से सामाजिक विवेचन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू समाज मध्यकाल में नैतिक तथा सामाजिक पतन की ओर उन्मुख था और उसके लिए

1 भारतीय संस्कृति का इतिहास – डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज, पृ० 326

2 मीडिवल इण्डियन कल्चर – आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव, पृ० 27

वह स्वयं उत्तरदायी था। हिन्दू समाज में कर्म के आधार पर प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व लुप्त हो चुका था। जन्म के आधार पर जाति प्रथा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को अनेक उपशाखाओं में विभक्त कर दिया था। धर्म राजनीति तथा समाज में उनके लिये कोई स्थान नहीं था।

मध्यकालीन समाज को भली-भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि पूर्व मध्यकालीन समाज को समझा जाये क्योंकि पूर्व मध्यकालीन समाज और मध्यकालीन समाज में घनिष्ठ संबंध है। 'मध्यकालीन समाज में हम जो जातीय जटिलता प्राप्त करते हैं उसका जन्म पूर्व मध्ययुग में ही हो गया था। सम्राट हर्ष का शासन काल प्राचीन तथा मध्ययुगीन समाज के बीच सीमा रेखा है। समकालीन साहित्यकार बाणभट्ट की साहित्यिक रचनाएँ तत्कालीन समाज पर प्रकाश डालती हैं। पूर्व मध्यकाल में ही चार वर्गों के साथ-साथ प्रत्येक वर्ग की अनेक उपजातियाँ हो गयी थीं। 'अलबरूनी' के अनुसार हिन्दुओं की 7 जातियाँ थी जबकि 'अल्बेरूनी' हिन्दुओं की 16 जातियाँ बताता है। कल्हण और भी आगे बढ़ जाता है। उसके अनुसार कश्मीर में 64 जातियाँ थीं। ब्राह्मण जाति भी अनेक उपजातियों में विभाजित हो गई थी।¹

शिलालेखों में दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, पाण्डेय, उपाध्याय आदि ब्राह्मणों की शाखाओं के नाम प्राप्त होते हैं। समाज में ब्राह्मणों को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था। ब्राह्मणों के लिये राजनियमों में कुछ विशेष रियायत की जाती थी। अल्टेकर का मत था कि इस काल में प्रत्येक योद्धा न तो क्षत्रिय था, और न सभी क्षत्रिय योद्धा थे। क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों के समक्ष रखते थे। राजपद अधिकतर क्षत्रियों के हाथ में रहते थे। ब्राह्मणों के समीप रहने के कारण इनको विद्या के प्रति अनुराग था। अलबरूनी के अनुसार — इस काल में अनेक विद्वान क्षत्रिय राजा हुए हैं, जिनमें भोजराज, भुज आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। क्षत्रिय को ब्राह्मणों से अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं।² अलबरूनी के अनुसार 'यदि कोई वैश्य या शूद्र मन्त्रोच्चारण कर लेता था तो उसकी जवान काट ली जाती थी।'³

विभिन्न पेशों के अनुसार शूद्रों की भी अनेक उपजातियाँ बन गई थीं। समाज में शूद्रों की दशा सबसे अधिक शोचनीय थी। तत्कालीन धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार तो शूद्रों का देखना तथा छूना पवित्रता को नष्ट करना था।

1 भारतीय संस्कृति का इतिहास — डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज, पृ० 325

2 भारतीय संस्कृति का इतिहास — डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज पृ० 326

3 वही पृ० 326

अत्यज — इनका नम्बर शूद्रो के बाद आता है। इनकी दशा समाज में अत्यधिक शोचनीय थी अत्यजों में चाण्डाल, चमार, चिड़ीमार, मल्लाह तथा मदारी आते थे। चाण्डाल और मृतप जातियाँ नगर और गाँव से बाहर रहती थी।

2 3 2 जाति प्रथा का विकास

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकाल तक आते-आते समाज परिवर्तन के साथ-साथ वर्ग व्यवस्था का स्थान जाति प्रथा ने ले लिया था। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन का आधार बन गई। जाति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के जन् से हुई है, जिसका अर्थ जन्म होता है। 'वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज की दृष्टि से उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए समानता रखना संभव नहीं रहा।'¹

जहाँ हिन्दू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे। अब उनका स्थान सैकड़ों जातियों ने ले लिया और वे गोत्र के आधार पर भी कई वर्गों में विभक्त हो गये। पारस्परिक विवाह तथा खान-पान और सामाजिक सम्बन्धों में इतनी विषमताएँ आ गई कि एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव नहीं रह गया।² समाज में यह भावना फैलने लगी कि जाति के सदस्य ही भाई-भाई हैं और दूसरी जाति के लोग विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अंग होने की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र में समान होने पर भी प्रारब्ध एवं संचित कर्म के प्रभाव से सामाजिक क्षेत्र में समान नहीं हैं।³ जन्म के आधार पर ही मनुष्य के कर्म, धर्म तथा गुण का निश्चय होने लगा।

भारतीय समाज के स्वरूप में परिवर्तन मध्यकाल के रूप में मुस्लिम शासन के आगमन के साथ हुआ। भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना तथा मुस्लिम साम्राज्य के विस्तार के साथ मुसलमानों की बस्तियों का भी विस्तार प्रारम्भ हुआ। हिन्दू-मुस्लिम सहयोग के बावजूद भारतवर्ष दो स्पष्ट हिन्दू एवं मुस्लिम समाज में विभक्त था। पारस्परिक सम्बन्धों के रहते हुए भी इन दोनों के सामाजिक स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है।

1 पूर्व मध्यकालीन भारत — अवध बिहारी पाण्डेय, पृ० 422

2 पूर्व मध्यकालीन भारत — अवध बिहारी पाण्डेय, पृ० 422

3 द्रष्टव्य — वही पृ० 423

अब हम सामाजिक इतिहास के एक नये युग में प्रवेश करते हैं। एक शताब्दी की अवधि में मुस्लिम आबादी जिसमें इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले (भारतीय) और देशान्तरवासी शामिल थे, सारे उत्तरी भारत में फैल गयी। नये धर्म के अंगीकार करने वाले, प्राकृतिक रूप से, अपनी अनेक पहली प्रथाओं को पकड़े रहे, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने आपको नवीन सामाजिक स्थिति के अनुकूल बना लिया।

देशान्तरवासियों की देशभूमि में जड़ जम गयी जो कस्बों में बस गये थे, जिन्हें प्रायः स्वयं उन्होंने आबाद किया था, अब वे अजनबी न रहे। उधर मूल निवासी हिन्दुओं का पहले जैसा आक्रोश अब शेष नहीं रह गया था। उन हिन्दुओं से जो पड़ोस के ग्रामों और कस्बों में रहते थे, वे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया, देशान्तरवासियों के वंशज हिन्दुस्तान को अपनी जन्मभूमि (या घर) समझने लगे। अब हिन्दू-मुस्लिम समाज की एकता की आधारशिला प्रारम्भ हुई। सम्पूर्ण मुस्लिम शासन काल को हिन्दू धर्म सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष माना गया है। प्रसिद्ध विद्वान के०एम० मुन्शी के अनुसार “हिन्दू स्त्री-पुरुष तथा बच्चों ने भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा के लिये मुस्लिम सत्ता का वीरता से प्रतिरोध किया।”¹

डॉ० आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव के अनुसार “सम्पूर्ण सल्तनत काल में हिन्दू-मुसलमानों के बीच गहरी खाई बनी रही। हिन्दुओं को कोई अधिकार और सुविधा प्राप्त नहीं थी।”²

डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार “शताब्दियों तक एक साथ रहने के बाद भी हिन्दुओं ने इस्लाम के प्रजातन्त्रवादी सामाजिक समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्त को अपने सामाजिक संगठन में स्थान नहीं दिया।”³ यह आश्चर्य की बात नहीं कि दोनों सम्प्रदायों के बीच एक खून की नदी बहती रही, सदियों के सम्पर्क के बावजूद दोनों किनारों को मिलाने के लिए किसी पुल का निर्माण नहीं हो सका।⁴

1 स्ट्रगल फॉर एम्पायर पृ० 15

2 जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री - ए०सी० बनर्जी (लेख)

3 दिल्ली सल्तनत, 616

4 वही पृ० 627

इतिहासकारों के एक वर्ग का मानना है कि सम्पूर्ण मुस्लिम शासनकाल को हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष माना गया है।¹ इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार गैर मुस्लिम राज के शत्रु है। राज्य के हित में उनकी संख्या और शक्ति पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।²

भारत की सामाजिक वर्ण व्यवस्था ने प्रारम्भ में ही देशान्तरवासी मुसलमानों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने मुस्लिम जगत के किसी क्षेत्र में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं देखी थी। इनमें भ्रातृत्व और समता के सिद्धान्त स्वीकृत थे। जिन पर मुस्लिम समाज आधारित था। अतः हिन्दू मुसलमानों में पार्थक्य भावना तो स्वाभाविक थी, लेकिन अलबेरुनी द्वारा साकेतित हिन्दुओं की यह पार्थक्य की नीति बहुत समय तक नहीं रही। उत्तर-पश्चिम से आये हुए लोगों के साथ मेलजोल पैदा करने में हिन्दुओं को लगभग एक शताब्दी लग गयी। डॉ० ताराचन्द के अनुसार इस अवधि में सुदूर देशान्तरवासी मुस्लिम देश के भीतरी भागों में बस चुके थे और उन्होंने हिन्दुस्तान को अपना घर बना लिया था। वे इसकी रक्षार्थ अपने सह-धर्मियों के विरुद्ध अपना रक्त तक बहा देने को तैयार थे। यद्यपि हिन्दू-मुस्लिम के बीच सम्पर्क स्थापित करने के अनेक उच्च एवं निम्न स्तरों के अवसर थे तथापि उनकी जीवन धाराएँ अलग-अलग प्रवाहित थीं।³ ऐतिहासिक रूप से हमें स्वीकार करना पड़ता है कि मध्यकालीन युग में भारतीय समाज हिन्दू और मुस्लिम के बीच स्पष्ट रूप से विभाजित था, जिनके आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत भिन्न थे, यद्यपि भौतिक तथा बाह्य क्षेत्र में उनकी बहुत सी बातों में समानता थी। सूफी सत और भक्ति ने उन्हें आध्यात्मिक रूप से निकट लाने का प्रयत्न किया, किन्तु इस कार्य में उन्हें थोड़ी ही सफलता प्राप्त हुई।

डॉ० ताराचन्द के अनुसार “मुसलमानों ने जब भारतवर्ष में स्थायी रूप से रहने का निश्चय किया तो हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क प्रारम्भ हुआ।⁴ हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय को समीप लाने में सूफी-संतों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। साहित्यकारों तथा कलाकारों की भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका

1 हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड – पूजा

2 दिल्ली सल्तनत 5, पृ० 618

3 इन्प्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर – ताराचन्द, पृ० 137

4 वही

है। अमीर खुसरो ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि “मैं भारतीय तुर्क हूँ तथा हिन्दी भाषा बोलता हूँ।”¹

नि सन्देह कुछ शासकों की उदासीनता, रूढ़िवादिता तथा धर्माधता के बावजूद हिन्दू-मुसलमानों के बीच चीन की दीवार में दरार पड़ने लगी। वे एक दूसरे के समीप आये।

मुगल सम्राट अकबर ने हिन्दू मुसलमानों को सामाजिक रंगमंच पर एक साथ लाने का प्रयास किया। वह रक्षाबधन, होली, दीवाली त्यौहार मनाता था।² रूढ़िवादी धर्माधतापूर्ण नीति के बावजूद हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध अच्छा रहा है। मुसलमान अमीर हिन्दू राजाओं के साथ त्यौहारों में भाग लेते थे।³ औरंगजेब के शासनकाल में भी बहादुर खा होली के त्यौहार पर राजा सुभान सिंह, रायसिंह राठौर, राजा अनूपसिंह के यहाँ जाता था।⁴ मीर हसन तथा मीर मुहसीन बड़ी श्रद्धा से हिन्दू त्यौहारों में भाग लेते थे। हिन्दू राजा तथा अमीर उन्हें प्रीतिभोज पर आमन्त्रित करते थे।⁵

इस काल में मुस्लिम समाज को हम सरलता से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं – प्रथम तो वे मुसलमान जो शासक वर्ग के साथ या व्यापार तथा पद प्राप्त करने के लिये भारत आये थे। इनकी संख्या कम थी। दूसरे वे मुसलमान जो कि हिन्दुओं में से बने थे। मुगल शासक उच्चपद पर विदेशी मुसलमानों को ही नियुक्त करना उचित समझते थे तथा उन्हें सम्मान के साथ दरबार में स्थान दिया जाता था। विदेशी मुसलमान अधिकतर समुद्रतट पर बस गये थे। इनका प्रमुख उद्देश्य व्यापार करना था। इस युग में हिन्दुओं के समान मुस्लिम समाज भी विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया था। सुन्नी शिया बौहरे और खोजे। सुन्नी मुसलमानों में कट्टरता अधिक थी। सुन्नी मुसलमान हिन्दू तथा शियाओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मध्यकालीन समाज के स्वरूप निर्माण में हिन्दुओं की सामाजिक चेतना की आधारभूमि की एक अहम भूमिका रही है। सामाजिक चेतना की आधारभूमि के अनुसार मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं – एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत

1 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मीडियल इण्डिया – ए0 रशीद पृ0 236

2 एम0टी0 टाइम्स – दि रिलीजस क्वेस्ट ऑफ इस्लाम इस्लाम इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान पृ0 157

3 ए सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया – मो0 यासीन पृ0 50

4 द्रष्टव्य – वही पृ0 50

5 द्रष्टव्य – वही पृ0 50

विश्वासो तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परन्तु हम बहुधा यह पाते हैं कि दोनों पक्षों में परस्पर अन्तरावलम्बन है। कभी जनघोषित विश्वास शास्त्र सम्मत बन जाते हैं तो कभी शास्त्र विहित मान्यताएँ जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं। शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी अवस्था के कारण विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारम्भ होता है।

मध्यकाल में समय के प्रवाह के साथ भारतीय समाज का विभाजन हिन्दू और मुसलमान के आधार पर न होकर अर्थ चेतना पर होने लगा था। मुगल युग में समाज का विभाजन प्रमुख रूप से तीन भागों में था। एक विद्वान लेखक के शब्दों में जिस प्रकार आज हम समाज में विभिन्न आर्थिक वर्ग देखते हैं, जिनका जीवन एक दूसरे से बहुत हद तक भिन्न है, उसी प्रकार मुगलकाल में भी समाज कई वर्गों में विभक्त था। प्रत्येक वर्ग का अपना रहन-सहन का स्तर और ढंग था। पहला वर्ग बड़े-बड़े सरकारी अफसरों और अमीरों का था। उसके नीचे व्यापारी वर्ग था और समाज के निम्नतम अंग थे — राज कर्मचारी, मजदूर तथा छोटे व्यापारी।

मध्यकालीन समाज को हम वर्ग के आधार पर इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं —

- 1 शासक वर्ग
- 2 अभिजात्य या मध्यम वर्ग
- 3 सामान्य वर्ग या सर्वसाधारण जनता

अब हम मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इन वर्गों पर आधारित समाज पर विचार करेंगे।

2 3 3 शासक वर्ग

मध्य युग में शासक वर्ग सबसे महत्वपूर्ण वर्ग था, जिसके हाथ में सम्पूर्ण शासन की बागडोर थी। सल्तनत काल में इस वर्ग का मुखिया सुल्तान कहलाता था और मुगल काल में उसे सम्राट या बादशाह के नाम से सम्बोधित किया जाता था। अमीर अमराव भी शासक वर्ग में ही गिने जाते थे।

सल्तनत काल में सुल्तान राज्य का सर्वोच्च और निरंकुश पदाधिकारी था। इस्लामी प्रभुत्व सिद्धान्त के अनुसार ससार के सब मुसलमानों का चाहे वे कहीं भी हों, एक ही मुस्लिम शासक होता था, जिसे खलीफा कहते थे। सुल्तान की शक्ति कितनी अपरिचित थी, ये तो स्पष्ट है कि वह न केवल राज्य की सम्पूर्ण प्रजा का शासक था, बल्कि मुस्लिम वर्ग का धार्मिक नेता भी था, अर्थात् उसमें जर्मनी के विलियम कैसर और रोम के पोप दोनों की शक्तियाँ केन्द्रित थी। मुगलकालीन समाज में भी मुगल शासक सर्वोच्च था। सल्तनत काल के सुल्तानों की भाँति मुगल बादशाह सामन्त आदि भोग-विलास, मद्यपान आदि में डूबा रहता था। इस युग में भारतीय राज-सभाओं तथा सामन्तों के जीवन में सबसे अधिक आकर्षक तत्त्व भोग विलास की अतुलनीय भावना थी।

शासकों के जीवन के दो पहलू थे – राजकीय तथा व्यक्तित्व। व्यक्तिगत जीवन उसके राजकीय जीवन से भिन्न होता था। दरबार में उनकी छवि गौरवमयी शासक न्यायिक प्रशासक एवं वीर योद्धा के रूप में होती थी। इसके बिल्कुल विपरीत व्यक्तिगत जीवन में उन्हें अपनी रुचि के अनुसार जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अधिकतर मुगल शासक मदिरापान करते थे और हरम में विलासमयी जीवन व्यतीत करते थे। वे शिकार, संगीत, नृत्य, काव्य-पाठ, शतरंज, गजीका तथा नौका विहार द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। उनकी जीवन चर्चा पर यदि कोई प्रतिबन्ध था तो शासक की गरिमा बनाये रखने की भावना। उनका खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा प्रत्येक क्षण उनकी मर्यादा एवं व्यक्तित्व की ओर उनका ध्यान दिलाता था।¹ इस काव्य में बादशाह, सामन्त आदि लोग भोगविलास, मद्यपान में डूबे रहते थे। इनका शान-शौकत से रहना उनके जीवन का आवश्यक अंग बन गया था। प्रो० हरफूल आर्य ने लूनिया के शब्दों में इसे स्पष्ट किया कि भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राजदरबार और मुगल युग के लिये आवश्यक वस्तु थी। उच्च वर्गों के वस्त्र भोजन और जीवन-निर्वाह एवं रहन-सहन में विलासिता की आभा झलकती थी।² जरी के कपड़े छपे हुए रेशमी एवं कीमती मलमल के महीन वस्त्र, सामन्तों की साधारण वेशभूषा थी। बादशाह राजदरबारी बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनते थे।³

1 लईक अहमद – मुगलकालीन भारत, पृ० 422

2 मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक काव्य की पृष्ठभूमि – डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक

3 मध्यकालीन धर्म, कला एवं वास्तुकला – प्रो० हरफूल सिंह आर्य, पृ० 4

इस वर्ग का भोजन अमितव्ययी, विशिष्ट तथा स्वादिष्ट होता था। दुर्लभ फल, रहस्यपूर्ण उबाले हुए पदार्थ, पाकशास्त्रीय सूक्ष्मकला प्रदर्शित ईरानी कवानो पर प्रचार हिन्दू अमीरो के यहाँ भी था। फल प्रायः बुखारा और अमरकन्द मगाये जाते थे। मास भोजन उच्च वर्ग का आवश्यक अंग था। वर्ष में बारहो मास उच्च वर्ग द्वारा बर्फ का प्रयोग किया जाता था। मद्यपान का व्यसन जोरो पर था। विदेशो से कीमती मदिरा मगायी जाती थी।¹ डॉ० एस०आर० शर्मा के शब्दों में 'मध्यकालीन में बादशाहों व सुल्तानों का जीवन अत्यन्त शान-शौकत का जीवन था... स्नान के पश्चात् सुगंधित चूर्ण गुलाब जल में डालकर उसका अवलेपन करते थे, अपनी उंगलियों में सुनहली अंगूठिया पहनते थे, जिन पर बहुमूल्य नग जड़े रहते थे तथा वे मोतियों के कुंडल भी धारण किया करते थे।² छत्र रत्न जड़ित सिंहासन पर बैठते थे। छत्र, दूरबाश, सायबान उसके राजचिन्ह थे। राजा के सिंहासन पर बैठने पर सोने-चादी की बौछार-कलाबाज, नादिम, संगीतज्ञ और विदूषक आदि रहते थे। दास-दासियों की भीड़ सी लगी रहती थी। इस सन्दर्भ में एक विद्वान का कथन है कि 'राजवंश सामन्त और उच्च वर्ग के जीवन का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक सुख विलास व ऐश्वर्य का जीवन यापन करना था, उनमें गर्व व आत्म-सम्मान कूट-कूट कर भरा था'³

दरबारियों पर धाक जमाने तथा जनसाधारण को अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिये बादशाह अत्यन्त कीमती वस्त्राभूषण पहनते थे। सुल्तानों की अपेक्षा मुगल शासकों की वेशभूषा अधिक आकर्षक होती थी। अबुल फजल के अनुसार बादशाह के लिए प्रतिवर्ष 1000 बहुमूल्य पोशाकें बनती थीं। अमीरो के कन्धों पर सफेद चादर तथा कान में बालिया रहती थी। आभूषण व्यक्तियों के सौन्दर्य बोध के परिचायक होते थे। सौन्दर्य बोध समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है।

इस प्रकार मध्ययुगीन शासक वर्ग विलासिता का जीवन व्यतीत करता था, उसे जीवन में आनन्द अत्यधिक प्रिय था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वह अच्छे-बुरे अनेक साधन अपनाता था। मनोरंजन के साधनों में चौगान या पोलो, शिकार, घुड़सवारी, मछली पकड़ना, कुश्ती, मुक्केबाजी, नौका-विहार, पशु-दौड़ ये सब मनोरंजन के साधन थे। आभूषणों का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों

1 मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि - डॉ० केशनी कुमार चौरसिया, पृ० 18

2 भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास - एस०आर० शर्मा, पृ० 151

3 भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास - एस०आर० शर्मा, पृ० 183

करते थे। कर्ण-फूल, बाजूबंद, करधनी तथा रत्नों का हार स्त्रियों के प्रिय आभूषण थे। पैरों में घुघरू धारण किये जाते थे। सुगंधित पुष्प मालाओं का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही करते थे। शरदकाल में स्त्रियाँ होठों पर मोम लगाती थीं।¹

2.3.4 मध्यमवर्ग

मध्यकालीन मध्यवर्ग को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। 1 अभिजात वर्ग, 2. मध्यम वर्ग।

2.3.4.1 अभिजात वर्ग

शासन वर्ग के बाद समाज में इनका दूसरा स्थान था। डॉ० अशरफ के अनुसार इस वर्ग को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं – अहल-ए-कमल प्रबुद्ध वर्ग तथा अहल-ए-तीन सैनिक वर्ग।² हुमायूँ ने अपने समय के मुस्लिम समाज को निम्न वर्गों में विभक्त किया था –

अहल-ए-दौलत

इसका सम्बन्ध शासक वर्ग से था। इसमें राज परिवार के सदस्य, सैनिक अधिकारी तथा अमीर वर्ग था।³

अहल-ए-सादात

यह प्रबुद्ध वर्ग था। इसके अन्तर्गत उलेमा, काजी, सैय्यद, सूफी, सत तथा अन्य लोग थे जिनका सम्पर्क धार्मिक कार्य से था।⁴

अहल-ए-मुराद

इसके अन्तर्गत सगीतकार, भाट तथा नर्तकिया थी, जिनका कार्य राजप्रासाद में आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध करना था।⁵ मध्ययुगीन मुस्लिम समाज में अभिजात वर्ग के अन्तर्गत खान, मलिक, ऐज्जा तथा मुगलकालीन मनसबदार थे।⁶ प्रो० रशीद ने अहल-ए-युसुफ (सैनिक), अहल-ए-कलम,

1 भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास – एस०आर० शर्मा, पृ० 185

2 लाइफ एण्ड कडीशन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान – के०एम० अशरफ, पृ० 82

3 वही, पृ० 82

4 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मीडियल इण्डिया – ए० रशीद, पृ० 5

5 लाइफ एण्ड कन्डीशन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ इण्डिया – के०एम० अशरफ, पृ० 82

6 वही, पृ० 83

सादात, मसेख वर्गों में विभक्त किया है।¹ अमीर वर्ग में तुर्क, अफगान तथा भारतीय मुसलमान थे।²

2.3.4.2 मध्यम वर्ग

राजदरबार से सम्बन्धित वर्ग के अतिरिक्त एक वर्ग ऐसा था, जो सामान्य जनता और राजदरबारी वर्ग के बीच की कड़ी थी। मध्यम वर्ग में उच्च वर्ग (शासक वर्ग) के बाद मध्यम वर्गीय समाज ही ऐसा समाज था, जिसकी आर्थिक स्थिति ठीक थी। उनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी। समाज में उनका मान भी कम नहीं था। इस मध्यम वर्ग में आते थे व्यापारी, व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी या लेखन कार्य करने वाले। डॉ० युसुफ हुसैन ने लिखा है "मध्य श्रेणी के लोगों की स्थिति के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत न्यून है। इस वर्ग में व्यापारी, व्यवसायी और सरकारी कर्मचारी या लेखक वर्ग जैसे उन्हें कहा जाता था, सम्मिलित थे। समुद्र तट पर रहने वाले व्यापारियों और सौदागरों का जीवन-स्तर निश्चित रूप से उन लोगों से ऊँचा था जो देश के भीतरी भू-क्षेत्र में रहते थे, जिसका कारण यह था कि उन्हें दूसरे देशों के लोगों के सम्पर्क में आना पड़ता था और अन्तर्राष्ट्रीय आराम और सुविधा का उन्हें अनुकरण करना पड़ता था।

मध्यम वर्ग के पास खूब सम्पत्ति थी। व्यापारी वर्ग जनसाधारण के आदर के पात्र होते थे। मध्यम वर्ग के व्यक्तियों का जीवन स्तर शासक से नीचा था। यह वर्ग शासक वर्ग का मुकाबला नहीं कर सकता था। मध्यम वर्गीय सरकारी कर्मचारियों का जीवन भी बहुत सम्पन्न नहीं था, मोरलैण्ड की ऐसी मान्यता है। व्यापारियों के बड़े-बड़े काफिले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे।

2.3.5 सामान्य वर्ग या सर्वसाधारण जनता

सामान्य लोगों की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाते हुए इतिहास की धारणा है कि विलासी शासक वर्ग की स्थिति में गरीब व्यक्ति अच्छे और कीमती वस्त्राभूषण कैसे धारण कर सकते थे। मजदूर कर्मकार और कुम्हार आदि सूती लगोट पहनते थे, जो कमर से घुटनों तक जाता था। गरीब व्यक्तियों के आभूषण उच्च वर्ग के लोगों के कीमती आभूषणों जैसे नहीं होते थे। अकबर के समय

1 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मीडियल इण्डिया – ए० रशीद, पृ० 5

2 लाइफ एण्ड कडीशन्स ऑफ़ दि पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान – के०एम० अशरफ़ पृ० 95

मे किसानो आदि के प्रति कुछ ध्यान दिया गया था। उस समय सरकारी कर्मचारी गरीब जनता के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं कर सकते थे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम चरण में प्रान्तीय गर्वनरो तथा अन्य पदाधिकारियो ने किसानो को कष्ट देना शुरू कर दिया था। औरंगजेब के शासनकाल में जनसाधारण की स्थिति अत्यन्त खराब हो गई थी। उसके समय में कृषि और अन्य कारोबार पिछड़ गये थे। अलाउद्दीन के शासन काल में किसानो, मजदूरों और गरीब व्यक्तियों को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा। उनके ऊपर अनेक प्रकार के कर और बंधन लगाये गये थे। जनसाधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। परिणामस्वरूप वे उच्च या मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की भांति उत्तम कोटि का भोजन नहीं कर पाते थे। गुजराती लोग दही और चावल का भोजन करते थे। अबुल फजल के अनुसार गरीब व्यक्ति प्रातः काल भुने और पैसे बाजरे के सत्तू खाते थे और बहुत से लोग खिचड़ी खाते थे। खिचड़ी की चर्चा अनेक इतिहासकारों ने की है। व्यापारी साधारण वर्ग के अन्तर्गत थे। वे अनाज, घोड़े तथा दैनिक जीवन की सामग्री का क्रय-विक्रय करते थे। इन्हें अनेक प्रकार का कर देना पड़ता था। व्यापारी वर्ग के बाद ख्वाज, हलवाई कसब का समाज में स्थान था। अमीर खुसरो ने जरगर (सोनार, जौहरी) अहगर (लोहार) दर्जी, कुजगर (कुम्हार) आदि का समाज में उल्लेख किया है।¹ इसी में छोटे व्यापारी, मजदूर व किसान लोग आते थे। सम्पूर्ण मध्यकाल में इस वर्ग की दशा प्रायः दयनीय रही थी। पैलसर्ट ने भी इस वर्ग की स्थिति का जो चित्रण किया है। वह दया उत्पन्न करने वाला है। उन्होंने लिखा है “उनके मकान मिट्टी के बने हुए छप्पर की छतों के हैं। कुछ मिट्टी के घड़ों, पकाने के बर्तनों और दो चारपाईयों के अतिरिक्त उनके घरों में साज-सज्जा की सामग्री या तो बहुत कम है या बिल्कुल नहीं है। उनके बिछौने बहुत कम हैं केवल एक या दो संभवतः दो चादरे हैं, जिनमें से एक बिछाने और दूसरी ओढ़ने के काम आती है। ग्रीष्म ऋतु के लिए ये काफी हैं, किन्तु कड़ाके की जाड़ों की रातें वस्तुतः दयनीय होती हैं।” अमीर और सामन्त लोग गरीबों से बेगार भी लेते थे। उन्हें कड़ा परिश्रम करना पड़ता था। बगाल के बारे में मिरीक्य द्वारा दिया गया निरीक्षण उपरोक्त वक्तव्य की पुष्टि करता है। साधारणतया लोग कीचड़ और मिट्टी की बनी हुई झोपड़ियों में रहते हैं, जो बहुत छोटी सी ओस घासफूस अथवा ताड़ के

1 लाइफ एण्ड कडीशन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान – के०एम० अशरफ पृ० 353 57

पत्तो से पटी होती है वे अपने घरों को बहुत साफ—सुथरा रखते हैं और बहुधा मिट्टी के मिले गोबर से बार—बार लीपते हैं न केवल दीवारों अपितु फर्श के लीपने के लिये भी इसी का प्रयोग किया गया है।¹

जनसाधारण द्वारा प्रयोग किये जाने वाले घरेलू साज—समान के बारे में मरीक्य कहता है कि इसमें सामान्यतः एक तिनको की चटाई जिस पर वे सोते थे, सूती तौशक जिसे बिस्तरे के रूप में प्रयोग करते थे, चार हाडिया सम्मिलित थी, जिनमें चावल पकाये जाते थे तथा कुछ उबालने के पात्र थे और इस प्रकार के कुछ अन्य पदार्थ पकाये जाते थे।²

जनसाधारण के चरित्र के ऊपर मुसलमान लेखक अच्छा प्रकाश डालते हैं। अल इदरसी के अनुसार “भारतीय अत्यधिक न्यायपरायण होते हैं। उनके व्यवहार में भलमनसाहत तथा निष्कपटता प्रशंसा के योग्य है।³ इस काल की दशा पर श्री विद्यार्थी लिखते हैं, “ज्योही हम 11वीं शताब्दी में प्रविष्ट होते हैं, असमानताएँ बढ़ जाती हैं। पर्दा प्रथा प्रचलित हो जाती है, अस्पृश्यता बढ़ जाती है, अन्धविश्वास बढ़ जाता है और इस काल में जनता में दरिद्रता फैल जाती है।”

मध्यकालीन भारतीय समाज के उपर्युक्त वर्गों के आधार पर हुए समाज के स्वरूप को देखने से पता चलता है कि मध्यकाल में जिस समाजोन्मुखी संस्कृति का हास हो रहा था। उसका केन्द्र प्रधान रूप से शासक वर्ग था और मध्यम वर्ग उसका अनुकरण करता हुआ विलासी जीवन को जीवन का अंग बनाने की ओर उन्मुख हो रहा था। समाज के इन वर्गों की इस विलासी प्रवृत्ति का प्रभाव सामाजिक व्यवस्था की मूल नारी की अस्मिता पर पड़ा। यही कारण है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य अपनी सांस्कृतिक चेतना में नारी भावना को प्रमुखता से स्थान देता है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि मध्यकालीन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना उसमें अभिव्यक्त नारी अस्मिता में निहित है।

1 Intensis de la missionao p 28a

2 वही पृ० 28ए

3 भारतीय संस्कृति का इतिहास — दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृ० 329

अपने शोधकार्य को समाजोन्मुखी सस्कृति की राह पर ले जाने के लिए हमें मध्यकाल में नारी की स्थिति और नारी भावना पर भी विचार करना होगा।

2 3 6 मध्यकालीन समाज में नारी की स्थिति

अलग-अलग देशों में और अलग-अलग काल में स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अन्तर रहा है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार भारत में स्त्रियों की स्थिति ऐसी नहीं रही कि भारतीयों को इस विषय को लेकर लज्जित होना पड़े। उनकी स्थिति भारत में सदा से सम्मानपूर्ण रही है। इसके विपरीत अन्य बहुत से देशों में नारियों की स्थिति बड़ी दयनीय रही है। वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान महत्त्व प्राप्त था। वे धार्मिक, सामाजिक कार्यों में पुरुषों का साथ देती थीं, बौद्ध तक आते-आते उनकी स्थिति खराब रही। हिन्दू समाज के बाहर स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं रही थी। वैदिक काल में स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। धर्म और अध्यात्मशास्त्र की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं में स्त्रियों की गति थी। स्त्रियों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। अनेक स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षुणी हो जाया करती थीं। मडन मिश्र की पत्नि ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। अवन्ति सुन्दरी महान् विदुषी थी। भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित की शिक्षा प्रदान की थी। इन्दुलेखा, मारुला आदि इस काल की विद्वान् स्त्रियाँ थीं। इस प्रकार हम देखते हैं, समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था। मेघातिथी का मत था कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

‘काल के प्रवाह में भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति खराब हो गयी। उनसे वेद पढ़ने का अधिकार छिन गया। इस युग में हिन्दुओं में स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा माना जाता। वह बाल्यास्था में पिता के, युवावस्था में पति के और विधवा काल में अपने ज्येष्ठ पुत्र के अधीन रहने को विवश थी। हिन्दू नारी से अपेक्षा की जाती थी कि वह पति की सेवा करे और घर का कार्य करे।’¹

काल के प्रवाह में भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति में तेजी से परिवर्तन हुआ। हिन्दू समाज में नारी जीवनपर्यन्त पुरुष वर्ग के अधीन और आश्रित रही।² पुत्री के रूप में वह अपने पिता के नियंत्रण में रही और विवाह के बाद उसे पति के आदेशों का पालन करना पड़ता था। वृद्धावस्था में

1 मनुस्मृति

2 विवाह रत्नाकर पृ० 409 मदन पारिजात व्यवहार सार, पृ० 203-204 विवाद चिन्तामणि पृ० 189-90

यदि यह विधवा हो जाती थी, तो उसे अपने पुत्रों के अधीन रहना पड़ता था। वैसे हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों में यह व्यवस्था है कि पति अपनी पत्नी से अच्छा व्यवहार करे। ऐसा न करने पर उसे राज्य द्वारा दण्ड का भागी होना पड़ता था। धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार स्त्रियाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में पुरुषों से हीन समझी जाती थी।¹ स्मृतियों के अनुसार व्यभिचार जैसे कुछ अपराधों पर स्त्रियों के लिये मृत्युदण्ड का विधान है।² कात्यायन ने लिखा है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अपराध पर आधे दण्ड की व्यवस्था है, जैसे जहाँ पुरुष को मृत्यु दण्ड दिया जाये, स्त्री का एक अंग काट लिया जाये।³

मध्यकाल के आरम्भ के साथ मुस्लिम सस्कृति के आगमन के साथ स्त्रियों की स्थिति में निरन्तर परिवर्तन आया। यद्यपि इस बारे में विद्वानों के अपने-अपने मत हैं फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि मध्यकाल में स्त्रियों की दशा मानव समाज में सांस्कृतिक ह्रास की सूचक है।

मध्यकालीन समाज की रूपरेखा में स्त्रियों के स्वरूप को देखने और उसमें मुस्लिम सस्कृति की भूमिका निर्धारित करने से पहले हम मुस्लिम सस्कृति में नारी की स्थिति पर विचार करेंगे।

2 3 7 मुस्लिम समाज में नारी अस्मिता

जीवन के प्रति इस्लाम के दृष्टिकोण की व्याख्या कुरान में की गई है।⁴ इसके अनुसार व्यक्ति के लिए जीवन प्रकृति के द्वारा दिया गया एक सुअवसर है। समाज में पारस्परिक संबंध सुदृढ़ करने और अपने पड़ोसियों के साथ सद्भाव और न्यायपूर्वक रहने के लिये उसे निरन्तर प्रयास करना चाहिये।⁵ कुरान में सामाजिक समानता पर अधिक बल दिया गया है।⁶ जिस समय इस्लाम का प्रादुर्भाव अरब में हुआ वहाँ स्त्रियों की स्थिति गिरी हुई थी। स्त्रियों की नौकरानी और दास समझा

1 दिल्ली सल्तनत, पृ० 592

2 वही पृ० 593

3 वही

4 देखिये — कुरान — I xvii, 1, 2, xi, 6 x, 4

5 मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी — बीमेन इन इस्लाम, पृ० 10

6 कुरान — IV, 1

जाता था।¹ जब किसी पुरुष की जिसके अनेक स्त्रिया होती थी, मृत्यु हो जाती थी तो इसके लड़के इन स्त्रियों को आपस में अचल सम्पत्ति की तरह बाट लेते थे।² इस्लाम के आगमन से पहले अरब के लोग परिवार में लड़की के जन्म को बुरा मानते थे। लड़की के जन्म लेते ही उसे जिन्दा पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था।³ पैगम्बर मोहम्मद साहब के उपदेशों से स्थिति में सुधार हुआ और समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा बढ़ी।⁴ मोहम्मद साहब का कहना था कि पुरुष और स्त्री के बीच कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये। सभी की स्थिति समान है और उनके अधिकार भी समान हैं।⁵ डॉ० मोहम्मद यासीन का कहना है कि स्त्रियों से संबंधित पैगम्बर के उपदेश स्त्रियों में इतने अनुकूल नहीं जितने कि उनके द्वारा बनाये गये नियम।⁶ इस्लाम में पुरुष, स्त्रियों को पैगम्बर के उपदेश बतला कर अपने अधीन रखता था और इसके प्रत्युत्तर में स्त्रियों का कहना था कि ये उपदेश एक पुरुष के थे जो पुरुषों द्वारा बतलाये जाते थे उनका स्पष्टीकरण भी पुरुषों द्वारा किया जाता था।⁷ जहाँ तक स्त्रियों की वैज्ञानिक स्थिति का प्रश्न था, पैगम्बर साहब ने साक्षी के रूप में स्त्री को आधे पुरुष के बराबर रखा। अर्थात् दो स्त्रियों की गवाही एक पुरुष के बराबर समझी जाती थी।⁸

कुरान में पुरुषों और स्त्रियों के समानता के आधार पर लड़कियों को सामाजिक और आर्थिक बोझ न समझकर उनके साथ लड़की के समान व्यवहार करने की व्यवस्था।⁹ इब्न अब्बास, जो मोहम्मद साहब के चचेरे भाई थे¹⁰ ने लिखा है कि मोहम्मद साहब का कहना था कि “यदि किसी पुरुष के यहाँ लड़की का जन्म हो और वह उसका अनादर न करे और अपने पुत्रों के समान उसका लालन-पालन करे तो स्वर्ग में ईश्वर उसको इनाम देगा।¹¹ अनास बिल मलिक के अनुसार मोहम्मद

1 मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी – वीमेन इन इस्लाम, पृ० 16

2 वही,

3 वही

4 कुरान II, 188

5 वही, II, 228

6 मोहम्मद यासीन ए सोशियल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया, पृ० 120

7 वही

8 स्त्रियों की विस्तृत जानकारी – डिक्शनरी ऑफ इस्लाम, लेख, वीमेन – मा० यासीन पृ० 120

9 मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी – आपसिट – पृ० 17

10 कुजल उम्मल पृ० 277 मु०म० सिद्दीकी, पृ० 18

11 वही

साहब ने कहा था “लडकियों प्रेम और सद्भाव की प्रतीक हैं और परिवार के लिए वरदान हैं।”¹ मोहम्मद साहब के मित्र आबू हुरेश ने लिखा है कि पैगम्बर साहब का कहना था कि “यदि किसी के तीन पुत्रियाँ हों और वह उनका उचित रूप से पालन करता हो, तो ईश्वर निश्चय ही उसे स्वर्ग में इनाम देगा।”²

2.3.7.1 विवाह

इस्लाम के अनुसार विवाह एक पवित्र संस्कार है।³ मोहम्मद साहब का निर्देश था कि सभी लोगों के लिए विवाह आवश्यक है।⁴ जो विवाह करने में समर्थ न हो, उन्हें उपवास करना चाहिए क्योंकि इससे इच्छा कम हो जाती है।⁵ विवाह केवल पवित्र स्त्रियों से करना अनिवार्य था।⁶ इस नियम के उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने में इस्लाम ने स्त्री और पुरुष में भेदभाव नहीं किया।⁷ परन्तु जनमत ने सदैव व्यभिचारी स्त्री को अधिक दोषी ठहराया, क्योंकि स्त्री के व्यभिचार से परिवार और समाज में कुव्यवस्था फैलने का भय था।⁸

वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिये इस्लाम में स्त्री पुरुष के बीच एक समझौता होता था, जिसके अनुसार यदि एक पक्ष चाहे तो विवाह भग कर सकता था।⁹ स्त्री पुरुष विवाह के पहले भी अपनी भविष्य के संबंधों के लिये समझौता कर सकते थे और विवाह के समय यह समझौता वैवाहिक समझौते में सम्मिलित कर लिया जाता था।¹⁰ जिस तरह पति अपनी पत्नि को अपने आदेश मानने को बाध्य कर सकता था उसी प्रकार स्त्री भी अपने पति से कह सकती थी कि उसे अपनी

1 वही

2 वही

3 तुर्जुक, पृ० 37

4 वही

5 वही

6 कुरान iv 3 — कुरान में पवित्र पुरुष के लिये ‘मोहसिन’ और पवित्र स्त्री के लिए ‘मोहसिनात’ शब्द का प्रयोग किया गया है।

7 मु०म० सिद्दीकी, पृ० 29

8 वही

9 मोहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी — वीमेन इन इस्लाम, पृ० 51

10 खलीफा उमर, इमाम अहमद और इमाम शफी का यही विचार था, लेकिन चौथे खलीफा अली ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि ईश्वर का बनाया मनुष्य के बनाये नियम से सर्वोपरि है —वही, पृ० 52

सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये घर के बाहर जाने से रोका न जाए, यदि ऐसा करने में परिवार की व्यवस्था में कोई विघ्न न पड़ता हो।¹

2372 पर्दा

कुरान के अनुसार मुस्लिम स्त्रियों को पर्दा धारण करना अनिवार्य था।² मुहम्मद मजहुरूद्दीन सिद्दीकी का कथन है कि स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बन्द नहीं रखा जाता था। जहाँ कुरान में उल्लेख है कि स्त्रियों को घर में रहना चाहिये, वह केवल अरेबिया के रहने वाली स्त्रियों से संबंधित था, क्योंकि इस्लाम के प्रादुर्भाव के पहले वहाँ की स्त्रियाँ सड़को पर स्वच्छतापूर्वक घूमती थी और पुरुषों के सम्पर्क में आकर अनैतिक आचरण करती थी।³ इस्लाम स्त्रियों के इस तरह के जीवन को सहन नहीं कर सकता था, इसलिये उनके जीवन को सुधारने की दृष्टि से ऐसे कड़े नियम बनाये गये।⁴ परन्तु यह विचार तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि आज के युग में भी मुस्लिम स्त्रियाँ पर्दा धारण करती हैं। इसी रूढ़िवादी परम्परा के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ विश्व में दूसरे देशों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई हैं।

जहाँ तक कुरान में चेहरे पर पर्दा (नकाब) और शरीर पर बुर्का⁵ धारण करने का उल्लेख है, उसके विषय में भी मुहम्मद मजहुरूद्दीन सिद्दीकी का विचार है कि अरब में उस समय स्त्रियों के पास अधिक वस्त्र नहीं थे।⁶ इसलिये यह व्यवस्था की गई कि बुर्के के द्वारा यह स्थिति समाप्त हो जायेगी और गरीबी ढक जायेगी।⁷ इस सदर्भ में भी यह विचार ठीक नहीं जँचता क्योंकि आज भी सम्राट घरों की महिलाएँ बुर्का धारण करती हैं जबकि इसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। संभवतः मुस्लिम समाज में पर्दा पद्धति ने धार्मिक रूप ग्रहण कर लिया था।

1 वही पृ० 53

2 कुरान xxxiii, 33, 53 xxiv, 30-31

3 मु०म० सिद्दीकी पृ० 124

4 वही

5 देखिये —हयूंस डिक्शनरी ऑफ इस्लाम पृ० 95

6 वही पृ० 125

7 वही

मोहम्मद साहब का निर्देश था कि युवा होने पर हाथ और चेहरे को छोड़कर लडकी के शरीर के किसी भाग पर पुरुष की दृष्टि नहीं पड़नी चाहिये चाहे वह व्यक्ति कितना ही निकट सबधी क्यों न हो।¹ एक प्रमुख विधिवेत्ता, इमाम मलिक के अनुसार हाथ और चेहरे को छोड़कर स्त्री का सम्पूर्ण शरीर 'सत्र' में सम्मिलित है, अर्थात् उसे पूरी तरह ढका रहना चाहिये।² दूसरे विधिवेत्ता इमाम शफी भी इसी विचार के समर्थक थे। परन्तु इमाम अहमद बिन हनबल के अनुसार केवल चेहरे को छोड़कर स्त्री का सारा शरीर ढका रहना चाहिये।³

मध्ययुगीन मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा अधिक प्रचलित थी। डेलेट का कहना है कि मुस्लिम स्त्रियाँ बिना पर्दे के बाहर नहीं आती थी। जब तक कि वे निर्लज्ज या निर्धन न हो।⁴ पीट्रा डेला वाले ने लिखा है कि मुस्लिम महिलाये जब तक बेईमान या गरीब न हो बाहर नहीं आती थी।⁵ उनका कहना है कि मुस्लिम अपनी स्त्रियों को अपने सम्बन्धियों से भी बात करने की अनुमति नहीं देते थे। केवल अपनी उपस्थिति में ही बात करने देते थे।⁶ मनूची का कथन है कि मुस्लिम समाज में स्त्रियों से अपने चेहरे से पर्दा हटाने के लिये कहना अत्यन्त अपमानजनक था।⁷ कारेरी ने लिखा है मनचली स्त्रियों को छोड़कर मुस्लिम स्त्रियाँ सार्वजनिक स्थानों में नहीं जाती थी।⁸ हैमिल्टन ने लिखा है कि मुस्लिम स्त्रियाँ जब घर से बाहर जाती थी तो पर्दा धारण कर लेती थी।⁹ बारबोसा के अनुसार प्रत्येक मुसलमान के तीन या चार पत्नियाँ होती थी और वह उन्हें सावधानी से कमरे में बन्द रखता था।¹⁰ ठामस ओवरी ने लिखा है कि बगाली अपनी पत्नियाँ और रखैलों को बाहर नहीं जाने

1 मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी, पृ० 127

2 वही

3 वही

4 जीन्स डेलेट – दि एम्पायर ऑफ दि ग्रेट मोगल, अनुवाद, जे०ए० हायलेड और एस०एन० बनर्जी, पृ० 80

5 ट्रैवेल्स ऑफ पिट्रा डेला वाले इन इण्डिया – अनुवाद – जी हेवर्स और सम्पादित एडवर्ड ग्रे हकल्यूट सोसाइटी, पृ० 44-45 (जिल्द 1)

6 ट्रैवेल्स ऑफ पिट्रा डेला वाले इन इण्डिया – अनुवाद – जी हेवर्स और सम्पादित एडवर्ड ग्रे हकल्यूट सोसाइटी पृ० 430, ट्रै विर्नियर, पृ० 184

7 वही जिल्द 2 पृ० 175

8 कारेरी, पृ० 248, उद्धृत – रेखा मिश्रा आपसिट, पृ० 135

9 अलेक्जेंडर हैमिल्टन एकाउण्ट ऑफ दि ईस्टइण्डीज एडिनबरा पृ० 17-18

10 बारबोसा – जिल्द 2 पृ० 147

देते थे।¹ बदायूनी ने लिखा है कि यदि नवयुवती बिना पर्दे के गलियो, बाजारों में घूमती हुई दिखाई पड़ती थी तो उसे वेश्या बन जाना पड़ता था।

2.3.7.3 बहु-विवाह

इस्लाम के अन्तर्गत पुरुष को एक से अधिक विवाह करने की अनुमति थी। विद्वानों का ऐसा विचार है कि उस समय इस्लाम के प्रसार में अनेक युद्ध हुए जिनमें बहुत से लोगो की जाने गई और पुरुषों की जनसंख्या कम हो गई। इस स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से बहु-विवाह की अनुमति मुहम्मद साहब ने दी। इसके अतिरिक्त अरब में इस्लाम के आगमन के पहले बहु-विवाह की प्रथा थी और उसमें इतनी जल्दी सुधार लाया नहीं जा सकता।²

भारत के बाहर मुस्लिम स्त्रियों की संख्या कम थी, इसलिये वहाँ साधारण मुसलमानों का हरम भारत में रहने वाले मुसलमान की अपेक्षा बहुत अधिक नहीं था।³ सल्तनत काल में केवल नसीरुद्दीन महमूद को छोड़कर सभी सुल्तानों की एक से अधिक पत्नियाँ थी।⁴ साधारणतया मुसलमान सोचते थे कि वे एक साथ चार पत्नियाँ रख सकते थे और इस संख्या में तलाक देकर परिवर्तन किया जा सकता था। बूढ़ी स्त्रियों के स्थान पर नवयुवतियाँ लाई जा सकती थी।⁵ अकबर पहला शासक था जिसने इस व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास किया। उसका कहना था कि एक पुरुष के लिये एक स्त्री पर्याप्त थी।⁶ उस समय दरबार में एक पत्नी के रखने पर बल दिया जा रहा था। मिर्जा अजीज ने कहा है कि चार पत्नियाँ होनी चाहिये और उसने तर्क दिया "एक पुरुष एक पत्नी भारत की रखनी चाहिये जो सन्तान उत्पत्ति करे, एक खुरासन की होनी चाहिये जो गृहस्थी का कार्य करे, एक ईरान की होनी चाहिये जिसके साथ पुरुष बातचीत कर सके और द्रास आक्सायना की होनी चाहिये जो तीनों को कोड़े लगाकर नियन्त्रित कर सके और घर में शान्ति स्थापित कर सके।"⁷

1 ज्याग्रफिकल एकाउण्ट ऑफ दि कन्ट्रीज राउण्ड दि वे ऑफ बगाल, सम्पादित – आर०सी० टेम्पल, पृ० 107

2 मोहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीकी, पृ० 133

3 मोहम्मद यासीन पृ० 124

4 वही

5 वही, पृ० 125

6 बदायूनी – ले पृ० 367

7 मोतामद खॉ – संपादित – अब्दुल हई और अहमद अली, पृ० 230-231

विद्वानों का ऐसा विचार है कि पुरुषों की प्रवृत्ति स्वभावतः बहुविवाह की तरफ थी, इसलिये इस्लाम में इसकी व्यवस्था की गई, जिससे समाज में व्यभिचार न फैलने पाये।¹ इस्लाम बहु-विवाह को पूर्णतया रोकने में असफल रहा लेकिन कानून के द्वारा इस प्रथा को सीमित करने का प्रयास किया गया।² बहुविवाह करने वाले पुरुष को यह आश्वासन देना पड़ता था कि वह अपनी सभी पत्नियों के साथ निष्पक्ष और न्यायपूर्वक व्यवहार करेगा।³

मध्ययुगीन भारत में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति गिर गई। ये अपने बहु-वैवाहिक पति के पूर्णतया अधीन हो गई।⁴ स्त्रियों को अपने पतियों के निर्देश पर चलना पड़ता था। वे दासियों की भाँति जीवन व्यतीत करती थी और उनके भोजन के उपरान्त भोजन करती थी।⁵

2.3.8 मध्यकाल में नारी अस्मिता

2.3.8.1 पर्दा

मध्यकाल विशेषतया मुगल काल ऐश्वर्य, विलासिता का युग था। पुरुष वर्ग विशेषतया धनवान और शासक वर्ग स्त्रियों से पर्दा करवाना अपने खानदान के लिये शान की बात मानता था। यही कारण है कि इस काल में गरीबों की तुलना में सम्पन्न घरानों में पर्दा प्रथा का अधिक सख्ती से पालन होता था। पर्दा प्रथा के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पर्दा-प्रथा भारत में एक आयतित प्रथा थी। यह मुसलमानों के साथ बाहर से अरब, तुर्किस्तान आदि से आयी थी। जबकि कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत के बाहर यह प्रथा कही थी ही नहीं। डॉ० वहीदा मिर्जा की मान्यता है कि मध्ययुग में पर्दा प्रथा के बारे में भारत के बाहर के देश अवगत नहीं थे। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह प्रथा थोड़े बहुत रूप में भारत में पहले से चली आ रही है। मिस्र के कूपर की मान्यता है कि यह प्रथा मुसलमानों द्वारा शुरू हुई। प्राचीन काल में तो स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं। एक मत यह भी है कि भारत में पर्दा प्रथा तो थी, परन्तु वह आशिक रूप में थी। मुसलमानों के भारत

1 मु०म० सिद्दीकी, पृ० 139

2 वही

3 कुरान IV - 3

4 सर टामस रो और डॉ० जॉन फ्रायर - ट्रैवल्स इन इण्डिया इन दि सेव्न्टीन्थ सेन्चुरी, पृ० 450

5 वही

मे आ जाने पर इस प्रथा को बल मिला। मंगोलो की मातृभूमि में पर्दा का प्रचलन था। इसके बाद इसमें तीव्रता आ गई। हिन्दुओं ने शासक वर्ग की देखा देखी पर्दा प्रथा को अपनाया और कुछ हिन्दू नारियों को मुसलमान अत्याचारों से सुरक्षित रखने के उद्देश्य से पर्दा प्रथा को अपनाया।¹

राजस्थान की स्त्रियों के विषय में टाड महोदय ने बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य प्रस्तुत किया है, उन्होंने लिखा है कि 'दूसरे देशों की स्त्रियों को राजस्थानी स्त्रियों का भाग्य भयभीत कर देने वाले कठिनाईयों से भरा हुआ दिखायी पड़ेगा। जीवन के प्रत्येक चरण में मृत्यु उसे अगीकार करने के लिये खड़ी है। जन्म के समय विष, युवा होने पर अग्नि की लपटें, उसका सुरक्षित जीवन युद्ध की अनिश्चितता पर आधारित है, जो कभी भी बारह महीने से अधिक नहीं है।² हिन्दू समाज पर मुस्लिम समाज का व्यापक प्रभाव पड़ा। लड़कियों को परिवार में अलग रखा जाने लगा और सीमा निर्धारित कर दी गई। इससे मध्ययुग में स्त्रियों की दशा में ह्रास होने लगा।

दक्षिण भारत में पर्दा प्रथा नहीं थी। वहाँ मुसलमानों का हिन्दू समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दू समाज में पर्दा स्त्रियों की उच्च प्रतिष्ठा का द्योतक था। कुछ विद्वानों का मत है कि औरतों को अलग रखने की प्रथा हिन्दुओं ने मुस्लिम समाज से ग्रहण की, लेकिन ऐसा केवल अमीरों ने ही किया। फीरोज तुगलक पहला सुल्तान था, जिसने मुस्लिम स्त्रियों को पर्दा करने के लिये बाध्य किया और सन्तों की मजारों पर जाने पर रोक लगाई। मुस्लिम नारियाँ सख्ती से पर्दा करती थी और उत्तरी भारतीय हिन्दू सामन्तों और मध्य श्रेणी के लोगों की महिलाएँ भी पर्दा करती थी, वे लोग अपनी इच्छा स्थिति के कारण अपनी स्त्रियाँ के श्रम के बिना अपना काम चला लेते थे। निर्धन वर्ग की महिलाओं के लिए काम करना आवश्यक था और अनावश्यक शिष्टाचारों को अलग रख दिया गया था। किन्तु इस पर भी निम्न श्रेणी की नारियाँ जब आम लोगों में आती थी तो अपना मुँह बड़ी सावधानी से छुपाती थी, परन्तु आर्थिक आवश्यकता के कारण अधिकांशतया लोगों में एक ही पत्नी रखने की प्रथा थी। दोनों सम्प्रदायों के धनिक वर्ग एक से अधिक औरतों से विवाह करते थे।

1 वही

2 हिस्ट्री ऑफ राजस्थान — टाड, पृ० 744

डॉ० आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव का कहना है कि सल्तनतकाल (1206—1526) में स्त्रियों की दशा बहुत खराब हो गई।¹ परन्तु इस काल में भारत से बाहर दूसरे देशों में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी रही।² इब्नबतूता ने लिखा है कि तुर्की स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता थी।³ ईरानी स्त्रियाँ पर्दा तो करती थी, किन्तु मस्जिदों में एकत्र होती थी और वस्तुओं को खरीदने के लिये बाजार में जाती थी। ऐसी ही स्थिति स्त्रियों के सबंध में हेरात, शीराज और मदीना में भी थी।⁴

भारत में मुस्लिम स्त्रियों की दशा भी काफी गिर गई। डॉ० अशरफ ने लिखा है “मुसलमानों ने प्राचीन ईरानी परम्पराओं का अनुकरण किया, जो स्त्रियों को हीन स्थिति में रखने के लिये उत्तरदायी है।”⁵ शम्स शीरीज अफीफ ने फिरदौसी द्वारा वर्णित ईरानी परम्परा का उल्लेख किया है कि स्त्री और सर्प भयानक जीव हैं इन्हें मार डालना चाहिये।⁶

डॉ० वहीद मिर्जा ने एक अजीब सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उनके मतानुसार मध्ययुग में भारत के बाहर मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा नहीं थी।⁷ उन्होंने लिखा है कि मुस्लिम समाज में पर्दा की प्रथा राजपूती समाज के प्रभाव के कारण आई।⁸ परन्तु यह विचार ठीक नहीं पड़ता क्योंकि मुस्लिम आक्रमण के पहले राजपूत समाज में पर्दा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।⁹ मनुची के अनुसार पर्दा प्रथा का मुस्लिम समाज में दृढ़ता से पालन किया जाता था।¹⁰ रजिया किस साहस से पर्दा को त्याग कर खुले दरबार में प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करने लगी थी, उसे देखकर तुर्की अमीर स्तब्ध रह गये और उन्होंने उसको अपदस्थ करने के लिये षड्यंत्र रचा और अन्त में अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।¹¹ निर्धन परिवारों की मुस्लिम स्त्रियाँ केवल बुर्का

1 मीडिवल इण्डियन कल्चर, पृ० 23, रेखा मिश्रा पृ० 129

2 लाइफ एण्ड कन्डीशंस ऑफ़ दि पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान — के०एस० अशरफ पृ० 135

3 किताबुररेहला पृ० 200—2001

4 वही पृ० 121

5 लाइफ एण्ड कन्डीशंस ऑफ़ दि पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान — के०एस० अशरफ पृ० 135 36

6 अफीफ पृ० 254 —देखिये बर्नी पृ० 245

7 दिल्ली सल्तनत पृ० 609

8 वही

9 ए०एल० श्रीवास्तव — मीडिवल इण्डियन कल्चर पृ० 23

10 स्टोरिया 1 पृ० 62

11 रेवर्टी अंग्रेजी अनुवाद तबकाते नासिरी पृ० 638 643 देवलरानी खिज़्र खॉ

ओढती थी।¹ परन्तु अमीर और धनी वर्ग के मुस्लिम अपनी महिलाओं के लिये ढकी हुई पालकी का प्रयोग करते थे।²

ऐसा समझा जाता है कि निरन्तर 200 वर्षों तक मंगोलों के आक्रमण के कारण हिन्दुओं में भय की भावना आ गई थी। स्त्रियों को मंगोलों के आतंक से बचाने के लिये ही हिन्दू समाज में पर्दा का प्रयोग किया गया।³ कुछ विद्वानों का मत है कि औरतों को अलग रखने की प्रथा हिन्दुओं ने मुस्लिम समाज से ग्रहण की, लेकिन ऐसा केवल अमीरों ने ही किया।⁴

धीरे-धीरे इस प्रथा का अनुसरण धनी वर्ग के हिन्दुओं ने भी अपनी महिलाओं के लिये किया।⁵ हिन्दू समाज में स्त्रियों के सम्मान करने की प्राचीन परम्परा रही।⁶ परन्तु कुछ लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे और पुरुषों के अधोपतन का प्रमुख कारण समझते थे।⁷ मुस्लिम नारियों की तुलना में हिन्दू नारियों की दशा अधिक दयनीय थी। मुस्लिम शासक जाति की महिलाओं को अपेक्षाकृत बहुत अधिक सुविधाएँ थी, परन्तु नारी को पुरुष की माग की वस्तु ही माना जाता था। मुगल काल ऐश्वर्य विलासिता का युग था। मुगल बादशाहों और अमीरों, सामन्तों को अपने जीवन में सुख की किसी वस्तु का प्रायः अभाव नहीं था। इस काल में भी स्त्रियों की अधिकतर वैसी ही स्थिति थी जैसी सल्तनत काल में थी।

2382 विवाह

पुरुष की आदिम स्त्री विषयक रति मध्यकालीन परिवेश में पुरुष की चेतना पर छा गयी थी, जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला परिवार चेतना विखंडित होने लगी थी। परिवार चेतना की प्रमुख इकाई नारी है और प्रमुख सस्था विवाह। पुरुष की काम चेतना ने इस सस्था को विकृत करने की ठान ली, जिसके परिणामस्वरूप नारी सदर्भित समाजोन्मुखी सरकृति का ह्रास होने लगा जिसे बहुविवाह, बाल विवाह, सती प्रथा और जौहर जैसी सामाजिक कुप्रथाओं में देखा जा

1 दि बुक ऑफ इबारते बारबोसा, पृ० 114

2 के०एम० अशरफ, आपसिट, पृ० 171

3 आपसिट – के०एम० अशरफ, पृ० 139

4 एफ० डब्ल्यू० टामस – म्यूचुअल इन फ्लुएन्स ऑफ मोहम्मडन्स एण्ड हिन्दूज इन इण्डिया पृ० 72

5 सर यदुनाथ सरकार – चैतन्य – पिलग्रीमेजेस एण्ड टीचिंग्स, पृ० 190

6 दि लाज ऑफ मनु, अनुवाद बहुलर, पृ० 85

7 कबीर दास – बीजक पृ० 189

सकता है। इन सब कुप्रथाओं का शिकार नारी को ही होना पड़ा। यह उसकी अस्मिता पर कुठाराघात था। मध्यकालीन समाज का स्वरूप इन कुप्रथाओं को अपने में समेटे हुए था। अपने शोध विषय, जायसी के काव्य में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के स्वरूपांकन के लिए मध्यकालीन समाज की नारी चेतना को इन कुप्रथाओं के रूप में देखना होगा।

2383 बहु-विवाह

विवाह एक प्राचीन संस्कार है। मध्ययुग में स्त्रियों को मनुष्य के उपभोग की वस्तु मान लिया गया था। उन्हें विशेष सम्मान प्राप्त नहीं था। यही कारण है कि बहु-विवाह की प्रथा भी मध्ययुग में आम बात हो गई थी। सुन्दर दासी के आगे गृहस्वामिनी की भी उपेक्षा कर दी जाती थी। गरीब लोग आर्थिक मजदूरी तथा अपनी साधारण सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप प्रायः एक ही विवाह कर पाते थे। मुसलमानों में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। मुसलमान शासक सम्पन्न थे। बादशाहों और अमीरों के महलों में असंख्य उपपत्नियों रहती थी। आईने अकबरी के अनुसार अकबर के 5000 स्त्रियाँ थी, जिनकी देखभाल के लिये एक अलग विभाग स्थापित कर दिया गया था। यद्यपि कुरान के अनुसार कोई मुसलमान चार विवाह कर सकता था परन्तु अपने वैभव के मद में शासक वर्ग इस बंधन को नहीं मानता था। सल्तनत काल की भाँति मुगल काल में भी हिन्दुओं में बाल-विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस समय लड़की का विवाह 12 वर्ष से कम आयु में तथा लड़के का विवाह 16 वर्ष से कम की आयु में नहीं कर सकता। विवाह की कोई निश्चित उम्र नहीं थी। हिन्दू लोगों में विवाह कम उम्र में ही कर दिये जाते थे। समाज में यदि स्त्री के बार-बार कन्या जन्म होता था तो पति उसे त्याग देता था तथा दूसरा विवाह कर लेते थे।

2384 विधवा विवाह

इस युग में विधवा विवाह अधिक प्रचलित नहीं था। इस काल में कुछ स्मृतिकार विधवा-विवाह की छूट देते हैं। विश्वरूप भी विधवा विवाह को उचित बताता है। बाद में यह प्रथा समाप्त हो गयी थी। हिन्दुओं के उच्च वर्ग में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। उत्तरी भारत में जाट तथा मराठों में विधवा-विवाह किसी सीमा तक प्रचलित था। अधिकांश हिन्दू समाज विधवाओं को निरादर की दृष्टि से देखता था। मुसलमानों में विधवा-विवाह का प्रचलन था।

इस प्रकार नारी अस्मिता से जुड़ी विसंगतियाँ मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक कला का एक असांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत करती हैं जो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित करता रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मध्यकालीन समाज का जो स्वरूप उभरकर आता है, उससे लगता है कि इस काल में समाज की आधार-भूत संस्थाएँ ह्रासोन्मुख हो चली थीं। समाज में सामाजिक संबंधों के विघटन के साथ जीवन की अन्य दिशाएँ भी जो स्वरूप ग्रहण कर रही थी, वे एक ऐसे समाज का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं, जो सामन्ती परिवेश को विलासी बना रहा था तथा सामान्य जन-साधारण को अभावग्रस्त जीवन की ओर धकेल रहा था। ऐसा लगता है कि इस युग के समाज की सम्पूर्ण धुरी नारी जीवन चक्र वैभव एवं विलासी जीवन की भावभूमि पर टिकी हुई है। इस तथ्य की ओर अधिक स्पष्ट करने के लिये हम मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

2.4 मध्यकालीन समाज : सांस्कृतिक मूल्यांकन

मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक धरातल पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि इस समाज की सांस्कृतिक धारा विभिन्न चिन्तन परम्पराओं की सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित थी। इसे जिस रूप में विभिन्न चिन्तन परम्पराओं ने प्रभावित किया, वह मानव-जीवन की सहज सांस्कृतिक चेतना से दूर हो चली थी। वैदिक संस्कृति, वेदोत्तर संस्कृति जिसमें इस्लामिक संस्कृति भी आ जाती है। मध्यकालीन समाज में अपने आदर्श रूप के साथ संचरित नहीं होती। समाज की सांस्कृतिक धारा की मूल धुरी नारी चेतना होती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का भावनात्मक परिष्कार समाज का सुसंस्कृतीकरण करता है। मानव-जीवन मूल रूप से पशु की तरह मूल प्रवृत्तियों से संचालित होता है। जिसमें वैयक्तिक योग की आकांक्षा ही प्रधान होती है। मध्यकालीन समाज के लिये इस संबंध में जो सांस्कृतिक धरातल मिला, उसे इस युग ने अपेक्षाकृत विकृत रूप में ग्रहण किया, परिणामस्वरूप नारी अस्मिता से जुड़ी हुई सांस्कृतिक चेतना पुरुष जीवन से दूर हो गयी। जिससे परिवार नामक संस्था घुट-घुट कर जीने को विवश हो गई।

मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना धर्म और दर्शन से अनुप्राणित रही है। मध्यकालीन समाज का सांस्कृतिक धरातल अनेक धर्म साधनाओं से ऊर्जा ले रहा था। इस

धर्म साधनाओं की मूल सास्कृतिक चेतना वैयक्तिक कामनाओं के आगोश में विकृत होकर समाज में आ रही थी। जिससे इस समाज की धार्मिक सास्कृतिक चेतना भी अनेक प्रश्न खड़े कर रही थी।

मध्यकालीन समाज एक विलासी समाज था। विलासी समाज की आर्थिक व्यवस्था भी एक विशेष दिशा लेकर चलती है। जिसमें विलास की वस्तुओं का ही प्रधान्य होता है। इस तरह की व्यवस्था एक खोखले समाज का बिम्ब देती है, जिससे जन-सामान्य का जीवन प्रतिबिम्बित नहीं होता।

मध्यकालीन समाज की सास्कृतिक धारा को इस काल के कवियों ने, दार्शनिकों ने, चिन्तकों ने खुली आंखों से देखा। जायसी भी उन्हीं में एक थे। जायसी ने अपने पदमावत और अन्य कृतियों में मध्यकालीन समाज की सास्कृतिक सचेतना का मूल्यांकन करते हुए उसे सही अर्थों में मानवीय जीवन की सास्कृतिक धारा की ओर मोड़ने का प्रयास किया। यही समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना जायसी की विभिन्न कृतियों में संचरित होती हुई दिखायी देती है। प्रस्तुत शोध विषय की यही मन्तव्य है। इसके उद्घाटन के लिये हम जायसी के पदमावत और अन्य रचनाओं में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

तृतीय अध्याय

जायसी और उनका काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि,
परिवेश एवं आधारभूमि

1. जायसी और उनका काव्य : परिचयात्मक विमर्श
2. काव्य साधना
3. जायसी और उनका काव्य : युगीन परिपार्श्व (पृष्ठभूमि)
4. सृजना की आधारभूमि

जायसी और उनका काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, परिवेश एवं आधारभूमि

3.1 जायसी और उनका काव्य : परिचयात्मक विमर्श

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी काव्य धारा के एक आधार स्तम्भ है। मध्यकालीन सूफी प्रेमाख्यात्मक काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में जायसी की अपनी प्रतिष्ठा है। जायसी के साथ इस काव्य धारा को मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मझन, उसमान आदि अनेक सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं से समृद्ध किया है, परन्तु सूफी प्रेमाख्यानक रचनाओं में जायसी का पदमावत एक ऐसी काव्य रचना है जो सूफी कवियों में जायसी की अपनी अलग पहचान बनाती है।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भारतीय सांस्कृतिक विकास चेतना का एक महत्वपूर्ण अध्याय है मध्यकालीन हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यधारा के कवियों ने विभिन्न रूपों में सांस्कृतिक जीवन विकास के बिम्बों को आधार बनाकर काव्य रचना की है। इन कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं के माध्यम से जीवन के लौकिक पक्षों में आध्यात्मिक चेतना का संचार करते हुए एक सुसंस्कृत जीवन के निर्माण के स्पष्ट संकेत दिये हैं। सूफी प्रेमाख्यानकों में जायसी का पदमावत एक ऐसी रचना है जो समाजोन्मुखी संस्कृति के अनेक आयामों के साथ जीवन बिम्ब प्रस्तुत करती हुई मानव की जीवन चेतना का स्वरूप निर्माण करती है।

किसी भी कवि की काव्य चेतना पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए हमें उसकी काव्य चेतना की पृष्ठभूमि पर विचार करना होता है। कवि की काव्य चेतना का निर्माण उसके जीवन व्यक्तित्व और युगीन पृष्ठभूमि के माध्यम से होता है।

जायसी के काव्य में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना के स्वरूप को समझने के लिए हमें उनके इन्हीं नियामक तत्वों पर विचार करना होगा। भक्त और सन्त कवियों के सन्दर्भों में प्रायः पाया जाता है कि ये अपने जीवन परिचय सम्बन्धी सन्दर्भों में मौन रह जाते हैं, परिणामस्वरूप इनके जीवन और जीवन काल के सम्बन्ध में अनेक मतभेद उभरकर आते हैं। जायसी के सन्दर्भ में भी यह बात आशिक रूप से सही है, लेकिन इतना अवश्य है कि जायसी के काव्य में हमें कुछ ऐसे संकेत मिल जाते हैं। जिनके आधार पर एक सही तार्किक निर्णय तक पहुँचा जा सकता है अनेक विद्वानों ने जायसी के जीवन परिचय के सन्दर्भ में शोध करते हुए अपने निष्कर्ष दिये हैं। उन निष्कर्षों पर विचार करना हमारे विषय का कोई लक्ष्य नहीं है, हमें तो उन प्रमाणों के आधार पर दिये गये जीवन परिचय पर विमर्शन करते हुए, उनके काव्य में अपने शोध विषय की रेखाओं को उद्घाटित करना है।

3 1 1 जायसी : सामान्य परिचय एवं व्यक्तित्व विश्लेषण

3 1 1 1 सामान्य परिचय

3 1 1 1 1 जीवन काल

जायसी की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहे हैं। अन्तःसाक्ष्य के रूप में जायसी की रचनाओं में उनके जन्मकाल के संकेत ही नहीं, स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं। विद्वानों ने जायसी के 'आखिरी कलाम'¹ नामक ग्रन्थ के आधार पर जायसी का जन्म लगभग दसवीं शताब्दी हिजरी माना है।

'सन् नौ से सेतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै।'² इस प्रकार जायसी की प्रसिद्ध रचना पद्मावत में भी जायसी के जीवन काल और रचना काल का स्पष्ट उल्लेख है।

इन्हीं अन्तःसाक्ष्यों को आधार बनाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल³ ने जायसी का जन्मकाल 900 हिजरी (1494-95 ई०) तथा श्री चन्द्रबली पाण्डेय⁴ ने 830 हिजरी (1427 ई०) माना है। 'सदी' के आधार पर जायसी के जन्म की कोई निश्चित तिथि तो निश्चित नहीं होती, लेकिन इससे उनके जीवन काल की स्पष्ट व्यजना होती है। इससे यह माना जा सकता है कि जायसी का जन्म 'नौ सदी' में अर्थात् 801 हिजरी से लेकर 900 हिजरी के बीच कभी हुआ था।

जायसी के जीवन काल को बर्हिःसाक्ष्यों के आधार पर देखा जाए तो जायसी की पुस्तक 'आखिरी कलाम' सन् 936 हिजरी में (सन् 1528 ई० के लगभग) बाबर के समय में लिखी गई थी। इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। इसी तरह पद्मावत के आरंभ में कवि ने मनसवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहे वक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है जिसके शासन काल का आरंभ 947 हिजरी अर्थात् सन् 1540 से हुआ था। इस प्रकार जायसी की रचनाओं में उल्लिखित 'शाहे वक्त' के ऐतिहासिक आधारों को साक्ष्य मानकर जायसी का रचना-काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

- 1 क "मा औतर मोर नौ सदी बरिसे ऊपर कवि बदि।", पृ० 756, छंद 4
ख 'नौ सै बरस छत्तीस जोमए, तब एहि कविता आखर कहे। पृ० 759 छंद 13
- 2 जायसी ग्रन्थावली, प्रो० मनमोहन गौतम, स्तुति खण्ड, पृ० 32, छंद 24
- 3 जायसी, रामपूजन तिवारी, पृ० 12
- 4 जायसी, रामपूजन तिवारी, पृ० 12

जायसी के जीवन काल के निर्धारण के लिए हमें उनकी मृत्यु तिथि पर भी विचार करना होगा। जायसी के जन्म की तरह उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा सैयद आले¹ ने किन्हीं काजी हुसैन की नोट बुक में लिखी तिथि के अनुसार सन् 1542 ई० (4 रजब 949 हिजरी) में इनकी मृत्यु का उल्लेख किया है।

‘काजी नसरुद्दीन हुसैन’² ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में मलिक मुहम्मद जायसी का मृत्युकाल रजब 949 हिजरी (सन् 1542 ई०) दिया है। जायसी का पद्मावत 1540-41 में लिखा गया था उस समय जायसी वृद्ध हो चुके थे।

उपर्युक्त आधारों पर हम आश्वस्त होकर जायसी का जीवन काल पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानकर चल सकते हैं। इसी काल के अन्तर्गत जायसी का रचनाकाल आता है। यही वह काल है, जिससे जायसी की काव्य रचना के लिए वैचारिक आधार दिया होगा। यथास्थान इस पर हम सम्यक् रूप से विचार करेंगे।

3 1 1 1.2 जीवन साधना : लौकिक जीवन

3 1 1 1 2 1 नामकरण और जन्मस्थान

हिन्दी साहित्य जगत में जायसी को मलिक मोहम्मद जायसी के नाम से जाना जाता है। अन्त साक्ष्य के आधार पर जायसी द्वारा स्वयं अपना नाम मुहम्मद स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्वयं कवि को ही यदि प्रमाण माना जाए तो उनका नाम मुहम्मद था। इनके नाम के पहले ‘मलिक’ कैसे लग गया यह विचार का विषय है। कहते हैं कि मलिक उनकी उपाधि थी जो सम्भवतः उनके कुल में पहले से चली आ रही थी। ‘मलिक’ उपाधि सामन्ती सस्कृति की वाची है। अतः जायसी के साथ मलिक उपाधि उनमें सामन्ती सस्कारों के प्रति होने वाली चेतना की भी व्यञ्जना करती है। ऐसा लगता है जायसी की सुसस्कृति सम्पन्न दृष्टि ने सामन्ती सस्कारों को निकट से देखा समझा है और उन्हें सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में मूल्यों के निकष पर कस कर देखा है और उसी का परिणाम जायसी द्वारा रचित पद्मावत जैसी अनूठी रचना है जिसमें सामन्ती सस्कृति लोक सस्कृति के निकष

1 संक्षिप्त पद्मावत, राजदेव सिंह, पृ० 18

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० 8

पर कसी जा रही है और समाजोन्मुखी सस्कृति पर आधारित मूल्यों की स्थापना कर रही है। पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सस्कृति के इन मूल्यों पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

जायसी का जन्मस्थान जायस था, यह विवाद का विषय है। जायस जिला बरेली, उत्तर प्रदेश का एक नगर है। अब भी वहाँ जायसी के मकान के खण्डहर बताये जाते हैं। अपनी रचनाओं में स्वयं कवि ने जायस को अपना निवास-स्थान स्वीकार किया है। पद्मावत में कवि जायस का उल्लेख करता हुआ कहता है —

‘जायस नगर धरम अस्थानू। तहवों यह कवि कीन्ह बखानू॥’¹

‘पद्मावत’ में जायसी ने जहाँ अपनी साधना-भूमि जायस का उल्लेख किया है वे जायस में कहीं अन्यत्र से आने की बात करते हैं। ‘आखिरी कलाम’ में भी जायसी ने जायस के साथ अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हुए अपने सम्बन्ध का उल्लेख किया है —

“जायस नगर मोर अस्थानू। नगर के नाव आदि उदयानू
तहाँ देवस दस पहुने आएउँ। भा बैराग, बहुत सुख पारउँ
सुख भा सोच एक दुख मानौ। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौ
नैन रूप सो गएउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई
जहवै देखौ तहँवै सोई। और न आवै दिस्टि तर कोई॥”²

इस जायस नगर में मैं दस दिन की पहुनई पर आया था, लेकिन इन्हीं दस दिनों में ऐसा वैराग्य-सुख मिला कि मैंने जो पुराना उद्यान था उस जायस को अपना स्थान बना लिया था। इसी जायस में वैराग्य लिया, अपार सुख मिला। जायस में मैंने जिस रूप का दर्शन किया वह रूप आँखों में समा गया। पूरे हृदय पर छाकर वह उसमें भर गया।

इस प्रकार जायस ही उनकी कर्मभूमि व सृजनभूमि स्वीकार की जाती है।

1 पद्मावत, 23, स्तुति खण्ड

2 आखिरी कलाम, छंद 10

3.1.1.1.2.2 शिक्षा तथा व्यवसाय

जायसी के जीवन सम्बन्धी विवरणों में कहीं कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह पुष्टि हो सके कि उन्होंने औपचारिक शिक्षा प्राप्त की हो। उनका बचपन एक अनाथ बालक का बचपन था, जो प्रबुद्ध संस्कारों के साथ बिखरे हुए जीवन के स्वरूप को निकट से देखता था। उसकी पाठशाला तो सामान्य समाज था और सामाजिक जीवन उसके अध्ययन के विषय, माध्यम लोक भाषा थी जिससे उनकी लोक चेतना को अनुभूति और अभिव्यक्ति के आयाम मिले। जायसी की इसी शिक्षा में उनकी रचनाओं को सांस्कृतिक आयाम दिये।

औपचारिक शिक्षा न होना जायसी की काव्य चेतना के संदर्भ में एक शुभ लक्षण ही कहा जा सकता है। मध्यकालीन औपचारिक शिक्षा व्यक्ति को चिन्तन की संकीर्ण सीमा में बंधने का प्रयत्न करती थी। इसी शिक्षा के न होने से जायसी की चिन्तनधारा किसी एक मत या परम्परा में बध्ती नहीं दिखायी देती। वे विभिन्न चिन्तन परम्पराओं से जीवन संदर्भ लेकर अपनी काव्य चेतना के लिये सांस्कृतिक आधार तैयार करते दिखाई देते हैं।

व्यक्ति के व्यवसाय की भी काव्य की संरचना में एक विशेष भूमिका होती है। जायसी के व्यवसाय के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि वे सामान्य कृषक थे। वे एक गृहस्थ किसान के रूप में ही जायस में निवास करते थे। मलिक की उपाधि की अवधारणा उनके इस व्यवसाय के सन्दर्भ में विरोधाभासी दिखाई देती है। हो सकता है जायसी के पूर्वज कभी सम्पन्न सामन्ती समाज से सम्बद्ध रहे हो और उन तक आते-आते उनका परिवार एक सामान्य अभावग्रस्त परिवार रह गया हो। जायसी की रचना पदमावत के अनेक प्रकरणों से दिखाई देता है कि सामन्ती समाज के वर्णन में उनकी सामान्य किसान परिवेश की चेतना प्रवेश कर गई है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि जायसी के व्यवसाय ने उनकी काव्य चेतना को दिशा दी है।

3.1.1.1.2.3 गुरु-परम्परा

मलिक मोहम्मद जायसी की गुरु परम्परा के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है, जबकि उनके गुरु के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। साक्ष्यों के आधार पर यह निर्विवाद मान्यता है कि मलिक मुहम्मद निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में थे। इस परम्परा में दो शाखाएँ हुई – एक

मानिकपुर-कालपी की दूसरी जायसी की। पहली शाखा के पीरो की परम्परा जायसी ने बहुत दूर तक दी है। उनकी रचनाओं में से पद्मावत¹, अखरावट² और चित्ररेखा³ में मानिकपुर-कालपी वाली गुरु-परम्परा का उल्लेख विस्तार से मिलता है।

पद्मावत⁴ और 'आखिरी कलाम'⁵ में जायसी सैयद अशरफ वाली परम्परा में अपनी गुरु भावना की भी अभिव्यक्ति करते हैं। विभिन्न तथ्यों और प्रमाणों के आधार पर निजामुद्दीन औलिया की गुरु परम्परा का अध्ययन करते हुए आचार्य शुक्ल,⁶ वासुदेवशरण अग्रवाल⁷, डॉ० जयदेव⁸ आदि विद्वानों ने जायसी के दीक्षा गुरु और उनकी परम्परा को निश्चित करने का प्रयास किया है। जायसी की रचनाओं में दो गुरुओं के उल्लेख होने से जायसी की गुरु भावना को समझने में दिक्कत हुई है।

आचार्य शुक्ल ने सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती को जायसी का दीक्षा गुरु नहीं माना। "शेख मुहीउद्दीन को जायसी ने अपना दूसरा गुरु माना है, इनके समकालीन जहाँगीर चिश्ती की परम्परा में शेख मुबारक थे। अतएव उन्हीं को जायसी का दीक्षा गुरु मानना अधिक सगत होता। जायसी ने जहाँ कहीं अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, पहले जहाँगीर चिश्ती का ही नाम लिया है। शेख मुहीउद्दीन का नाम बाद में आया है इससे यह प्रतीत होता है कि जायसी के दीक्षा गुरु तो शेख मुबारक ही थे, पर बाद में शेख मुईदउद्दीन के सम्पर्क में आकर उन्होंने कुछ रहस्य की बातें सीखी थीं।"⁹ पद्मावत और अखरावट दोनों में जायसी ने मानिकपुर कालपी की गुरु परम्परा का उल्लेख विस्तार से किया है। इससे डॉ० ग्रियर्सन ने शेख मोहदी को ही उनका दीक्षा गुरु माना है। गुरु वदना से इस बात का ठीक-ठाक निश्चय नहीं होता कि वे मानिकपुर के

1 पद्मावत, छंद 8, 19, 20

2 अखरावट, छंद 27, पृ० 740-741

3 चित्ररेखा,

4 पद्मावत

5 आखिरी कलाम, छंद 9, पृ० 754

6 हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल

7 हिन्दी साहित्य का इतिहास, वासुदेव शरण अग्रवाल

8 जायसी, जयदेव

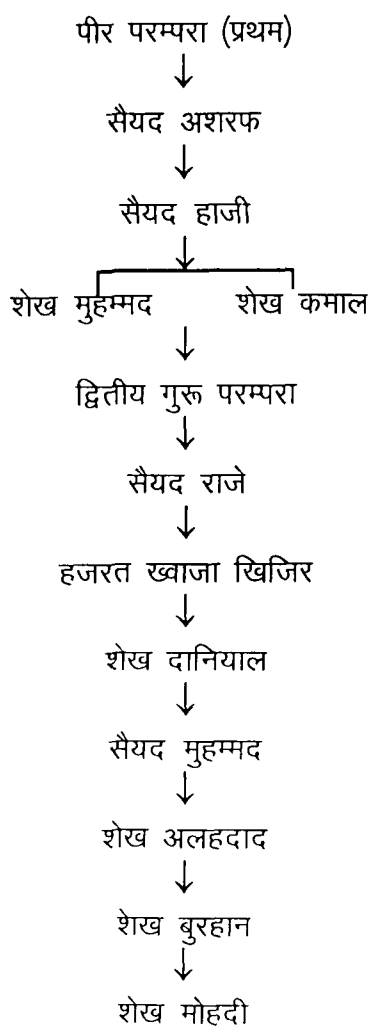
9 जायसी ग्रन्थावली, ना०प्र० सभा, काशी, पृ० 9, 10

मुहीउद्दीन के मुरीद थे अथवा जायस के सैयद अशरफ थे। पदमावत में दोनों पीरो का उल्लेख इस प्रकार है —

“सैयद असरफ पीर पियारा। जेइ मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।

गुय मोहदी खेवक मैं सेवा। चले उताइल जेइ कर खेवा।।

पदमावत के अनुसार अशरफ वाली परम्परा और सैयद राजे वाली गुरु-परम्परा इस प्रकार है —

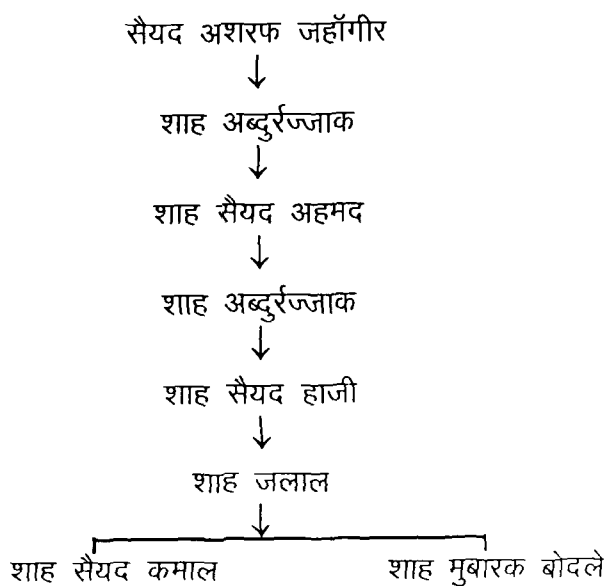


‘अखरावट’ की गुरु परम्परा भी लगभग इसी प्रकार की है। अतर यह है कि प्रथम परम्परा में निजामुद्दीन चिश्ती और अशरफ जहाँगीर को ही स्मरण किया है। दूसरी परम्परा हजरत ख्वाजा खिजिर तक ही है। जायसी के “वै मखदूम जगत के हौ ओहि घर कै बौद” से कुछ लोगो का विचार

है कि "जायसी का गुरु द्वार जायस था और उनके दीक्षा गुरु मखदूम साहब की गद्दी के उत्तराधिकारी शेख मुबारक थे।"¹

'आखिरी कलाम' में केवल सैयद अशरफ जहाँगीर का ही उल्लेख है 'पीर' शब्द का प्रयोग भी जायसी ने सैयद अशरफ के नाम के पहले किया है और अपने को उनके घर का बंदा कहा है। जायस वाले तो सैयद अशरफ मे पोते मुबारक शाह बोदले को उनका गुरु बताते हैं, पर यह ठीक नहीं जचता।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने जायस वाली गुरु परम्परा में केवल चार नाम दिये हैं। जायस वाली परम्परा का चार्ट इस प्रकार है -



चित्ररेखा मे जायसी ने अपनी गुरु परम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है -

‘महदी गुरु सेख बुरहान। कालपि नगर तेहिक अस्थानू॥

मक्कइ चौथ कहहि जस लागा। जिन्ह वे हुए पाप तिन्ह भागा॥

सो मोरा गुरु तिन्ह हौ चेला। धोवा पाप पानि सिर मेला॥

पेम पियाला पथ लखावा। आपु चाखि मोहि बूद चखावा॥”² (चित्ररेखा)

1 मलिक मुहम्मद जायसी, डॉ० जयदेव, पृ० 41

2 चित्ररेखा

चित्ररेखा के इस उद्धरण से जायसी के गुरु के सबध में प्रचलित विवाद का पूर्ण समाधान मिल जाता है।

यह सत्य है कि जायसी ने सैयद अशरफ जहाँगीर की पीर-परम्परा का भी उल्लेख किया है। सैयद अशरफ एक चिश्ती सम्प्रदाय से सूफी महात्मा हो गए हैं। ये फैजाबाद जिले में रहते थे। आठवीं शती हिजरी के अन्त और नवमी शती के आरम्भ में जायसी से काफी पहले हुए थे। जायसी उनके और उनके घराने के प्रति बड़े श्रद्धालु थे।

जायसी से सम्बन्धित गुरु सम्बन्धी मतभेद उनके साहित्य के अध्ययन में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। इतना तो स्पष्ट है कि जायसी की गुरु-परम्परा इस देश में आने वाले सूफी-सम्प्रदायों के साथ जुड़ी हुई थी। जायसी की रचनाओं में प्राप्त गुरु परम्परा का विवरण जायसी के व्यक्तित्व को रेखांकन करता है। उनकी दो गुरुओं में निष्ठा और समान श्रद्धा उनकी गुरु तत्त्व सम्बन्धी समझ की ओर संकेत करती है।

अपनी रचनाओं में उन्होंने निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में आने वाली दोनों ही शाखाओं के सैयद अशरफ और गुरु मोहदी में गुरु तत्त्व के स्वरूप का विश्लेषण किया है। सैयद अशरफ की प्रशंसा करके मलिक मुहम्मद उन्हें अपने जीवन को प्रकाश देने वाला मानते हैं —

सैयद असरफ पीर पिआरा। तिन्ह मोहि पथ दीन्ह उजियारा॥

लेसा हिऐँ पेय कर दीया। उठी जोति भा निरमल हिया॥

मारग हुत अधियार आ सूझा। भा अजोर सब जाना बूझा॥

खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित धरम लीन्ह कइ चेला॥¹

इन पक्तियों में जायसी ने उस जीवन दृष्टि की ओर संकेत किया है। जो उन्होंने गुरु-परम्परा से मिली। जिस जीवन-दृष्टि के अभाव में उनके अनुसार जीवन का मार्ग अधकारमय था।

कालपी वाली शाखा के गुरु मोहदी मे भी वे उसी गुरु-तत्त्व का दर्शन करते है, जो उन्हें एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि देती है। जो जीवन मार्ग की ओर अग्रसर करती है --

“उन्ह सौ मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी।।

ओइ सो गुरु हौ चेला, निति बिनवौ भा चेर।।

उन्ह हुति देखइ पावौं, दरस गोसाईं केर।।¹

“सो मोरा गुरु तिन्ह हौ चेला। धोवा पाप पानि सिर मेला।

पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चाखि मोहि बूंद चखावा।।”²

जायसी की यह गुरु भावना उनकी उदार चेत्ता जीवन-दृष्टि की परिचायक है। जो उन्हें जीवन के तात्त्विक स्वरूप को समझने वाला व्यक्तित्व प्रदान करती है। उनकी इस दृष्टि का संचार केवल आध्यात्मिक जीवन संदर्भों में ही नहीं, सामाजिक जीवन संदर्भों में भी दिखाई देता है। जायसी के काव्य में अभिव्यक्त जीवन-संदर्भ उस समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर आधारित है, जो किसी प्रकार के सम्प्रदायगत, देशगत, कालगत दुराग्रहों से मुक्त है। आगे यथास्थान जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर विचार करते हुए हम इसका स्वरूप विवेचन करेंगे।

3.1.1.2.4 पारिवारिक जीवन

“कहा जाता है कि महाकवि जायसी बचपन में ही माता-पिता की छत्र-छाया से संचित हो गये थे। जीवन में प्रवेश के साथ जीवन के दो ही रास्ते थे, अपनी पैतृक गृहस्थी सभालना अथवा साधु-सन्यासियों की सगत में समय बिताना। कुछ लोग इन्हें माता-पिता की मृत्यु के बाद पूर्णरूपेण वैरागी हो जाना सिद्ध करते हैं।”³

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत⁴ ने लिखा है कि ‘कुछ किंवदन्तियों के अनुसार इनका विवाह ही नहीं हुआ था। ये मृत्युपर्यन्त साधु जीवन ही व्यतीत करते रहे थे।’ अन्त साक्ष्यों और किंवदन्तियों

1 पदमावत, 20

2 चित्ररेखा

3 माता पिता से वियुक्त होने पर अपने जीवन का अधिकांश भाग फकीरों एवं साधु-संतों की सगति में व्यतीत किया।, ना०प्र० पत्रिका, भाग-1, पृ० 49

4 डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

के आधार पर जायसी के पारिवारिक जीवन के सदर्थ में यही धारणा पुष्ट होती है कि फकीरो में प्रवेश करने से पहले जायसी गृहस्थ थे। शाह मुबारक बोदले को 'पोस्ती नामा' सुनाना आदि कुष्ठ रोगी को खाना खिलाना आदि इनके पारिवारिक जीवन की घटनाएँ हैं। जितनी भी दत्त कथाएँ हैं वे उनके पारिवारिक जीवन की हैं अतः यह निर्विवाद है कि जायसी ने गृहस्थ जीवन से फकीरी में प्रवेश किया।

जायसी के गृहस्थ जीवन के सदर्थ में कोई विस्तृत प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। ऐसा माना जाता है कि जायसी का विवाह जायस में ही मलिक परिवार की किसी लड़की से हुआ था। उससे उन्हें सन्तानें भी प्राप्त हुई थी। जायसी के पारिवारिक जीवन के प्रमाण में 'पोस्तीनामा' सुनाने सम्बन्धी किवदन्ती दी जाती है, 'कहा जाता है कि जायसी के गुरु शाह मुबारक बोदले पोस्ते का पानी पिया करते थे। उन्हें अनिद्रा का रोग था। जायसी को यह बात ज्ञात न थी, उन्होंने 'पोस्तीनामा' नाम्नी एक कृति लिखकर अपने गुरु को सुनाई। इसमें पोस्ते का सेवन करने वाले पर आक्षेप था। शाह साहब इसे सुनते ही क्रोधित हो उठे। उन्होंने शाप दिया कि — तेरा वंश नाश हो जाए। 'कवायफे अहमदिया' में इस घटना की शब्दावली निम्नांकित है — ' इरशाद शुद कि तोरा मालूम न बूद कि पीरत' पोस्तीस्ति ब मुर्जरद ए ताब चद—फरजद मलिक साहब दरखाने खुद यकजात—आम मि खुरदन अज उफतादन सतह बाम हमा मुरदन' ('क्या तुम्हें मालूम न था कि तुम्हारा वीर पोस्ते का पानी पीता है?' इतना कहकर उन्होंने शाप दे दिया। मलिक मुहम्मद के कुछ लड़के (चद फरजद) जो घर में इकट्ठा बैठे भोजन कर रहे थे, सबके सब छत के नीचे दबकर मर गये)। चद फरजद शब्द से पता लगता है कि जायसी के एक नहीं कई पुत्र थे।

उपर्युक्त लोक प्रसिद्ध किवदन्ती से पता चलता है कि जायसी का पारिवारिक जीवन भरा-पूरा था। लेकिन असमय ही उनके परिवार के सदस्य किसी आकस्मिक दुर्घटना के शिकार हो गये। इससे उनके मन को एक बड़ा धक्का लगा, और जीवन के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया। एक प्रकार से देखा जाये तो जायसी का पारिवारिक जीवन उनके आध्यात्मिक जीवन की कहानी की एक सशक्त पृष्ठभूमि है। उनके प्रारम्भिक सुखमय पारिवारिक जीवन में उन्हें परिवार की स्वरूप संरचना और समाज तथा जीवन के सदर्थ में उसकी सांस्कृतिक चेतना को समझने का अवसर दिया। दूसरी

ओर परिवार मे हुई विनाश-लीला ने उनकी जीवन-दृष्टि को वैराग्य की ओर उन्मुख किया। जीवन के लौकिक स्वरूप से उनका मोह भग हो गया। अपने लौकिक जीवन को उन्होंने आध्यात्मिक भाव-भूमि मे अपने रमण के लिए एक आध्यात्मिक जगत का निर्माण कर लिया। उनकी यह पारिवारिक पृष्ठभूमि ही है, जिसने उन्हें लौकिक जीवन मे आध्यात्मिक भावभूमि के संचार के लिए दृष्टि प्रदान की। इसी दृष्टि से उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का निर्माण हुआ। समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के रेखांकन के लिए हमें उनके जीवन के दूसरे पक्ष वैराग्य सदर्भित जीवन को भी देखना होगा।

3.1.1.1.2.5 आध्यात्मिक जीवन

ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जायसी का पारिवारिक जीवन बचपन से लेकर गृहस्थ अवस्था तक पीडा की अनुभूति से भरा हुआ रहा है। जीवन और मृत्यु के खेल को उन्हें साक्षी होकर देखना पडा। इसी मृत्यु के साक्षात्कार ने माता पिता की मृत्यु के साथ उनके बाल मन मे कही न कही उदासीनता और वैराग्य के बीज बो दिये होंगे। गृहस्थी के सुख की परतो मे वे बीज दबे रहे। ऐसा भी माना जाता है, कि जायसी अपने बचपन में अनाथ बालक के रूप मे निराश्रित होकर साधुओं और फकीरों के साथ इधर-उधर फिरते रहे। अतः यह स्वाभाविक ही है, साधुओं और फकीरों के प्रभाव से तथा बचपन से ही कष्ट और दीन-हीन अवस्थाओं के रहने के कारण इनकी प्रवृत्ति तत्त्व चिन्तन की ओर उन्मुख हो गई होगी। गृहस्थ जीवन पर जब मृत्यु ने ब्रज का आघात किया होगा, तो इनके बाल मन मे वैराग्य और उदासीनता के बीज सिर उठाने लगे होंगे, और अपने गुरु आश्रम तथा अपनी अध्यात्म साधना के द्वारा वह लहलहा उठे होंगे। अब हम जायसी के वैराग्य की अवस्था के जीवन सदर्भ पर कुछ विचार करेंगे।

जायसी की गुरु परम्परा पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं, कि जायसी शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की परम्परा की दोनों शाखाओं मे अपनी श्रद्धा रखते हैं और दोनों ही शाखाओं मे अपनी गुरु भावना और अध्यात्म साधना के लिये प्राप्त दृष्टि को स्वीकारते हैं। इस प्रकार जायसी का आध्यात्मिक जीवन इन दोनों ही शाखाओं के मूल स्थानों से जुड़ा रहा होगा। उनके आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ होने का विवरण हमें नहीं मिलता। उनकी अध्यात्म साधना की विशेष पीठ अमेठी

रही है। इतना अवश्य स्पष्ट है कि अमेठी से पहले ये अपने गुरु के पास रहते हुए अध्यात्म साधना करते थे। अमेठी पहुँचने से पूर्व जायसी की जीवन साधना आध्यात्मिक दृष्टि से परिपक्व हो गयी थी। इसका पता हमे जायसी के अमेठी गमन की घटना से चलता है। जायसी के आध्यात्मिक जीवन पर विचार करने के लिए हमे उनके अमेठी निकास के बारे में जानना होगा।

3.1.1.1.2.6 जायसी का अमेठी गमन

जायसी का अमेठी राज्य से गहरा सम्बन्ध रहा बताया जाता है। उनके अमेठी पहुँचने की बात इस प्रकार से कही जाती है – बहुत दिनों मुरीदी करते हुए व्यतीत हो गये, तो इनकी और इनके साथी हजरत निजामुद्दीन बदगी की उत्कट अभिलाषा हुई कि हम भी अपनी गद्दी स्थापित करके शिष्य बनाये। इस अभिलाषा को उन्होंने गुरु चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया। गुरु शाह बोदले ने विचार कर आज्ञा दी कि अमेठी चले जाओ। यह सुनकर दोनों शिष्य सन्नाटे में आ गये कि एक ही स्थान पर दो गुरु कैसे रहेंगे। परन्तु गुरु-आज्ञा में तर्क करना उचित न समझ कर शांत रहे। थोड़े समय पश्चात् जायसी की तीव्र बुद्धि और विवेक ने सहायता की। गुरु स्थान के दो द्वार थे, एक पूर्व और एक पश्चिम। पश्चिम वाले द्वार से बदगी मियों को भेज दिया, कि तुम लखनऊ वाली अमेठी जाओ। उन्होंने वहाँ गद्दी स्थापित कर बड़ी ख्याति प्राप्त की। वह अमेठी अभी भी बदगी मिया की अमेठी कहलाती है। जायसी स्वयं पूर्व द्वार से गढ़ अमेठी की ओर चल दिए और वहाँ एक पास के जंगल में अपना स्थान नियत किया।¹

जायसी की अमेठी निवास के सन्दर्भ में और भी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है, कि जायसी अमेठी आने से पहले ही एक साधना से पुरुष के रूप में विख्यात हो गये थे और पद्मावत की रचना प्रक्रिया में पद्मावत उनकी आध्यात्मिक साधना की भावनात्मक अभिव्यक्ति हैं, वही उनकी साधना का प्रकाश है उसी से हमे उनके आध्यात्मिक भाव-भूमि की स्थिति इस घटना से स्पष्ट होती है –

1 सैयद कल्ब मुस्तफा मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० 38

“जायसी बड़े सिद्ध पुरुष विख्यात हुए। अनेक व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। वे अपनी ‘पद्मावत’ के पद्य गा—गाकर भिक्षा मांगा करते थे। एक दिन ऐसा ही एक चेला अमेठी में नागमती का बारहमासा गाता फिर रहा था —

“कँवल जो विगसा मानसर, छारहि मिलै सुखाई,
अबेहु बेलि फिरि पलुहै, जाँ पिय सींचहु आइ।¹

इस दोहे ने राजा को मुग्ध कर दिया। उन्होंने पूछा — ‘शाह जी यह किसका दोहा है।’ जायसी का नाम सुनकर राजा बड़े आदर से जायसी को अमेठी ले आये।²

जायसी का अमेठी प्रवास उनकी आध्यात्मिक साधना का चरमोत्कर्ष काल था और अमेठी उनकी साधना और सिद्ध पीठ थी। जायसी की मृत्यु सम्बन्धी घटना की अलौकिकता भी अनेक आध्यात्मिक जीवन की व्यंजना करती है। इसके साथ ही जायसी की मृत्यु अमेठी के जंगल में हुई थी। इसके बारे में भी सैयद कल्बे साहब ने स्पष्ट उल्लेख किया है। प० रामचन्द्र शुक्ल³ भी इस घटना को सत्य मानते हैं। घटना इस प्रकार है कि जायसी जब से अमेठी के राजा के यहाँ आने—जाने लगे तब से वे अमेठी के पास ही जंगल में अपना स्थान बनाकर रहते थे। जब अमेठी नरेश जायसी के पास जाते थे तब उनके साथ उनका एक शिकारी बहेलिया भी जाया करता था। जायसी उस बहेलिया का बड़ा स्वागत—सत्कार किया करते थे। एक बार लोगो ने जब जायसी से यह पूछा कि आप इस बहेलिया को क्यों इतना आदर देते हो? तब जायसी ने कहा कि ये मेरा कातिल है। यह सुनकर सभी आश्चर्य चकित रह गये। जब राजा को यह बात पता चली तो राजा ने उसे बदक, तलवार आदि न रखने की आज्ञा दी। एक दिन अघेरी रात में जब बहेलिया अमेठी के दुर्ग से अपने घर को वापिस जाने लगा, तो उसने दुर्ग के दरोगा से कहा कि समय बहुत तग हो गया है और मेरा रास्ता जंगल में होकर है। इसलिये रात भर के लिए मुझे यह बदक दे दो। सवेरे आते ही लौटा दूँगा। दरोगा ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की, एक बदक बहेलिया को दे दी। जैसे ही वह बहेलिया जंगल में से होकर चलने लगा वैसे ही उसे शेर के गुराने की आवाज सुनाई

1 पद्मावत, 354

2 जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 11

3 सैयद कल्ब मुस्तफा, मलिक मुहम्मद जायसी

दी। शेर की आवाज निकट ही जानकर बहेलिया ने शब्द पर गोली चला दी। तभी राजा ने स्वप्न देखा कि कोई उनसे कह रहा है कि आप तो सो रहे हैं और बहेलिया ने मलिक साहब को मार डाला। राजा दौड़कर जायसी के स्थान पर पहुँचे। वहाँ जाकर देखा जायसी को गोली लगी है और उनका पार्थिव शरीर निर्जीव होकर पड़ा हुआ है।

जायसी के आध्यात्मिक जीवन और उसकी पद्धति के सदर्थ में कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन इन घटनाओं से यह स्पष्ट व्यजना होती है कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना के बल पर आध्यात्मिक दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर ली थी। इस दिव्य-दृष्टि के निर्माण में भूमिका चाहे किन्हीं चिन्तन पद्धतियों की रही हो, लेकिन उसमें विषयात्मक सत्य की यथार्थपरक जीवन की घटनाओं को भी उसकी शक्ति की अवश्यभावी प्रक्रिया के रूप में देखते थे। बहेलिया की घटना उनके जीवन की घटना होने के साथ-साथ आध्यात्मिक चेतना और उसके ऋत चक्र की व्यजना करती है। इससे स्पष्ट है कि जायसी की दृष्टि में जीवन के सभी व्यापार उसे ऋत चक्र की प्रक्रिया के अंग थे। यह ऋत चक्र ही उन्हें समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि देते हैं। जिसे वे मौन समर्थक होकर दृष्टा के रूप में देखते हैं और तटस्थ भोगता की तरह जीवन सदर्थों के अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हैं।

इस प्रकार उनके काव्य का एक रूप समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति है तो दूसरे रूप में उसमें आध्यात्मिक जीवन मूल्यों का संचार भी। जायसी के जीवन पर दृष्टिपात करने के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं, कि इसके आधार पर बने हुए उनके व्यक्तित्व का रेखांकन कर सकें।

3.1.1.2 जायसी : व्यक्तित्व विश्लेषण

समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के सन्दर्भ में व्यक्तित्व शब्द व्यक्ति का भाववाची रूप है। व्यक्ति शब्द का निर्माण व्यक्त से हुआ है। जिसका अर्थ होता है 'प्रकटन या प्रकाशन' इस प्रकार व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वरूप संरचना आ जाती है। जिससे उसका आन्तरिक और बाह्य रूप प्रकाशित होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, कि व्यक्तित्व व्यक्ति के बाह्य रूप और आन्तरिक भाव-जगत का प्रकाशन है। व्यक्ति के बाह्य व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व में

घनिष्ठ सम्बन्ध होता है बाह्य व्यक्तित्व आन्तरिक व्यक्तित्व के स्वरूप निर्माण में सहायक होता है। बाह्य व्यक्तित्व के साथ बाह्य जगत् और आन्तरिक भाव जगत् मिलकर व्यक्ति की जीवन दृष्टि का विकास करता है। मलिक मोहम्मद जायसी का बाह्य भौतिक व्यक्तित्व उनके आन्तरिक व्यक्तित्व और जीवन दृष्टि के निर्माण में एक विशेष भूमिका अदा करता है। अतः जायसी के व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन करने के लिए हम उनके बाह्य व्यक्तित्व (शारीरिक संरचना) पर विचार करेंगे –

3.1.1.2.1 बाह्य व्यक्तित्व

जायसी की रचनाओं में जायसी की शारीरिक संरचना के बारे में कुछ संकेत मिलते हैं। इन संकेतों से स्पष्ट होता है कि जायसी प्रारम्भ में एक सुन्दर व्यक्तित्व के धनी थे। 'चित्ररेखा' में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मेरा मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर था।"¹ अखरावट में जायसी ने अपनी रूप विकृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "उनकी बाईं आँख खराब हो गई थी, और बाएँ कान से बहरे हो गये थे।"² यह धारणा है कि बचपन में शीतला की कृपा के कारण उनका मुख विकृत हो गया था। जायसी ने 'पद्मावत' में भी अपनी कुरूपता का वर्णन करते हुए एक नेत्र से हीन होने का उल्लेख किया है।³ सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी को लूला और लगड़े भी बताते हैं।⁴

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि जायसी कुरूपता और विकलांगता के शिकार हो गये थे। इस कुरूपता और विकलांगता का बोध जायसी की अपनी चेतना पर था। इस मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि ने जायसी के चिन्तन को प्रेरित किया और उन्हें एक नवीन जीवन दृष्टि का बोध कराया। इस जीवन दृष्टि के अनुसार उनके जीवन में सौन्दर्यबोध शारीरिक सौन्दर्य में ना रहकर आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मबोध के सौन्दर्य में निहित हो गया। इससे उनके भाव जगत् का विकास हुआ और आन्तरिक व्यक्तित्व उस असीम सत्ता की अनुभूति से झिलमिलाने लगा। उनकी रचनाओं में उनकी इस अनुभूति के कई उदाहरण मिलते हैं – 'पद्मावत' में अपनी कुरूपता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है – "यह कविता एक नेत्र वाले कवि मुहम्मद द्वारा गुनी हुई है, जिसने भी यह

1 बदन जइस जग चन्द सुपूरन, चित्ररेखा

2 मुहम्मद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक कान, अखरावट

3 पद्मावत

4 मलिक मुहम्मद जायसी, सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० 21

कविता सुनी – वही विमृग्ध हो गया। इसे विधाता ने चन्द्रमा के समान अवतरित किया था, क्योंकि जहाँ इसे एक नेत्र से हीन होने का कलक दिया, वहाँ उसे गुण की उज्ज्वलता भी प्रदान की।¹

एक अन्य प्रसंग में जायसी ने इस मनोग्रन्थि के उदात्तीकरण की व्यंजना की है, एक बार जब किसी ने उनकी कुरूपता का उपहास किया, तो उन्होंने उत्तर दिया – “मोहि का हँससि कि कोहरहि?” अर्थात् मुझ पर हंसाता है या उस बनाने वाले कुम्हार पर। जायसी का यह उत्तर उनकी उस भाव-भूमि को स्पष्ट कर देता है जो शरीर बोध से उठाकर तात्त्विक चिन्तन तक गई है। इस तात्त्विक चिन्तन की ओर जाने वाले व्यक्तित्व के पीछे कहीं न कहीं उनके शरीर बोध की भूमि रही है और शरीर बोध उनके बाह्य व्यक्तित्व का परिणाम था।

3.1.1.2.2 आन्तरिक व्यक्तित्व

जैसा कि हम पहले सकेत कर चुके हैं कि व्यक्ति के बाह्य व्यक्तित्व के आधार पर उसकी चेतना, शरीर बोध एक विशिष्ट अनुभूति से सम्पन्न होती है। बाह्य व्यक्तित्व से विकसित चेतना के साथ बाह्य परिवेश का समन्वय होने से व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है। यह विकास व्यक्ति की मानसिक संरचना के विकास का स्वरूप निर्धारण करता है। यह मानसिक संरचना ही मनुष्य के भाव-जगत का निर्माण करने वाली होती है। यही भाव उनका आन्तरिक व्यक्तित्व कहा जाता है, जो उसकी जीवन चेतना का नियम होता है और रचनाकार के रूप में अपनी रचनाओं को विभिन्न जीवन सन्दर्भों से जोड़ता है।

जायसी के बाह्य व्यक्तित्व पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि उनके बाह्य व्यक्तित्व ने समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना से युक्त उदात्त दृष्टि प्रदान की। उनके पारिवारिक परिवेश और जीवन की सवेदनशील घटना ने एक विशेष जीवनदृष्टि की ओर उन्हें उन्मुख किया। इस दृष्टि के विकास में उनके युगीन परिवेश का हाथ था, जिस पर यथा स्थान विचार करेंगे।

जीवनक्रम की इस श्रृंखला में जायसी ने अन्तर जगत में एक रचना ससार का निर्माण किया। जिसने जायसी के ऐसे आन्तरिक व्यक्तित्व का निर्माण किया कि वह समाजोन्मुखी सांस्कृतिक

¹ पद्मावत, डा० माता प्रसाद गुप्त, पृ० 16

सचेतना से युक्त रचनाओं की रचना करने लगे। अब हम जायसी के आन्तरिक व्यक्तित्व का स्वरूप रेखांकित करते हुए उनके काव्य में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के निर्माण में उसकी भूमिका पर विचार करेंगे।

आन्तरिक व्यक्तित्व के निर्माण में स्वभाव की दृष्टि से 'मनोवैज्ञानिकों ने शरीर के प्रमुख तत्वों की भूमिका स्वीकार की है। शरीर के प्रमुख तत्वों के आधार पर व्यक्तित्व को चार वर्गों में विभाजित किया गया है - 1 रक्त प्रधान या प्रसन्न, 2 पित्त प्रधान या क्रोधी, 3 रक्तहीन अथवा विषण्ण तथा 4 श्लेष्म-प्रधान, उदासीन अथवा भावहीन। रक्त प्रधान अथवा प्रसन्न स्वभाव का व्यक्ति, सक्रिय किन्तु दुर्बल होता है और पित्त प्रधान अथवा क्रोधी स्वभाव का, सजग तथा कार्य में शीघ्रता का आकांक्षी। विषण्ण स्वभाव का व्यक्ति, चरित्र-बल वाला होता है, किन्तु वह निष्क्रिय तथा अवसन्न रहता है, श्लेष्मिक, उदासीन अथवा भावहीन व्यक्ति धैर्यवान तथा सबल होने के साथ ही सुस्त एवं मद प्रकृति का होता है।'¹

उपर्युक्त आधार पर यदि हम जायसी के व्यक्तित्व का आकलन करना चाहें, तो वह किसी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आते। उनकी रचनाओं के आधार पर उनका व्यक्तित्व एक ऐसा बिम्ब छोड़ता है जिसमें सभी स्वस्थ पक्ष समाहित हैं, व्यक्तित्व निर्माण के सभी मूल-तत्त्व मानो उन्हें सन्तुलित मात्रा में मिले हैं। वे एक ऐसे व्यक्तित्व के धनी हैं, जो एक सृजनशील रचनाकार के रूप में अपनी छाप छोड़ता है। उनकी सृजनशीलता केवल उनकी काव्य कृतियों को ही रचना का आयाम नहीं देता, बल्कि सामाजिक संरचना की स्वस्थ दिशाओं के आधार पर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहता है। जायसी की रचनाओं ने प्रतिबिम्बित दिशाओं के आधार पर जायसी के आन्तरिक व्यक्तित्व का रेखांकन निम्नलिखित बिन्दुओं पर किया जा सकता है।

3.1.1.2.3 अचेतन मन का स्वस्थ प्रकाशन

व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में अचेतन मन की एक विशिष्ट भूमिका है। अचेतन मन का निर्माण विभिन्न ग्रन्थियों (complex) के आधार पर होता है। व्यक्ति की अतिरिक्त आकांक्षाएँ उसमें

1 मध्यकालीन महाकाव्य व्यक्तित्व विश्लेषण, डॉ० लालता प्रसाद सक्सेना पृ० 19

ऐसी ग्रन्थियों का निर्माण करती है, जिनके आधार पर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जायसी ने अपने अचेतन मन की ग्रन्थियों का विकास स्वरूप दिशा में किया है। उनकी हीनता की ग्रन्थि जो उनके अनाथ, निर्धन एवं कुरूप होने का परिणाम थी और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर क्षति-पूर्ति की आकांक्षा रखती थी, इस क्षति-पूर्ति की भावना ने उनमें आध्यात्मिक प्रेम, विचारशीलता और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना की दिशाओं को विकसित किया। उनकी आत्म-प्रकाशन की प्रबल वासना, अन्तर जगत की रचना के माध्यम से बाह्य समाज की रचना की ओर उन्मुख हुई।

3.1.1.2.4 नैतिक अहं से संचरित सुखेच्छा का विकास

मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व में नैतिक अहं और सुखेच्छा का निरन्तर टकराव होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से सुखेच्छा और अहं मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के दो प्रमुख घटक हैं। अहं जब नैतिक परिवेश के साथ जुड़ जाता है, तो उसका विकास सामाजिक सदर्भ में रचनात्मक होता है। इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व नैतिक अहं के साथ विकसित होता है। दूसरी तरफ सुखेच्छा मानवीय संरचना की मूल प्रवृत्ति है। सामान्य व्यक्ति की सुखेच्छा ही उसके व्यक्तित्व का परिचालन करती है। जायसी का व्यक्तित्व एक विलक्षण व्यक्तित्व था। अध्यात्म और व्यवहारिक जीवन के यथार्थ से समन्वित उनके व्यक्तित्व में सुखेच्छा का निमीलन हो गया जिससे उन्हें नैतिक अहं में सुख की अनुभूति हुई। यही कारण है, कि वे निर्धन होते हुए भी पापाचार से दूर रहकर सदैव सदाचार पूर्ण जीवन-यापन करते रहे। खेतों में काम करते समय वे कभी अकेले भोजन नहीं करते थे, उनके इसी नैतिक अहं ने अध्यात्म के क्षेत्र में खण्ड-चेतना से अखण्ड चेतना की ओर उन्मुख किया। जायसी की ये पक्तियाँ उनके इसी व्यक्तित्व की ओर संकेत करती हैं –

‘बुदहि समुद्र समान, यह अचरज कासौ कहौ?

जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु महँ।।’¹ (अखरावट)

जायसी के व्यक्तित्व की इस दिशा ने इनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को दृढ़ आधार दिया। इसी आधारभूमि पर उनकी काव्य कृतियों के रचना-विधान की रचना हुई है। इस पर यथा स्थान हम विचार करेंगे।

1 अखरावट जायसी गन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 308

3 1 1 2 5 उदात्त-प्रेम का रस-सिद्ध विकास

प्रेम मानवीय व्यक्तित्व में सहज स्वाभाविक गुण होता है। जीवन के विविध प्रसंगों में प्रेम का विस्फार जीवन को एक रचनात्मक आधार देता है। यह प्रेम भाव सकीर्णता से निकलकर ज्यो-ज्यो सृष्टि के विराट् रूप में प्रवेश करता है। परम् प्रेम या प्रेम के उदात्त स्वरूप में इसका विकास होता है। जायसी के व्यक्तित्व का प्रमुख तत्त्व प्रेम ही है। उसकी प्रेम भावना उनके सासारिक जीवन से विकसित होकर सृष्टि के कण-कण में प्रवेश करके प्रेम तत्त्व का साक्षात्कार करती हुई सृष्टि में उन्हें प्रेम साधना का अनन्य साधक बना देती है। इससे जायसी का व्यक्तित्व स्वयं प्रेम पर पर्याय बन जाता है, और उनके व्यक्तित्व का विकास उदात्त रूप में प्रेम की रस सिद्धि के साथ होता है। जायसी के व्यक्तित्व में सचरित प्रेम की दिशा ने उदात्त प्रेम को समाजोन्मुखी संस्कृति का एक अंग बना कर प्रस्तुत किया। इस पर विस्तार से विचार हम आगे अध्याय में करेंगे। प्रेम के सदर्थ में जायसी के व्यक्तित्व की व्यञ्जना हमें स्थान-स्थान पर मिलती है। प्रेम के प्रति जायसी कितने सतर्क और गम्भीर है वह नीचे की पक्तियों में देखा जा सकता है —

“जौ लहि आप हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोइ।

पेम-पहार कठिन विधि गढा। सो पै चढे जो सिर सौ चढा।

पथ सूरि कै उठा अकूरु। चोर चढै की चढ मसूरु।।”¹ (पद्मावत)

3 1 1 2 6 भगवद् भक्त

जायसी के व्यक्तित्व में सचरित प्रेम उनको भगवद् भक्त की मनोभूमि पर ले जाकर बैठा देता है। वह एक भावुक व्यक्ति है। उनकी प्रेमा-भक्ति सामाजिक सदर्थ में भावना के संचार के साथ एक विलक्षण रूप में स्वरूप ग्रहण करती है। भक्ति के लिये आवश्यक गुण विनय, विरक्ति, ईश्वर-विषयक अवधारणाओं में आस्था, धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण में निष्ठा उनके भक्ति व्यक्तित्व में भक्त व्यक्तित्व का रेखांकन करती है। जायसी में अहंकार बिल्कुल नहीं था सच्चे भक्त के रूप में विनम्रता की पराकाष्ठा उनके व्यक्तित्व में दिखाई देती है

1 पद्मावत प्रेमखण्ड जायसी ग्रन्थावली, पृ० 51

“औ बिनती पड़ितन सन भजा। टूट सँवारहु, नेखहु सजा।

हौ पण्डन कर पछ लागा। किछु कहि चला तबल देइ दगा।।”¹ (पद्मावत)

3 1 1 2 7 सजग, संवेदनशील विचारक

ज्ञान के अभाव में भक्त गहन—अधी आस्था बनकर रह जाता है। जिससे व्यक्तित्व में गतिशीलता का अभाव रहता है। भक्त का व्यक्तित्व संवेदनशीलता के आधार पर ज्ञान और उसकी गतिशीलता के समान वैसे ही सही स्वरूप प्राप्त करता है। जायसी का व्यक्तित्व ना तो भावना शून्य को आधार बना कर चलता है और ना विचार शून्य भावना का पक्षपाती है। उनका व्यक्तित्व एक सजग, संवेदनशील व्यक्ति का व्यक्तित्व है। विजयदेव नारायण साही ने जायसी के व्यक्तित्व का रेखांकन करते हुए उचित ही लिखा है — “जायसी एक आत्मसजग, आत्मविश्वासी और अत्यन्त संवेदनशील कवि थे। एक सशक्त किन्तु अलीक विचारक भी थे, उनकी अनुभूति में वह गहरी तीव्रता थी, जो सृजनशीलता को मनुष्य के प्राणतत्त्व से जोड़ती है।”²

3 1 1 2 8 आत्मगौरव की भावना एवं आत्मविश्वास

जायसी का व्यक्तित्व आत्मनिष्ठा के व्यापक फलक पर विकसित हुआ है। आत्मनिष्ठा की भावना उनके आत्म—विस्तार को आधार बनाकर चलती है। जिसमें उनके गम्भीर चिन्तन की आत्मसत्ता के रूप में सामाजिक विसंगतियों की अहम् भूमिका है। इसी आत्मनिष्ठा के परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व में आत्मगौरव की भावना और आत्मविश्वास का विकास हुआ। उनके व्यक्तित्व की ये दिशाये उनकी रचना और व्यक्तित्व के सन्दर्भ में देखी जा सकती है। जायसी ने अपनी हीनताओं को भी सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा। समाज में काना होना अशुभ तथा उपहास का विषय रहा है। अपनी इस हीनता को जिस प्रकार जायसी स्वाभिमान के साथ न केवल स्वीकार करते हैं, वरन् उसे विश्वव्यापी श्रेष्ठता के आलौकिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वह एक आत्मचेता कवि की गर्वोक्ति का रूप है। कवि में आत्मविश्वास है कि रचना को सुन उसकी काव्य—प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना कोई रसज्ञ नहीं रह सकता। वह इस काव्यानुभव के तथ्य से पूरी तरह परिचित

1 पद्मावत स्तुति खण्ड, जायसी ग्रन्थावली, पृ० 31

2 कबीर और जायसी ग्राम संस्कृति, डॉ० लक्ष्मीचन्द, पृ० 101

है कि उसका आस्वादन रसज्ञ श्रोता या पाठक ही कर सकता है। फूल के साथ रहकर भी काँटा उसके रस गंध से असम्प्रक्त रहता है, पर भौरा दूर रहकर भी उसका पान कर जाता है।

3.1.1 2.9 मानवीय मूल्यों का समर्थक

भक्ति और विचारशीलता की खेती मानवीय जीवन की भूमि पर होती है। जायसी के भक्त और अध्यात्म व्यक्तित्व का विकास मानवीय जीवन के बीच से हुआ है। मानवीय मूल्यों को आधार बनाकर मनुष्य ने ही एक सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था की स्वरूप संरचना की है। जो मानवीय मूल्यों पर आधारित है। जायसी का व्यक्तित्व भी इन्हीं मानवीय मूल्यों का समर्थक है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये उनका कवि व्यक्तित्व रचना के रूप में एक नये समाज की रचना करना चाहता है। डॉ० रघुवंश ने जायसी के कवि व्यक्ति स्वरूपाकन करते हुए सच ही कहा है – “जायसी कवि व्यक्तित्व के आधार पर अपने युग के इतिहास की कल्पना करते हैं, पर वह तथ्यों से निर्दिष्ट नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने अपने समाज को जिस तटस्थ दृष्टि से देखा है और परिवेश का निर्माण किया है, वह उनके व्यक्तित्व के माध्यम से तत्कालीन जीवन की विराट कारुणिक स्थिति की अभिव्यक्ति कर सकी है। यह कवि ही की दृष्टि हो सकती है कि उस युग के हिन्दू-तुर्क सत्ता संघर्ष और धार्मिक उन्माद के बीच मानव-मूल्य की अभिव्यक्ति कर सके।¹ कवि जायसी किसी सम्प्रदाय या मत से प्रतिबद्ध नहीं थे। उनकी यत्र-तत्र मिलने वाली जीवन झोंकियों से उनका कवि व्यक्तित्व उजागर होता है। इससे यह देख पाना सहज हो जाता है कि अपने रचनाक्रम में मूल संवेदना को ग्रहण करने वाला यह उनका कवि व्यक्तित्व ही है, जो समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना से युक्त है। इस सन्दर्भ में उपयुक्त ही कहा है – इस प्रकार अपनी कल्पना से जिन मूल्यों की भूमिका को जायसी निर्मित कर रहे हैं, वह युग की अनेक विसंगतियों, विडम्बनाओं, कुरूपताओं के बीच आर्चिभूत हुई है। वह किसी आदर्श नैतिक-मूल्य जगत की प्रतिष्ठा करने में सलग्न नहीं है, केवल मानव-जीवन की विशद् भावमयी अभिव्यक्ति में इस मनोलोक को प्रकाशित करते हैं। इस कारण जायसी ना कबीर के समान युग की मूल्यहीन परिस्थिति को चुनौती देते हैं और ना तुलसी के समान आदर्श युगों की मूल्य दृष्टि के आधार पर समाज का उद्बोधन करते हैं। जायसी ने केवल

1 जायसी एक नई दृष्टि, डॉ० रघुवंश, पृ० 42

रचना के स्तर पर युग के सन्दर्भ में 'विषादमयी' दृष्टि से कारुणिक भावभूमि पर मूल्य दृष्टि को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

3.1.1.2.10 रचनाशीलता

जायसी का व्यक्तित्व एक प्रधान गुण उनकी रचनाशीलता है, वे अपनी रचनाओं के माध्यम से एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं। जो मानवीय मूल्य और प्रेम भावना पर आधारित हो। उनका व्यक्तित्व ने इसी दिशा में 'पद्मावत' जैसी कृति की रचना की, जो मानवीय जीवन स्वरूप संरचना को एक सही दिशा देना चाहता है। जायसी जीवन को गतिहीन नहीं देखना चाहते। गतिशीलता उनकी रचनाशीलता का परिणाम है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सामाजिक संबंधों की पुनर्रचना सी दिखाई देती है। उनकी रचनाशीलता ही उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के रूप में बदल गई है।

3.1.1.2.11 अध्यात्म एवं प्रेम का समन्वय

जायसी के व्यक्तित्व का निर्माण अध्यात्मिक और प्रेम की आधार शिला पर हुआ था। उन्होंने जीवन के लौकिक स्वरूप को और उसकी विषमताओं को बहुत पास से देखा है। जिससे उनकी प्रेम चेतना का एक लौकिक बिन्दु आध्यात्मिक संस्कार के पश्चात्, उन्होंने सृष्टि के कण-कण में उस एक सत्ता के प्रसार की व्यापक अनुभूति की। इस व्यापक अनुभूति ने लोक प्रेम में उस आध्यात्मिक सत्ता के प्रति प्रेम की अनुभूति का संचार किया।

जायस में जिस रूप के दर्शन करके जायसी को सारा संसार दर्पण की तरह दिखने लगा था – स्वयं द्रष्टा, जायस में देखे गये उस रूप से प्रेम भी अवश्य हुआ होगा, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार जहाँ-जहाँ रूप है वहाँ-वहाँ प्रेम होगा ही और रूप जितना व्यापक होगा, प्रेम उतना ही अधिक गहरा होगा। प्रेम का मार्ग कठिन है। लोक में प्रेम-साधना अध्यात्म के मार्ग से ही की जा सकती है। जायसी की रचनाओं के आधार पर उनके व्यक्तित्व की दिशा स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है।

3 1 1.2 12 तत्त्व चिन्तक

व्यक्ति ज्यो-ज्यो जीवन और सृष्टि संरचना की गहराईयो में उतरता जाता है, उसका व्यक्तित्व तत्त्व चिन्तक के व्यक्तित्व के रूप में विकसित होता है। जायसी के जीवन ने उन्हें तत्त्व चिन्तन की ओर उन्मुख किया। विभिन्न आध्यात्मिक साधनों ने उन्हें तत्त्व चिन्तन की दृष्टि दी। इस दृष्टि ने उन्हें जीवन को समझने के लिये प्रेरित किया। परिणामस्वरूप उन्होंने मानवीय जीवन की सार्थकता-निरर्थकता, मानवीय शरीर की गति और अपनी अर्थवत्ता तथा संसार की दृष्टि पर गंभीरता से विचार किया। “हठयोग में जायसी की गहरी आस्था थी, लेकिन हठयोगी की तरह दिव्यदेह या अमरदेह में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने बड़ी पीड़ा के साथ देखा था कि युवा शरीर किस तरह धीरे-धीरे क्षीण होता है, बल कैसे घटता है, दृष्टि कैसे मन्द हो जाती है। दाँतों के गिरने से चिपके हुए गाल और तुतली ज़बान की अरुचिकरता का भी उन्हें अनुभव था। उन्हें पता था कि यौवन के चले जाने से ही जी मरे के समान हो जाता है और अन्ततः मर जाता है।”¹

अतः शरीर की अमरता में उनकी आस्था नहीं थी जायसी ने बहुत साफ शब्दों में लिखा है कि इस नश्वर शरीर का क्या भरोसा? कब है कब साथ छोड़ दे। कहाँ रहा रत्नसेन जो राजा था, कहाँ रहा, पद्मावती के रूप का बखान करने वाला राघव-चेतन और कहाँ रही वह सुन्दरी रानी पद्मावती! कोई नहीं रहा। संसार में बस कहानी ही रह गई। धन्य है वह पुरुष जिसकी इतनी कीर्ति हो। फूल मर जाता है, लेकिन सुगन्ध नहीं मरती। यश ही तो एक चीज़ है, जिसे न कोई बेच सकता है और न कोई खरीद सका। बस इस कहानी को पढ़ने वाले दो शब्दों में मुझे याद कर ले, यही बहुत है। इसी के लिये मैंने यह काव्य रचकर सुनाया है। मैंने इस प्रेम-कथा को रक्त की लेई लगाकर लिखा है। सोचता हूँ शायद यही दुनिया में मेरा स्मारक बन जाये।²

3 1 1 2 13 धार्मिक उदात्तता एवं स्वतन्त्र चिन्तन

मलिक मुहम्मद जायसी का व्यक्तित्व विकास की उस मनोभूमि पर पहुँच गया था। जहाँ सकीर्णता के सभी घेरे टूट जाते हैं। उनकी आस्था और उनका चिन्तन किसी धारा विशेषतर सीमित

1 पद्मावत, 653

2 पद्मावत, 652

नहीं था। वे अपने पद्मावत का प्रारम्भ पौराणिक चेतना से करते हैं। आस्था को इस्लाम का धरातल देते हैं। तत्त्व चिन्तन के लिये हठयोग और अद्वैत का सहारा लेते हैं। जीवन सदर्भों में उस प्रेम तत्त्व को लेकर चलते हैं जो सूफी चिन्तन का प्राण कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जायसी के व्यक्तित्व में धार्मिक उदात्तता थी, स्वतन्त्र चिन्तन था, जिसने काव्य रचना के लिये उन्हें समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना से सम्पन्न दृष्टि प्रदान की। यही दृष्टि हमारे शोध का प्रमुख बिन्दु है।

3.2 काव्य साधना

3.2.1 कृतियों का सामान्य परिचय

काल के प्रवाह में कवियों के रचना ससार के संबंध में एक विभ्रम की स्थिति खड़ी हो जाती है। अनेक रचनाएँ लुप्त हो जाती हैं, तो अनेक के सम्बन्ध में प्रामाणिकता का प्रश्न खड़ा हो जाता है। जायसी की कृतियों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति बनी हुई है। विद्वानों द्वारा जायसी की रचनाओं के सदर्भ में की गई शोध के आधार पर जिन रचनाओं का उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है

1 पद्मावत	2 अखरावट	3 आखिरी कलाम
4 सखरावत	5 चपावत	6 इतरावत
7 मटकावत	8 चित्रावत	9 खुर्दानामा
10 मोराईनामा	11 मुकहरानामा	12 मुखरानामा
13 पोस्ती नामा	14 होली नामा	15 नैनावत
16 स्फुट छंद	17 कहार नामा	18 मेखरावट नामा
19 घनावत	20 सोरठ	21 जपजी
22 मैनावत	23 लहतावत	24 सकरा नामा
25 मसला नामा	26 चित्ररेखा	

उक्त ग्रन्थों में पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम आदि कुछ रचनाएँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं। इन रचनाओं के स्वरूप, भाषा, विषय तथा अन्य सन्दर्भों में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। अन्तःसाक्ष्य के रूप में अनेक स्थानों पर दोहराया गया कवि का नाम इस बात का स्पष्ट

प्रमाण है कि ये रचनाये जायसी कृत है। ग्रन्थ 2 से 14 तथा 18 का उल्लेख वही से मिलता है। ग्रन्थ 15 का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली के भूमिका भाग पृष्ठ 16 पर किया है। ग्रन्थ 16 का उल्लेख सैयद कल्बे मुस्तफा ने मलिक मुहम्मद जायसी (194) पृष्ठ 164 में किया है, ग्रन्थ 17 का उल्लेख नागरी प्रचारिणी भाग 14 में 418 पृष्ठ पर मिलता है, 18,19,20 ग्रन्थों का उल्लेख तासी ने 'इस्तवाद तुला लितैरात्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' भाग-2 (1870) पृष्ठ 68 पर किया है। तासी का कथन है कि सोरठ तथा जपजी की पाडुलिपियाँ 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में और धनावत की प्रति डा० स्प्रेगर के पास है।'¹

यहाँ हमारा लक्ष्य जायसी की रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करना नहीं है, अपने शोध विषय के आधार के रूप में हम जायसी की उन्ही रचनाओं को लेंगे जिन पर अधिक मतभेद नहीं है। अपने अध्ययन को आधार देने के लिये हमें जायसी की रचनाओं पर एक विशेष शोधपरक दृष्टि से विचार करना होगा।

3.2.1.1 आखिरी कलाम

यह कृति सन् 936 हि० (सन् 1530 ई०) की है। यह काव्य मुगल राज्य के संस्थापक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के समय का है — “बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कह विधि साजा” (341) बाबर ने 21 अप्रैल सन् 1526 ई०² को इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रख्यात युद्ध में परास्त करके दिल्ली और आगरा पर अधिकार प्राप्त किया था और बाबर का राजत्व काल सन् 1426 से 1530 ई० तक माना है।

‘आखिरी कलाम’ की पंक्ति ‘जायस नगर मोर स्थानू’। प्रकट करती है कि जायसी इस पंक्ति की रचना के समय जायस से भिन्न स्थान पर निवास कर रहे थे और वह स्थान संभवतः शाही दरबार था, जिसकी प्रशंसा उन्होंने मुक्त कण्ठ से की है तथा जिस राजा की दान-वीरता को जी खोलकर सराहा है।³

1 जायसी साहित्य और सिद्धान्त, यज्ञदत्त शर्मा, अध्याय 3, पृष्ठ 23

2 रश ब्रुक विलियम्स, एन एम्पायर बिल्डर ऑफ़ सिक्सटीन्थ सेन्चुरी, पृष्ठ 134

3 आखिरी कलाम 7वें तथा 8 वें के बीच की चौपाईयाँ

‘कलाम’ का शब्दार्थ वकृता — साहित्यिक कृति एवम् आपत्ति होते हैं¹ तथा इसके साथ आखिरी विशेषण लगा देने पर इसका अर्थ व्यजना, कलाम पाक, कलामुल्ला, कलाम—मजीद के रूप में होता है। जिसका अर्थ कुरान से होता है। इसमें अन्तिम रसूल पर ईश्वरीय अनुकम्पा से उतरी हुई वहियो (ईश्वरी आदेशों) का उपदेशामत संग्रहीत है। संभवतः इसी आधार पर इस रचना का नाम आखिरी कलाम रखा गया है।

‘आखिरी कलाम’ में कवि ने सर्वप्रथम ईश—स्तुति करके अपने जन्मकाल के भूकम्प का वर्णन किया है। रसूल स्तुति बादशाह की प्रशंसा, गुरु—वदना, जायस वर्णन, काव्य का रचनाकाल आदि के पश्चात् प्रलय—काल का वर्णन करते हुए कवि पृथ्वी द्वारा द्रव्य उगलना, मिकाइल फरिश्ते द्वारा चालीस दिन तक अग्नि की वर्षा से सृष्टि के नाश का वर्णन किया जाता है। इसी क्रम में जिबराइल द्वारा मुहम्मद साहब को पुकारना, मुहम्मद साहब की उम्मत द्वारा पुल सरात पार कर लेना और पापियों का समुद्र में गिर जाना आदि प्रसंगों का वर्णन आता है। इसके पश्चात् सूर्य छ मास तक तपता रहा। रसूल छाया में बैठे रहे। रसूल को अपने अनुयायियों की चिन्ता थी। रसूल ने उम्मत के सारे कष्ट अपने ऊपर लेकर परमात्मा से विनती की। खुदा ने कुपित हो फातिमा की खोज करवाई और वह न्याय के लिये हसन—हुसैन को लेकर खुदा के पास पहुँची और फातिमा ने कहा कि वह न्याय न करने पर श्राप दे देगी। तब खुदा ने रसूल को, उसकी उम्मत को नरक में डालने की धमकी दी और फातिमा को शान्त होने को कहा फातिमा को पिता पर दया आ गयी और हसन—हुसैन के घातक को नरक में डाल दिया गया। मुहम्मद साहब ने सबको क्षमा करा दिया। रसूल की प्रार्थना पर ईश्वर ने सबको दर्शन दिये। दर्शन पाकर सब बेहोश हो गये। तीसरे दिन जिबराइल ने आकर जगाया तथा स्वर्ग को ले गये। अन्त में स्वर्ग का वर्णन कर जायसी ने काव्य को समाप्त कर दिया।

3 2 1 2 अखरावट

अखरावट जायसी की प्रमुख रचनाओं में से एक है। यह 479 पक्तियों का छोटा सा काव्य है जिसमें 54 दोहे, उतने ही सौरठे तथा 371 चौपाईयाँ हैं।

1 हिन्दुस्तानी—इंग्लिश डिक्शनरी।

‘अखरावट’ शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने अक्षरवृत्त के तद्भव रूप में मानी है, यह उचित ही जान पड़ता है। कुछ विद्वान इसका नाम ‘अखरावत’ अथवा ‘अखरावटी’ किंवा ‘अखरौटी’ भी मानते हैं। जिसका आधार जायसी की इन पंक्तियों के आधार पर निकली हुई नाम ध्वनि है—

“कहौ सो ज्ञान ककहरा, सब आखर गहँ लेखि।

पडित पढ़ै अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि।।”¹ (303)

परन्तु जायसी के अन्य ग्रन्थों ‘पद्मावत’, सखरावत, इतरावत, मटकावत आदि के अनुकरण पर इस काव्य का नाम ‘अखरावट’ ही अधिक ठीक प्रतीत होता है।

विद्वानों की धारणा है कि ‘अखरावट’ सं० 1575 वि० (1518 ई०) से पूर्व की रचना है। जायसी ने इस काव्य का रचना काल नहीं दिया है और न इसमें अन्तःसाक्ष्य के रूप में काल-निर्णय सम्बन्धी कोई प्रमाण मिलता है। ‘अखरावट’ जायसी का सिद्धान्त ग्रन्थ है। ‘जनश्रुति के आधार पर भी ‘अखरावट’ की रचना अमेठी के राजा के कहने पर हुई थी।”²

सर्वप्रथम कवि ने शून्यावस्था में केवल ब्रह्म की स्थिति का वर्णन किया है ब्रह्म को अपना ऐश्वर्य प्रकट करने की इच्छा हुई इस हेतु समस्त संसार की रचना हुई। सर्वप्रथम चार फरिश्तों को रचा गया। इस तरह आदम की उत्पत्ति हुई। ईश्वर ने फरिश्तों को आज्ञा दी कि इसको प्रणाम करो। इब्लीस के अतिरिक्त सबने आदम को ‘सिजदा’ किया। इब्लीस को अनन्य भक्त समझ कर दशम द्वार का पहरूआ नियुक्त किया गया।

इसके उपरान्त होआ की रचना हुई और इन दोनों स्वर्ग में रहने के लिये भेज दिया गया। उन्होंने नारद के बहकाने से वर्जित फल ‘गेहूँ’ खा लिया। इस अपराध के कारण उन दोनों को वहाँ से निकाल दिया गया। वे दोनों बहुत समय तक वियोग में तड़पते रहे। अन्त में भगवान् की कृपा से उनका पुनर्मिलन हुआ। इस प्रकार उन दोनों से सृष्टि का निर्माण हुआ। हिन्दू और तुरुक दोनों उन्हीं की सन्तान हैं।

1 अखरावट, छंद 303

2 पद्मावती, भूमिका, ए०जी० शिरेफ, पृ० 5

इसके पश्चात् कवि ने वर्णन किया कि इस शरीर की रचना भी ससार की भाँति की गई है। इसी शरीर में स्वर्ग—नरक, सूर्य—चन्द्र, रात—दिन, पुल सरात, आदि सभी हैं। कवि ने श्रवण, आख, नाक और मुख में चार सेवक, फरिश्ते, मित्र, इमाम, आस्मानी पुस्तको आदि की कल्पना की है। इसके पश्चात् कवि ने मन की चंचलता का वर्णन किया है। फिर कवि ने शरीर के सात खण्डों में सात ग्रहों की कल्पना की है। वास्तव में केवल वही ससार में व्याप्त है और सब उसी के रूप हैं। इसके पश्चात् कवि ने अपनी धारणा प्रकट की है कि यदि इस जन्म में उसका परिचय न किया गया तो वह जन्म व्यर्थ है।

इसके बाद कवि ने ससार की असारता प्रकट कर तप साधना का उपाय बताया है। साधना का तथा गुरु के महत्त्व का विवेचन किया है। समस्त धर्मों ने इस्लाम धर्म को श्रेष्ठ बताया है। गुरु परम्पराओं की प्रशंसा की है।

इसके पश्चात् हंस—रूपक, शून्य—विवेचन, घी—रूपक तथा दीपक—रूपक का वर्णन किया है। शरीर दर्पण का पूर्ण रूपक वर्णन कर आदम नाम की व्याख्या की है। अन्त में अपनी साधना को गुप्त रखने का आदेश देकर कबीर की प्रशंसा करते हुए जुलाहा—कर्म—रूपक के साथ अक्षरपरक कविता समाप्त कर दी है।

तदन्तर चेला—गुरु सवाद के रूप में सिद्धान्त विवेचन किया है। चेला प्रश्न करता है “एक होकर किस प्रकार अन्य को प्रतीति होती है अहंकार किस प्रकार मिटाया जा सकता है?” गुरु समाधान करता है कि वास्तव में वही सत्य है। व्यवहार में अन्य का बोध होता है फिर वही रह जाता है। शिष्य पुनः आपत्ति करता है, “यदि सब कुछ वही है, तो मनुष्य एक को प्रेम और अन्य को घृणा क्यों करता है?” गुरु सूर्य के प्रकाश के उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझाता है। शिष्य अन्तिम प्रश्न करता है कि आकाश किस पर स्थित है? बादल—बिजली कहीं से आती है? आदि। गुरु उत्तर में पवन के महत्त्व का वर्णन करता है और समझाता है कि सब कुछ उसी की आज्ञा से होता है। अंत में गुरु ईश्वर के गुणों का गान करता है। समझाता है कि धैर्यपूर्वक साधना में लग जाना चाहिये और प्रेम गाथाएँ वर्णन करनी चाहिये क्योंकि कहने वाला तो शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा परन्तु कहानी बहुत दिनों तक चलती रहेगी। इसके बाद जायसी ने काव्य का समाप्त कर दिया।

3 2 1 3 पदमावत

जायसी के काव्यो मे 'पदमावत' एक लोकप्रिय एव साहित्य की अमूल्य-निधि है। अनेक लोगो के पास उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी सुरक्षित है।

जायसी की इस रचना के नामकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। 'लाला सीताराम' इसे पदमावत कहते है। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ¹ के विचार से 'अवधी भाषा के सामान्य नियमो के अनुसार इस काव्य का नाम 'पदुमावती' अधिक सही है। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी भी 'इसका नाम पदुमावती' ही होना चाहिये, ऐसा मानते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'पदमावत' कहा है। खैर कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट ही है, कि रचना की नायिका पदमावती को ही रचना के नामकरण का आधार बनाया गया है।

'पदमावत' काव्य का शुभारम्भ ईश्वर वन्दना से हुआ है, जायसी ने सम्पूर्ण कथा को खण्डो मे विभाजित कर प्रत्येक खण्ड का सुन्दर वर्णन किया है। 'पदमावत' की कथा की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है —

स्तुति-खण्ड

इस खण्ड मे कवि ने ससार को बनाने वाले, पैगम्बर, पैगम्बर के चारो दोस्त, शाहे वक्त तथा गुरु-परम्परा का वर्णन और उसकी स्तुति की है। साथ-साथ कवि ने अपना परिचय और अपने मित्रो तथा ग्रन्थ की रचना काल को भी बताया है। इसके पश्चात् सम्पूर्ण ग्रन्थ की अति संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है।

सिंघलद्वीप वर्णन खण्ड

इस खण्ड मे कवि ने सिंघल द्वीप की जो सातो द्वीपो मे उच्च है उसका वर्णन किया है। फिर सिंघल नरेश का परिचय देते हुए प्रकृति का वर्णन किया है। सिंघल नगर के ऊँचे-ऊँचे मकान बाजार, वैश्याये, मालिन, नट, चिडियो आदि की चर्चा की है इसके पश्चात् गढ का वर्णन का गढ की ऊँचाई, कोतवाल राजमहल तथा इसी के साथ गन्धर्व सेन की पटरानी चम्पावती का वर्णन किया है।

1 मलिक मुहम्मद जायसी डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, प्रथम भाग, पृ० 24

जन्म खण्ड

इस खण्ड में गन्धर्वसेन और चम्पावती की सन्तान पद्मावती के जन्म का, शैशव और युवावस्था का वर्णन किया गया है। पद्मावती अत्यन्त सुन्दरी थी। पाँच वर्ष के होने पर उसने पढ़ना प्रारम्भ किया। जब वह बारह वर्ष की हुई तो उसे अलग महल दिया गया है। उसकी अनगिनत सखियाँ थी और एक तोता जिसका नाम हीरामन था। तोता महापंडित था। गन्धर्वसेन को वैभव का गर्व है वह किसी की ओर देखता नहीं है तो पद्मावती हीरामन से कहती है कि देश-देश के वर आते हैं लेकिन पिता उनकी तरफ देखता भी नहीं है। तब तोता उसके लिये योग्य वर खोजकर लाने को कहता है। यह बात किसी दुर्जन ने राजा को बता दी और राजा ने तोते को मारने की आज्ञा दी। तोता रानी की आज्ञा लेकर वन में चला गया।

मानसरोदक खण्ड

इस खण्ड में पद्मावती के सरोवर जल-विहार का वर्णन है। एक दिन पूर्णमासी के दिन पद्मावती सखियों के साथ स्नान करने गई तभी एक सखी ने कहा कि हमें नैहर के चार दिन ही रहना है फिर हम ससुराल चली जायेंगी, फिर कहाँ ये सरोवर और सखियाँ होगी। ससुराल में ननद बोलने ही नहीं देंगी ऊपर से प्रिय पता नहीं कैसा होगा। बातें करते-करते सब झूला झूलने लगती है। फिर पद्मावती ने स्नान किया, एक सखी ने जल क्रीड़ा करते-करते हार खो दिया वह रोने लगी। पद्मावती तालाब में घुसी अपने आप पानी उतरा और हार मिल गया। सभी प्रसन्न हो गई।

सुआ खण्ड

हीरामन तोता उड़ गया और वन में बहुत से पक्षियों से मिला। सबने उसका आदर किया। एक दिन एक व्याघ्र के जाल में हीरामन फँस गया और वह उसे अपने साथ ले गया।

रत्नसेन जन्म खण्ड

चित्तौड़ में चित्रसेन नामक राजा के रत्नसेन पुत्र का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने उसे सौभाग्यशाली बताया और कहा ये पद्मावती से विवाह करेगा और सिंहाल द्वीप में जाकर सिद्ध बनेगा।

बनिजारा खण्ड

चित्तौड़ का एक व्यापारी सिघलद्वीप व्यापार करने गया। वह ऋण लेकर गया था, सिघल द्वीप पहुँचकर उसने वहाँ का बाजार देखा तथा वहाँ के दामो को देखकर निराश हो गया। हीरामन तोते को देख वह विमोहित हो उठा, उसने तोते से पूछा – तुममें कुछ गुन भी है या तू निरगुन ही है। हीरामन ने उत्तर दिया – मैं ब्राह्मण और पंडित हूँ पिजड़े के बाहर था तो सभी गुन थे अब कोई गुन नहीं। ब्राह्मण उसे खरीद कर चित्तौड़ ले गया। रत्नसेन पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा। तभी सब विचित्र वस्तुएँ लेकर दरबार में पहुँचे, ब्राह्मण भी तोते को लेकर पहुँचा। राजा ने पंडित को बुलाया तोते से पूछा तो तोते ने कहा मेरा नाम हीरामन है, मैं तुम्हारी भेट पद्मावती ने करवा दूँगा। रत्नसेन ने उसे मोल ले लिया।

नागमती-सुआ संवाद खण्ड

थोड़े दिन बाद राजा शिकार खेलने गया। एक दिन नागमती (जो रत्नसेन की पटरानी थी) ने हीरामन से पूछा कि ससार में मेरे से सुन्दर स्त्री तुमने देखी है तो हीरामन ने पद्मावती की प्रशंसा की। नागमती ने सुना कर तोते को मरवाने की आज्ञा दी किन्तु धाय ने राजा का प्रिय होने के कारण उसे मारा नहीं फिर राजा के लौटने पर हीरामन की खोज हुई, नागमती ने सब कुछ बता दिया। धाय ने तोता लाकर दिया रानी ने राजा को तोता दे दिया।

राजा सुआ संवाद खण्ड

राजा ने तोते से सत्य बात पूछी। हीरामन ने सब कुछ बता दिया कि गधर्वसेन की पुत्री पद्मावती अत्यन्त सुन्दर है। राजा के मन में प्रेम जागा उसने उसके नख-शिख के बारे में पूछा।

नखशिख खण्ड

हीरामन ने कहा – राजा उसके श्रृंगार का क्या वर्णन करूँ उसके बाल कस्तूरी रंग के हैं। मोंग लाल है ललाट द्वितीया का चोंद है इस तरह उसने सारा वर्णन किया।

प्रेम खण्ड

राजा नख-शिख को सुनते ही बेहोश हो गया। राजा को होश आया तो उसने कहा कि मरनपुर में मैं कहाँ आ गया। हीरामन ने समझाया – प्रीति करना अत्यन्त कठिन है। सिघल का पल अगम है। वहाँ जाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु राजा ने शीघ्र ही सिघल यात्रा का निश्चय किया।

जोगी खण्ड

राजा ने राज्य छोड़ दिया और वह जोगी हो गया। उनसे राजसी वस्त्र उतार का भस्म मली। ज्योतिष के कहने पर भी वह नहीं रुका। माता के रोने पर और कहने पर उसने उत्तर दिया – माँ ससार मे कौन किसका है? जहाँ पर अपने शरीर का रोआ ही अपना शत्रु है, वहाँ चदन क्या लगाना? मैं सिधल द्वीप जाऊँगा आशीष दो।' नागमती तथा सारा रनिवास रो रहा था। राजा सोलह सौ कुवरो के साथ सिधल द्वीप की ओर चल पडा। आगे-आगे हीरामन पथ दिखाता चल रहा था।

राजा गजपति संवाद खण्ड

एक माह के पश्चात समुद्र घाट पर पहुँचे, वहाँ राजा गजपति मिला। वह उसने राजा रत्नसेन के जोगी होने का सुनकर उससे मिलने वहाँ आया था। राजा ने उससे जहाजो के इन्तजाम के लिये कहा, राजा गजपति ने कहा – इन्तजाम हो जायेगा किन्तु पथ बडा भयकर है। राजा ने कहा – जहाँ प्रेम होता है वहाँ प्राणो की परवाह नहीं होती।

बोहित खण्ड

राजा वहाँ से चल पडा। जहाजो से सारा समुद्र पट गया। वे एक पल मे सहस्रो कोस की रफ्तार से जा रहे थे।

राजा समुद्र खण्ड

सर्वप्रथम वह खार समुद्र पहुँचे फिर खीर समुद्र जिसमे मोती भरे थे। फिर दधि समुद्र जिसमे दही जमा था, इसके बाद उदधि समुद्र पहुँचे जिससे आग जल रही थी। फिर वे सुरा समुद्र मे आये। फिर किलकिला समुद्र आया। हीरामन ने इसे समुद्र को देखकर कहा कि ये ही समुद्र है जो सिधलद्वीप जाते समय पार करना कठिन है। राजा ने कहा – मैंने प्रेम समुद्र मे अपना जहाज डाल दिया है समुद्र तो उसकी एक बूद के समान ही है। फिर मानसर समुद्र आया जोकि अत्यन्त शान्त था।

सिंघल द्वीप खण्ड

सिधल द्वीप पहुँचे पर हीरामन ने कहा – यह जो ऊँचा गढ है यही पद्मावती रहती है। उसके पास न भौरा ही जा सकता है न पक्षी। मैं पहले तुम्हे उसके दर्शन कराऊँगा फिर प्राप्ति। फिर उसने

कचन का समेरु पर्वत दिखाते हुए कहा — यह जो पर्वत है वहाँ महादेव जी का मंडप है। माघ मास की श्री पंचमी को वहाँ सब पूजा करने आते हैं पद्मावती भी आयेगी। वही तुम उसके दर्शन पा सकोगे। राजा वहीं रहा और हीरामन पद्मावती के पास चला गया।

मंडप गमन खण्ड

वियोग में पागल राजा तीस हजार चेलों के साथ महादेव के मंडप में रहने लगा और पद्मावती की प्राप्ति के लिये उनसे प्रार्थना करने लगा।

पद्मावती वियोग खण्ड

राजा की पद्मावती के विरह में रातें काटे नहीं कटती थी। उधर पद्मावती से धाय ने कहा यौवन रूपी घोड़े को हाथ में रखना चाहिये धैर्य रखो। तुम अभी प्रेम नहीं जानतीं। जब तक प्रिय न मिले, प्रेम पीड़ा अच्छी होती है। पद्मावती ने कहा — मेरा जी तो जल रहा है, यौवन के चोंद के उदित होते ही उसे राहु ने ग्रस लिया है।

पद्मावती सुआ खण्ड

इस वियोग व्यथा के बीच ही हीरामन पहुँच गया। पद्मावती में जैसे प्राण आ गये। हीरामन ने फिर उसे पूरी कथा सुनाई कि वह किस प्रकार व्याघ्र द्वारा पकड़ लिया गया था और राजा रत्नसेन ने मुझे ले लिया। उसे देखकर मुझे इच्छा हुई कि वह तुम्हारे योग्य है। तुम्हारे बारे में सुनकर उसमें प्रेम जागृत हो गया और वह योगी बन यहाँ आया है। उसकी कचन काया तुम्हें विरह में भस्म सी हो गई है। तब पद्मावती ने उससे कहा कि वह उससे पूजा के दिन ही मिलेगी। हीरामन ने रत्नसेन को पद्मावती का सन्देश सुनाया।

बसन्त खण्ड

बसन्त की श्री पंचमी के दिन महादेव की पूजा के लिये पद्मावती गयी उसने प्रार्थना की कि उसे भी वर मिल जाये। फिर वह राजा रत्नसेन से मिली उसे देखते ही राजा बेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके शरीर पर चदन लगाया और चदन से यह लिखा कि जोगी तू भीख लेना नहीं सीखा है, जब घड़ी आई तू सो गया। फिर वह लौट गई उसने सपना देखा, जिसका अर्थ सखियों ने बताया कि उसे वर प्राप्त होने वाला है।

राजा रत्नसेन सती खण्ड

पद्मावती के चले जाने पर रत्नसेन जागा। वह पद्मावती को गया हुआ देखकर रोने लगा और जल मरने का निश्चय किया।

पार्वती महेश खण्ड

उसी समय वहाँ पार्वती-महेश पहुँच गए। राजा ने उनके पूछने पर अपनी कथा बताई। पार्वती को उस पर दया आ गई। पार्वती ने अपना रूप बदल कर कहा — राजकुमार मेरी जैसी सुन्दरी और कोई नहीं। इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। यदि पद्मावती गई तो जाने दो, तुम्हें अप्सरा मिल जायेगी। राजा ने उत्तर दिया — मेरा प्रेम तो एक से है, दूसरे से मुझे कोई मतलब नहीं। पार्वती ने कहा इसका प्रेम गहरा है। अपने वास्तविक रूप आने पर उन्हें देख रत्नसेन रोने लगा। महादेव ने कहा — रोओ मत! जैसे तुम्हारा शरीर नौ पौरी का है, उसी तरह यह गढ़ है। दसवे द्वार तक इसमें चढ़ना पड़ेगा, जो दृष्टि को उलट कर लगाता है वह इसे देख पाता है और वहाँ जा भी सकता है।

राजा गढ़ छँका खण्ड

इस सिद्धि गुटका को पाकर राजा एकाएक महल में घुस गया। राजा ने नौकर को भेजा, रत्नसेन ने नौकरो से कहा मैं पद्मावती का भिखारी हूँ, उन्होंने जाकर राजा से कहा तो राजा गधर्वसेन क्रोधित हो उठा। रत्नसेन प्रतीक्षा में दिन बिताने लगा, फिर उसे हीरामन के द्वारा पद्मावती को पत्र भेजा, पद्मावती ने प्रेम की दृढ़ता का सदेश भेजा। राजा प्रसन्न हो उठा।

गन्धर्वसेन मंत्री खण्ड

राजा ने मंत्रियो ने सलाह ली। सबने रत्नसेन को बन्दी बनाने की सलाह दी। पद्मावती दुखी थी तथा बेहोश हो गयी। फिर हीरामन के आने पर उसने रत्नसेन को एक सन्देश भेजा।

रत्नसेन सूली खण्ड

रत्नसेन बन्दी बनाकर गन्धर्वसेन के पास लाया गया। उसने राजा को सब कुछ सच बताया। महादेव भी उसकी बातों से डोल गये और उन्होंने भाट-भाटिन का रूप धारा कर राजा को रत्नसेन का सच्चा परिचय दिया। हीरामन ने भी साक्षी दी। तब राजा ने विवाह का निश्चय कर रत्नसेन का तिलक किया।

रत्नसेन विवाह खण्ड

लग्न रखी गई, विवाह की तैयारी हुई। सुन्दर वस्त्र लाये गये और बारात सज कर चली। पद्मावती महल के ऊपर से बारात देख रही थी प्रसन्नता के कारण बेहोश हो गई। सखियाँ होश में लाईं। बारातियों की दावत हुई, विवाह सम्पन्न हुआ। सात खण्डों पर सुहागरात के लिये ले जाया गया।

पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड

सखियाँ गाँठ खोलकर पद्मावती को रत्नसेन से अलग ले गईं। सन्ध्या को सखियों ने रत्नसेन से परिहास किया, किन्तु परिहास का उत्तर रत्नसेन ने गम्भीरता से दिया। फिर पद्मावती लाई गई वह सकोच कर रही थी, फिर उसने राजा की उपेक्षा की, किन्तु बाद में दोनों सुखीं थे।

रत्नसेन साथी खण्ड

सवेरे रत्नसेन अपने साथियों के पास आया। उन्हें उसने सोलह हजार पद्मिनी स्त्रियों दिलाईं। वे भी सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे।

षट ऋतु वर्णन खण्ड

पद्मावती ने छहो ऋतुएँ रत्नसेन के साथ सुख के साथ बितायीं।

नागमती वियोग खण्ड

नागमती के दिन रत्नसेन के विरह में बड़े दुखी बीत रहे थे। वह पथ निहार रही थी, परन्तु रत्नसेन न लौटा था। वह सामान्य स्त्री की भाँति रहती थी, गले में हार तक नहीं था। उसे निरन्तर बारह मास रोते-रोते बीत गये। वह जिस पछी के निकट वृक्ष के नीचे बैठी वह पछी जल जाता और वृक्ष बिना पत्तों का हो जाता।

नागमती सन्देश खण्ड

एक दिन एक पछी को दया आ गयी उसने नागमती की कथा सुनी और नागमती ने उससे रत्नसेन के पास सन्देश देने को कहा। पछी ने स्वीकार कर लिया। नागमती ने कहा कि पद्मावती से कहना कि मैं भी उसी पुरुष से ब्याही हूँ मेरा जी भी उसी के समान ही समझे। मैं उसकी स्नेहदृष्टि मात्र चाहती हूँ। मुझे एक बार मेरे प्रिय से मिला दे। रत्नसेन की माँ भी दुखी है। तुम ही उनके लिए

एकमात्र श्रवण कुमार थे। वह तुम्हारी रट लगाये-लगाये मर गई। पछी सन्देश लेकर चला गया। फिर एक दिन राजा शिकार करने आया था, थोड़ी देर बाद वृक्ष के नीचे बैठ गया। पछी ने उसे अपना परिचय देकर नागमती का सन्देश दिया। राजा को चित्तौड़ की याद आ गई। वह उदास हो गया। पद्मावती के पास जाकर भी उदास रहा तब राजा गन्धर्वसेन ने कहा तुम उदास हो जाओगे, तो महल किसका होकर रहेगा?

रत्नसेन-विदाई खण्ड

रत्नसेन ने हाथ जोड़कर अपने राज्य जाने की आज्ञा मागी। गन्धर्वसेन ने बात मान ली। शुभ मुहूर्त में वहाँ से अगठित द्रव्य लेकर रत्नसेन पद्मावती के साथ चल दिया।

देश-यात्रा खण्ड

समुद्र में आधा रास्ता भी तय नहीं हुआ था कि आधी आई जहाज रास्ता भूल गया। विभीषण का केवट राक्षस मछलियों का शिकार करते-करते वहाँ आ गया। राजा के विनती करने पर राक्षस कपट रूप से अत्यन्त गहरे, भवरो से भरे सगर मे ले गया। जहाज डूब गया।

लक्ष्मी समुद्र खण्ड

पद्मावती बहते-बहते समुद्र तट पर लगी। वहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी खेल रही थी। उसने उससे पूछा तो पद्मावती ने रत्नसेन को पूछा, किन्तु लक्ष्मी ने कहा कि मैं तुम्हारे प्रिय को नहीं जानती। पद्मावती सती होने का प्रयास करने लगी। फिर लक्ष्मी ने रत्नसेन को पद्मावती से मिला दिया। वे दोनों अपने देश की ओर बढ़ गये।

चित्तौड़ आगमन खण्ड

नागमती को प्रसन्न देख पद्मावती को भी ईर्ष्या उत्पन्न हुई। दोनों की लड़ाई होने लगी। रत्नसेन वहाँ पहुँचा, उसने समझाया – तुम दोनों का मैं प्रिय हूँ जिस प्रकार दिन-रात आवश्यक है उसी प्रकार तुम मेरे लिये हो। दोनों सन्तुष्ट हो गई।

रत्नसेन सति खण्ड

नागमती के नागसेन और पद्मावती के पद्मसेन नाम के पुत्र हुए। ज्योतिष ने कहा ये दोनों ही बहुत भाग्यवान हैं।

राघव चेतन देश निकाला खण्ड

रत्नसेन के दरबार में एक राघव चेतन नाम का एक पंडित था। राजा के पूछने पर उसके मुँह से अमावस आज है निकल गया। अन्य पंडितों ने कहा कल है। शाम को उसने यक्षिणी बल से चोंद दिखला दिया। किन्तु अगले दिन द्वितीया का चोंद दिखाई दिया। राजा को राघव पर क्रोध आया, उसने उसे राज्य से जाने की आज्ञा दी। पद्मावती को यह पता चला तो वह दुःखी हुई तभी वह झरोखे पर आई। राघव चेतन जा रहा था, पद्मावती ने अपना कगन उसकी तरफ फेंका और मुस्कराई। राघव चेतन उसे देख बेहोश हो गया। फिर वह चला गया।

राघव चेतन दिल्ली गमन खण्ड

राघव चेतन दिल्ली गया। उसने अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य की चर्चा की। उसने अलाउद्दीन से कहा कि सिंधल द्वीप में पद्मिनी स्त्रियाँ मिलती हैं, और स्त्रियों के सभी भेद वर्णन कर तुम्हें स्पष्ट कर दूँ, जिससे तुम्हें धोखा न रहे।

स्त्री भेद वर्णन खण्ड

राघव चेतन ने हस्तिनी, शंखिनी, चित्रणी और पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन किया।

पद्मावती रूप चर्चा खण्ड

फिर उसने पद्मिनी का नख-शिख वर्णन किया। वह सुनकर बेहोश हो गया और राघव को धन-सम्मान दिया तथा रत्नसेन को पत्र भेजा।

बादशाह चढ़ाई खण्ड

रत्नसेन पत्र पढ़कर क्रोधित हो उठा। उसने दूत को लौटा दिया। दोनों ने युद्ध की तैयारियाँ की। अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर बढ़ा।

राजा-बादशाह युद्ध खण्ड

अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा। घमासान युद्ध हुआ। सौ-सौ मन के गोले रत्नसेन के गढ़ पर गिरते थे। फिर कई वर्षों तक युद्ध चलता रहा। उधर दिल्ली पर हमला होने वाला था। अलाउद्दीन ने सोचा कि इस समय चित्तौड़ जीतेगा तो पद्मावती जलकर सती हो जायेगी, अब सन्धि करना उचित है।

राजा-बादशाह मेल खण्ड

अलाउद्दीन ने अपना दूत रत्नसेन के पास भेजा कहा शर्त है कि वह पद्मावती न दे, चदेरी भी ले ले, परन्तु समुद्र ने जो पौंच रत्न दिये थे वो दे दे। रत्नसेन ने मान लिया। अलाउद्दीन रत्नसेन के यहाँ प्रीतिभोज के लिये गया।

बादशाह भोज खण्ड

राजा ने भोज में बड़े अच्छे-अच्छे व्यजन बनवाये थे।

चित्तौड़गढ़ वर्णन खण्ड

भोजन किया गया, फिर अलाउद्दीन ने रनिवास में दासियों को देखा, सोचा इसमें ही पद्मावती होगी। राघव-चेतन ने बताया कि ये दासियाँ हैं। उधर गोरा-बादल ने रत्नसेन को समझाया कि अलाउद्दीन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। शतरज खेलते समय अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देख लिया वह बेहोश हो गया।

रत्नसेन बन्धन खण्ड

अलाउद्दीन होश में आया तो राजा उसे गढ़ के दरवाजे तक पहुँचाने आया। अलाउद्दीन ने रत्नसेन को बंदी बना लिया और दिल्ली ले गया।

पद्मावती-नागमती विलाप खण्ड

रत्नसेन के बन्दी बना कर ले जाने पर नागमती और पद्मावती विलाप करने लगी।

देवपाल दूती खण्ड

कुभलनेर का राजादेव पाल रत्नसेन का शत्रु था। जब उसने यह सुना तो उसने पद्मावती को फुसलाने के लिये दूती भेजी। परन्तु पद्मावती ने उसे अपमानित करके निकाल दिया।

बादशाह दूती खण्ड

बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक दूती को पद्मावती को फुसलाने भेजा, परन्तु वह भी असफल रही।

पद्मावती-गोरा-बादल संवाद खण्ड

पद्मावती अपने चारों ओर जाल फैला देख गोरा-बादल नामक अपने दो सरदारों के पास गई और व्यथा सुनाई, उन्हें दया आ गई और उन्होंने रत्नसेन को छुड़ाने का वचन दिया।

गोरा-बादल युद्ध यात्रा खण्ड

बादल का उसी दिन गौना आया था। माँ ने उसे जाने से रोका, पत्नी ने रोका, परन्तु वह चला गया।

गोरा-बादल युद्ध खण्ड

सोलह सौ पालकी संवारी गई। उनमें हथियार से तैयार सरदार बिठाये गये। उसमें एक पालकी में पद्मावती भी थी और यह कहा गया कि पद्मावती अलाउद्दीन के पास जा रही है। वे दिल्ली पहुँचे। अलाउद्दीन से पद्मावती ने कहा कि वह चित्तौड़ की कुजियों रत्नसेन को देना चाहती है। अलाउद्दीन ने आज्ञा दे दी, लोहार वाला विमान रत्नसेनके पास गया। बन्धन काट दिये गये। बादल उन्हें लेकर चित्तौड़ की ओर ले भागा। युद्ध हुआ गोरा मारा गया।

पद्मावती मिलन खण्ड

रत्नसेन चित्तौड़ आकर पद्मावती से मिलता है। पद्मावती ने बादल की भुजाओं की पूजा की। पद्मावती ने देवपाल की बात रत्नसेन से कही।

रत्नसेन-देवपाल युद्ध खण्ड

देवपाल की चाल सुनकर रत्नसेन को बड़ा क्रोध आया। उसने उससे युद्ध करने का सोचा और वह चल पड़ा किन्तु देवपाल ने रत्नसेन का वध कर दिया।

राज्य रत्नसेन बैकुण्ठ वास खण्ड

रत्नसेन की मृत्यु हो जाने पर बाल को राज्य की बागडोर सौंप दी गई।

पद्मावती-नागमती सती खण्ड

पद्मावती और नागमती दोनों राजा के साथ सती हो गई। अलाउद्दीन ने हमला किया। बादल लड़ा किन्तु हार गया। सारी स्त्रियाँ जौहर में जल गई। चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन पद्मावती को न पा सका।

उपसंहार खण्ड

ग्रंथ की समाप्ति पर जायसी रहस्यात्मकता का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि चौदह भुवन मनुष्य के अन्दर ही है। चित्तौड़ तन है, राजा मन है, सिंहल हृदय तथा बुद्धि पद्मिनी है। सुआ गुरु है। नागमती दुनिया धम्मा है। राघव चेतन शैतान का रूप है और अलाउद्दीन माया है। मैंने प्रेम कथा कही जो समझ सके समझे। मेरी कहानी मेरे बाद भी शायद रह जाए। रत्नसेन, पद्मावती आदि सब कहाँ है, पर उनकी कीर्ति है। जो कहानी पढ़ेगा, मुझे याद करेगा। मैं तो वृद्ध हो चला, जीते ही मृत सदृश हूँ।

3 2 1 4 चित्ररेखा

चित्ररेखा नाम की जायसी कृत यह रचना मनसवी शैली में प्रणीत है। ईश्वर वदना से इसका श्रीगणेश होकर अनन्तर चर्तुदश भुवनो, अष्टदश सहस्र योनियो तथा सृष्टि के विविध उपकरणों की सरचना चर्चित है। सृष्टि की उत्पत्ति कथा के उपरान्त करतार की प्रशंसा, मुहम्मद और उनके चारों यार, अपनी गुरु-परम्परा, पीर सैयद अशरफ जहागीर चिश्ती, कालपी वाली गुरु शेख बुरहान मेहदी का उल्लेख किया गया है।

इसके बाद चित्ररेखा की मूल कथा है। गोमती तट पर स्थित चन्द्रपुर नगर के राजा चन्द्रभानु की पटरानी रूपरेखा की कन्या चित्ररेखा थी। उसके जन्म पर ज्योतिषियों ने घोषणा की कि चित्ररेखा कन्नौज की रानी बनेगी। चित्ररेखा के विवाह योग्य होने पर चन्द्रभानु ने सिंहद नरेश सिंहन देव के कुबड़े पुत्र से विवाह निश्चित कर दिया।

उस समय कन्नौज के राजा कल्याण सिंह के यहाँ बड़ी तपस्या के उपरान्त पुत्र की प्राप्ति हुई। उस बालिका का नाम सामुद्रिको ने प्रीतम कुँवर रखा। परन्तु उन्होंने बताया कि इस बालक की आयु केवल बीस वर्ष की होगी। प्रीतम कुवर के बीस वर्ष पूरे होने में जब ढाई दिन रह गया था वह महल त्याग सद्गति प्राप्त करने के लिये काशी की ओर चल पड़ा।

संयोग उसी दिन राजा सिंहनदेव अपने कुबड़े पुत्र का विवाह करने आये थे उसी उद्यान में वह ठहरे हुए थे जिसमें प्रीतम कुँवर विश्राम कर रहा था। कुँवर से प्रभावित होकर सिंहनदेव ने पैर पकड़ कुँवर से चित्ररेखा से विवाह करने के लिए तैयार कर लिया, तथा दूसरे दिन कुँवर को मुक्त

हो जाने का आश्वासन दिया। सिंहनदेव ने प्रीतम कुंवर को दूल्हे के वस्त्राभूषणों से सज्जित किया गया तथा बारात लेकर राजा चन्द्रभानु के द्वार पर पहुँचे। प्रीतम कुंवर जैसे सुन्दर राजकुमार को दूल्हे के रूप में देखकर सारे चन्द्रपुर में खुशी की लहर दौड़ गई। विवाह निष्पन्न हुआ। प्रीतम को विवाह कहाँ सुहाता? वह जो जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था। वह वधू की ओर पीठ करे लेटा रहा। प्रकाश होने से पूर्व राजकुमारी के सोते हुए प्रीतम कुंवर ने उसके आँचल में लिखा – “मैं कन्नौज का राजपुत्र हूँ। विधि का विधान अमिट है। मेरी आयु कुल बीस वर्ष थी। वह पूरी हो गई। अतः मोक्षोपलब्धि के निमित्त मैं कल मध्याह्न से पूर्व काशी में प्राण-विसर्जन करूँगा। वैसे मैं काशी ही जा रहा था। बीच में सिंहनदेव ने तुमसे मेरा ब्याह कर दिया। तुम्हारे लिए यह झीखना हुआ और मुझे दोष लगा” और वह चला गया।

सुबह सखियाँ आईं। राजकुमार को अनुपस्थित देखकर उन्होंने पूछा, चित्ररेखा ने कहा, ‘मुझे कुछ नहीं मालूम। मैंने उन्हें सामने से देखा तक नहीं। केवल उनकी पीठ देखी थी।’ इसी बीच उसकी दृष्टि अपने आँचल के आलेख पर पड़ी। उसे देखकर वह बोली कि ‘कुँवर परिस्थितिवश काशी गये। मैं चिता में जलकर उनसे स्वर्ग में मिलूँगी और अप्सरा के रूप में उनकी सेवा करूँगी। तत्पश्चात् सिद्धूर लगाकर, कुँवर के वस्त्र को आँचल से बाँधकर चिता पर बैठ गयी। चिता में आग लगने से पहले उसने कहा – ‘प्रिय ने यह फेटा प्रदान कर मुझे सम्मानित किया है। इस फेटे के सहारे ही मैं स्वर्ग जाकर आपसे मिलूँगी और कहूँगी कि तुमने मुझे विस्मृत कर दिया परन्तु मैं स्त्री हूँ और मैं सती होकर तुमसे मिलूँगी।’

दूसरी तरफ कुँवर ने काशी में अपनी चिता तैयार करा कर दान दिया जिसमें व्यास भी थे, जब व्यास की ‘भरमूठी’ दान दिया तो प्रेमाभिभूत होकर ‘चिरजीव तुम होहु आशीर्वाद दे डाला। राजकुमार ने विस्मित होकर पूछा – ‘मैं तो मरने जा रहा हूँ। ऐ गोस्वामी इस आशीर्वचन का आशय? व्यास ने कहा – जो बात मुख से निकल गयी वह अन्यथा नहीं हो सकती। मैं व्यास हूँ। विधाता ने मेरे माध्यम से तुम्हारा जीवन बढ़ा दिया। व्यास के चरण छूकर कुँवर चन्द्रपुर की ओर चल पड़ा।

चित्ररेखा चिता में अग्नि देने जा रही थी, ठीक उसी समय राजकुमार वहाँ पहुँच गया चित्ररेखा की दृष्टि प्रीतम से मिली वह जल से भर गई। चिता से उतरकर वह महल में चली गई।

सबको शीघ्र व्यास के आशीर्वाद का पता चल गया। चित्ररेखा का सखियो ने सोहाग श्रृंगार किया और कहा कि अब सब सताप मिट जायेगे। चित्ररेखा मूलतः प्रेमकथा है। यह लौकिक भावभूमि पर विचरित है, जिसे जायसी ने आध्यात्मिक सस्पर्श प्रदान किया है।

3 2 1 5 कहरानामा

इसकी कई प्रतिलिपियाँ आज उपलब्ध हैं, पहले इसकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं थी। इसलिये डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रंथ का प्रकाशन 'महरी बाईसी' के नाम से किया था।¹ डॉ० गुप्त ने यह नाम इसलिये दिया था, क्योंकि इस ग्रन्थ में बाईस पद हैं, और इस ग्रंथ के बीसवें पद में 'महरी' शब्द भी आया।² वैसे इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'कहरानामा' है। यह नाम कॉमनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति पर भी है और रामपुर स्टेट के पुस्तकालय में स्थित हस्तलिखित प्रति पर भी पड़ा हुआ है। उस पर रचनाकाल 947 हिजरी पड़ा है। इनके अतिरिक्त बिहार और बिसवाँ (जिला सीतापुर) से भी इसकी अपूर्ण प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं।³

'कहरानामा' में निर्गुण प्रेम का निरूपण करते हुए जायसी ने बताया है कि यह ससार एक सागर के समान है, जिसमें धर्म की नाव पड़ी हुई है और केवल वही एक ईश्वर है। इस ससार में आकर बहुत से लोग तो ससार रूपी सागर तैरते-तैरते हार जाते हैं, कुछ लोग बीच में डूब जाते हैं, कुछ को इसमें से केवल सीप ही हाथ लगती है, कुछ बहुत खोजने के उपरान्त भी कुछ प्राप्त करते और खाली हाथ लौट आते हैं और कुछ हाथ झाड़कर पश्चाताप करते रहते हैं। अतः इस ससार-सागर में प्रवेश करने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इस ससार-सागर में जो धर्म की नाव पर सवार हो जाता है, वे पीछे पछताते ही रहते हैं, क्योंकि केवट फिर नाव को लौटाकर नहीं लाता। उन पछताने वाले लोगों को अनाडी और मूर्ख कहा जाता है। प्रत्येक जीव को ससार-सागर की लम्बी यात्रा करनी है। अतः रोने-चिल्लाने से यहाँ कुछ नहीं होता। जो गौंठ के पूरे हैं और जो दानी हैं, उनको ही केवट यहाँ धर्म की नाव पर चढ़ा लेता है और पार करा देता है। यहाँ न कोई भाई है न कोई बन्धु और सँघाती है। अतः ससार के मार्ग पर सभलकर चलो, जिससे

1 जायसी ग्रन्थावली, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० 711-21

2 सुन्दरी लै लै महरी दही दही राती सबही डोली रे, महरी बाईसी जायसी ग्रन्थावली पृ० 720

3 मलिक मुहम्मद जायसी ओर काव्य, पृ० 118

मझधार मे डूबना न पड़े। ससार मे वर्षा ऋतु को देखकर जीवो का मन भयभीत हो जाता है, क्योंकि उस क्षण पवन भी ससार—सागर मे तीव्र तरगे उठाने लगती है। उधर मगर, गोह, घडियाल आदि भी तैरने और उछलने लगते हैं तथा अन्य अनेक सकट आ उपस्थित होते हैं। ऐसी स्थिति मे सभी भयभीत जीव ईश्वर रूपी केवट को पुकारते हैं, किन्तु बिना केवट के ससार—सागर से पार होना सर्वथा असम्भव है। अतः ऐसी परिस्थिति मे केवट उनको ही प्राप्त होता है जो योग—साधना द्वारा मन की चंचलता को दूर कर लेते हैं विषय—भोगी का परित्याग कर देते हैं और ईश्वर के प्रेम मे लीन रहते हैं। ऐसे ईश्वर—प्रेमी जीवो की आत्मा का विवाह—परमात्मा से उसी प्रकार हो जाता है, जैसे फागुन मे महरा और महरी का विवाह होता है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और उसके महान् गुणो का साक्षात्कार इस जीवात्मा को तभी होता है जब वह पूर्ण रूप से परमात्मा मे लीन हो जाती है। ईश्वर का अपने जीवो पर विलक्षण प्रेम देखा जाता है। वह जिसे अपना दास या सेवक समझता है, उसे दरिद्र और भिखारी बना देता है क्योंकि यहाँ ज्ञानी, पण्डित अथवा कवि तो दुःख दर्द मे ही जीवन व्यतीत करते हैं, जबकि मूर्ख एवं अज्ञानी राजाओ के से भोग भोगते हैं।¹ इस ससार की विलक्षणता तो देखो कि चन्दन के समीप नाग रहते हैं, फूलो के पास काँटे रहते हैं। मधु के समीप मधुमक्खी रहती है और गुड के पास चीटे रहते हैं।²

3 2 1 6 मसलानामा

इस ग्रन्थ के बारे मे अभी पूर्ण रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त नहीं हो पायी है। इसकी एक खंडित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा ने अरवरावती के पीछे लिखी हुई मिली है। जायसी ने 'मसला अर्थात् मुहावरे, लोकोक्तियो कहावतो आदि के माध्यम से निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म से प्रेम करने की बात कही है। इस ग्रन्थ मे लोकोक्तियों मुहावरे जीवन को उदात्त बनाने वाले, आध्यात्मिक प्रेम जागृत करने वाले तथा जीवन के कटु अनुभव से भरे हुए हैं प्रत्येक पंक्ति मे कोई न कोई मुहावरा कहावत या लोकोक्ति विद्यमान है। जैसे कवि ने लिखा है कि जिस

-
- 1 जो सेवक आपुन के जाने तेहि धरि भीख मँगावै रे।
कविता पंडित दुःख—दरद महँ मुरुख राज बड जावेरे॥ — कहरानामा 22
 - 2 चदन जहाँ नाग तहाँ बदि कै जहाँ फूल तहाँ काँटा रे।
मधु जहवा किन माखी तहवाँ गुर जहवाँ तहँ चोँटा रे॥ — कहरानामा 22

घर में सास ही जवान हो उस घर में बहु क्या शृंगार करेगी¹ ऐसे ही जो जिसको पाना चाहता है वह उसे प्राप्त करके ही रहता है, लोग अनाज को छोड़कर धुन को बीन लेते हैं।² जिस हृदय में प्रेम नहीं होता वहाँ ईश्वर कैसे आ सकता है जैसे जो गँव सूना होता है वहाँ कौन आता है।³

इसी प्रकार जायसी ने सुन्दर—सुन्दर मुहावरो के माध्यम से जीवन और जगत् की कितनी ही अनुभूतियों के चित्र अंकित किये हैं। ससार में रहने से कोई लाभ नहीं, कुछ कार्य करो, क्योंकि यहाँ तो जिसकी लाठी उसकी भैंस होती है।⁴ कभी ससार में पुण्य और पाप को एक समान नहीं जानना चाहिए, दोनों का फल अलग—अलग भुगतना पड़ता है, क्योंकि अन्त में दूध का दूध और पानी का पानी स्पष्ट दिखाई देता है।⁵ आज जो कुछ तुझे करना है वह कर ले, यही ससार के सारे काम—काज छोड़ कर तुझे मरना पड़ेगा।⁶

बिना सुदृष्टि के कभी मार्ग नहीं दिखाई देता, भला अंधे लोग बाजार को लूट सकते हैं।⁷ ससार में जिसकी जीभ पर लगाम (बाधक) नहीं होती, उसके मन में जो कुछ आता है, वह बकता रहता है।⁸

इस प्रकार जायसी 'मसला' या 'मसालानामा' में विविध प्रकार के मुहावरो, लोकोक्तियों और कहावतों के माध्यम से जीवन के विभिन्न अनुभवों को चित्रित किया है। जिनमें ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम, सत्कार्य, ससार की असारता आदि को बड़े ही अच्छे ढंग से बताया है। इस ग्रन्थ की भाषा में भावाभिव्यक्तता का गुण सर्वोपरि है। जायसी ने अपने भावों एवं विचारों को सुन्दर, सजीव तथा मार्मिक ढंग से व्यक्त करने के लिये इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसकी भाषा अत्यन्त सजीवता लिये हुए तथा इसकी लाक्षणिकता, प्रतीकात्मता, आलंकारिकता और सबसे अधिक भाव—प्रेषणीयता है। अपनी उपदेशमूलक पद्धति एवं भाव—निरूपण शैली की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अद्वितीय है।

1 जेहि घर सासु तरुणि है, बहुअन कौन सिगार॥ — मसलानामा

2 जासो प्रेम सो धै धै परै। नाज छोडि धुन बिनिया करै॥ — मसलानामा

3 बिना प्रेम जो जीव निवाहा। सूने गँऊ म आवै काहा॥ — मसलानामा

4 करनी करहु रहहु का बैस। जिसकी लाठी तिसकी भैंस॥ — मसलानामा

5 पुन्य पाप एक रूप न जानी। दूध क दूध पानी क पानी॥ — मसलानामा

6 करिले आजु अहै जो करना। धन्धा छाडि आखिर है मरना॥ — मसलानामा

7 बिनु सुदिष्ट पाइय नहि बाट। अधरेन कै लूटा है हाट॥ — मसलानामा

8 कहे जाउ जो किछु मन माही। जीभ के आगे बाधक नाही॥ — मसलानामा

3.3 जायसी और उनका काव्य : युगीन परिपार्श्व

मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन काल 15वीं तथा 16वीं शताब्दी से सम्बद्ध है। अतः कवि की काव्य चेतना का विकास युगीन पृष्ठभूमि के आधार पर ही समभव है, इसलिये काव्य में निहित सत्यता को पहचानने के लिये परिस्थितियों का आकलन आवश्यक है। परिस्थितियाँ चाहे जो भी हों, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक या साहित्यिक उनका सबध कवि के काव्य में अवश्य दिखाई देता है। अतः जायसी के काव्य में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना को समझाने के लिये उसकी परिस्थितियों का सम्यक् आकलन आवश्यक है। समाज की स्वरूप संरचना और युगीन परिस्थितियों का अन्योन्याश्रित सबध है। युगीन परिस्थितियाँ समाज की नियामक होती हैं और समाज के स्वरूप को दिशा देती हैं, दूसरी ओर समाज अपने अन्तर्विरोधों और अपनी इकाईयों के आधार पर परिस्थितियों को जन्म देता है। कवि की समकालीन सामाजिक स्वरूप संरचना और युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है। सामाजिक स्वरूप संरचना की नियामक परिस्थितियों में राजनीतिक परिस्थिति प्रमुख भूमिका अदा करती है, अतः यह परिस्थिति काव्य सृजन को प्रेरणा देती है।

3.3.1 राजनैतिक परिपार्श्व

भारत पर मुस्लिम आक्रमण का प्रारम्भ सन् 712 ई० में मुहम्मद बिन कासिम की सिन्ध विजय से होता है। इस घटना से ही भारत तथा अरब के परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्धों का श्रीगणेश भी हुआ। राजनैतिक दृष्टि से जायसी के काव्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि (1451–1526 ई०) मुगलवंश (1526–1530 ई०) तथा शेरशाह सूरी (1540–1545 ई०) शासनकाल से सम्बद्ध है।

यह काल भारतीय संस्कृति में इस्लाम के प्रवेश का प्रारम्भिक प्रयास माना जा सकता है। लगभग 1250–1450 विक्रमी तक मुसलमानों का शासन विभिन्न संघर्षात्मक स्थितियों से गुजरता हुआ अपनी जड़ें जमा रहा था। फिरोज तुगलक की मृत्यु तथा तैमूरलंग के हमले से मुसलमानी साम्राज्य एक प्रकार से चरमरा ही गया था। इस वंश के सैंतीस वर्षीय (सन् 1414 से 1451 ई०)

शासन के चारो शासक निजी अस्तित्व रक्षण के अतिरिक्त कुछ न कर सके जिसे लक्ष्य करते हुए—
डा० ईश्वरी प्रसाद¹ ने उसे “निर्बल शासकों का युग” की संज्ञा प्रदान की है।

राजनीतिक विश्रृंखलाओं की परिस्थिति के बीच सैयद वंशीय सुल्तानों की निर्बलता दिल्ली की सत्ता की योग्य प्रतिष्ठा में सर्वथा असफल रही, जिसका कि श्रेय डा० त्रिपाठी² के मतानुसार वस्तुतः बहलोल लोदी को प्राप्त होता है। लोदी वंश की नींव डालने वाला यह शासक अत्यन्त कूटनीतिज्ञ तथा चालाक था। लोदी वंश की संकटपन्न स्थिति में भी नीति कुशलता द्वारा उसने दिल्ली के प्रबलतम शत्रु शर्की साम्राज्य को निर्मूल करने तथा उसके ही अपने राज्य का विस्तार करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। राजपूत विद्रोहों के शासन में ही उसके रहने के कारण दिल्ली की सत्ता को अपेक्षित स्थायित्व का अवसर न प्राप्त हो सका। ऐसी स्थिति में सिकन्दर के उत्तराधिकारी इब्राहिम लोदी के दम्भपूर्ण व्यवहार के कारण सहायक अफगानों की मित्रता एवं सहानुभूति खो देने पर लोदी सत्ता भी जर्जर तथा अस्तित्वहीन हो गई। परिणामस्वरूप इब्राहिम लोदी का अवसान और बाबर का अभ्युदय था।

डा० ईश्वरी प्रसाद³ के अनुसार (इब्राहिम) यह लोदी वंश का अंतिम शासक था जिसकी कि अदूरदर्शी नीति दरबारियों और अमीरों के प्रति दुर्व्यवहार तथा अत्याचारों ने केवल नौ वर्ष के भीतर लगभग सभी को अपना शत्रु बना लिया।

राणा सांगा ने बाबर को 1524 में कनवाहा के युद्ध में हराने की चेष्टा भी की, परन्तु वह सुदृढ़ चट्टान सिद्ध हुआ। बाबर ने कुल चार वर्ष के लगभग राज्य किया। 1530 में बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूँ गद्दी पर बैठा। हुमायूँ का अधिकांश समय भी संघर्षों में बीता। हुमायूँ को पूर्णतया परास्त करके मुगल-शक्ति को भारत से बहिर्गत करने का श्रेय शेरशाह सूरी को है। जिसकी नीति कुशलता तथा वीरता ने सुदृढ़ अफगान राज्य की पुनः प्रतिष्ठा की।

-
- 1 Dr Ishwari Prasad, History of medieval India, Chapter 16, Later Tuglaks, p 469, Heading - After Timur's Invasion
 - 2 Dr Ram Prasad Tripathi, Rise and fall of the Mughal Empire (Ed 1956) Chapter II, The Lodi Empire, p 21
 - 3 Dr Ishwari Prasad, A short history of Muslim rule in India (Fourth Ed) Chapter 12th, Foundation of Mughal Empire, p 271

शासित प्रदेश में शेरशाह ने जिस सुव्यवस्थित राज्य प्रबन्ध की प्रतिष्ठा की थी उससे देश की शान्ति तथा सुव्यवस्था को स्थायित्व मिल सकता था, जिसे लक्ष्य करके इतिहासकारों ने उसे महान् शासक अकबर का पथ निर्देशक तक माना है।¹ किन्तु काल गति ने इस शासक को पाँच वर्ष से अधिक शासन करने का अवसर नहीं दिया। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् 1555 में हुमायूँ ने अफगानों को हराकर अपना राज्य वापस प्राप्त कर लिया। किन्तु हुमायूँ केवल 6 मास ही शासन का सुख प्राप्त कर सका तथा जीवन भर ठोकर खाने वाला यह मुगल शासक अन्ततः साधारण सी ईंट की ठोकर खाकर काल कलवित हो गया।² अकबर ने अपने पिता के राज में जो राज्य प्राप्त किया था, उसका क्षेत्रफल सुदूर दक्षिण के विजय नगर साम्राज्य के मुकाबले में भी कम था। अकबर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतिहासकारों का मत है, कि उसकी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, एक विशाल प्रदेश पर शासन करना चाहती थी और इस उद्देश्य की पूर्ति में उसने अपने राज्य काल का अधिकांश भाग विजय अभियानों में लगाया।³

अकबर के पूर्व-कालीन प्रायः सभी मुसलमान शासकों ने धार्मिकता से प्रेरित होकर हिन्दुओं को अयोग्य और अविश्वसनीय समझा। अकबर ने एक प्रकार से इतिहास से शिक्षा लेकर उपर्युक्त नीति का सर्वथा परित्याग कर दिया। शासन तन्त्र में हिन्दुओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देने का सूत्रपात इस युग में हो गया था। इस युग की हिन्दू राज्यशक्तियों ने स्वधर्म एवं स्वजाति के रक्षण का उद्देश्य सदैव सामने रखा, जिसे लक्ष्य करते हुए श्री पाणिक्कर⁴ महोदय ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि धार्मिक विश्वास इस युग की राजनीति का सक्रिय अंग बन चुका था तथा प्रत्येक हिन्दू शासक स्वयं को धर्म का रक्षक तथा उसका वीर सैनिक मानता था।

इस प्रकार मुगलशासन से पूर्व के मुस्लिम शासकों तथा सम्राटों की शासन पद्धति राजतन्त्री थी। राजा निरंकुश थे और उनका शब्द ही विधान था। राजा व्यवस्था का मूलस्रोत था। इस तरह

-
- 1 श्री निवासाचारी, मुगल भारत, संस्करण 1950, पहला परिच्छेद, पृ० 23, शीर्षक शेरशाह की महानता
 - 2 Stanley Lane Poole, Medieval India, 1st Indian Ed., 1951, Heading - Return of Humayun, p 162
 - 3 Vincent Smith, Akbar the great Mughal, p. 346
 - 4 K M Pannikkar, A survey of India history, Ed 1950, Chapter XVI, Heading - Towards a national monarchy, p 150

राजा का व्यक्तित्व 'जुलियर सीजर' और 'पोप' का समन्वित रूप था। मंत्रीमण्डल की व्यवस्था भी थी, जिस 'मजलिस-ए-आम' तथा 'दीवने-ए-खास', इन सस्थाओं के ही विकसित रूप थे। दीवान या वजीर राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। राज्य प्रदेशों में, प्रदेश सरकारों में तथा सरकार परगनों में बटी हुई थी। प्रदेश की व्यवस्था मनसब करता था। सैनिक राजा के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायी नहीं होते थे।

इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से यह काल इस्लाम के समर्थक शासकों का युग था। लेकिन राजनीति की स्वस्थ चेतना ने उन्हें देश की जन-भावना को समझाने के लिये दृष्टि दी। इसी दृष्टि के परिणाम स्वरूप उन शासकों के हृदयों में देश की सुसंस्कृत भावना का प्रादुर्भाव हुआ। यह युग राज्यों की प्रतिष्ठा एवं उनके पारस्परिक संघर्षों का है। जिसमें हिन्दू राज्यों का अस्तित्व अधिकतर दिखाई नहीं पड़ता है तथा मुस्लिम शासकों के समय-समय पर विद्रोह और संघर्षों व उतार-चढ़ाव दिखायी देते हैं। शेरशाह की मृत्यु के बाद से पानीपत के द्वितीय युद्ध के बाद से पानीपत के द्वितीय युद्ध तक का समय राज-शक्तियों के लिये भाग्य निर्णय का काल रहा। इस तरह आरम्भ से अन्त तक का यह काल स्वधर्मनिष्ठा का है, किन्तु क्रमशः धार्मिक कट्टरता राजनैतिक क्षेत्र से कम होती गई। सम्पूर्ण युग में राजनैतिक हलचलों का केन्द्र उत्तर भारत ही रहा। भारतीय राजशक्तियाँ कभी भी सामूहिक रूप से एकत्र न हो सकीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि जायसी के काव्य की युगीन पृष्ठभूमि का राजनीतिक परिपार्श्व भारत के राजनीतिक धरातल में परिवर्तन संक्रमण का काल था। विभिन्न राजनीतिक सत्ताएँ अपनी राजनैतिक अस्मिताओं के निर्माण में लगी हुई थीं। राजनीतिक सत्ताओं की सांस्कृतिक चेतना भारतीय जनता की सांस्कृतिक चेतना से एकदम मेल नहीं खा रही थी। अतः इन राजनीतिक सत्ताओं में अपनी सांस्कृतिक चेतना को भारतीय चेतना के समानान्तर लाते हुए एक दूसरे को समझने का अवकाश दिया।

जायसी के काल तक आते-आते भारत की राजनीतिक अस्मिता लगभग तय हो चुकी थी। अतः उस समय के साहित्य चेतना तत्कालीन राजनीतिक चेतना को भारतीय जनता की अस्मिता मानकर भारतीय समाज और उसकी सांस्कृतिक चेतना को एक रूप देने में लग गये। जायसी जैसे

सवेदनशील कवियों ने भारतीय सस्कृति की चेतना को समझने का प्रयास किया और उसके आधार पर सामाजिक संरचना को नया रूप देने का प्रयास किया। इस रूप में भारतीय समाजोन्मुखी सस्कृति में आने वाली विसंगतियों को रेखांकित करते हुए आदर्श समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना को अन्य काव्य चेतना का आधार बनाया।

जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफलन ही उनका पद्मावत जैसा महाकाव्य है। इसकी काव्य चेतना के निर्माण जायसी युगीन राजनीतिक पृष्ठभूमि का एक बड़ा हाथ था।

3.3.2 सामाजिक परिपार्श्व

जायसी जिस युग में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुए हैं उस काल में भारतीय समाज सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू तथा मुस्लिम समाज दो वर्गों में अपने स्वरूप का निर्माण कर चुका था। इस युग में भारतीय सस्कृति से अलग सांस्कृतिक विरासत से सम्पन्न राजसत्ता के कारण हिन्दुओं के राजनीतिक अधिकार छिन चुके थे। यद्यपि अकबर जैसे उदार शासकों के काल में हिन्दू समाज और सस्कृति को भारत की अस्मिता के साथ जोड़ने की कोशिश भी इसी काल में हुई थी। इस प्रकार मध्यकाल सामाजिक दृष्टि से भी अस्त-व्यस्त सामाजिक चेतना का काल है।

मुहम्मद तुगलक के राजस्व काल में समाज की अवस्था कुछ स्थिर हो रही थी। डा० रघुवीर सिंह¹ ने अपने पूर्व मध्यकालीन भारत (पृ० 263) में लिखा है कि अपने कई सुधारों से फिरोज ने मुसलमानों को विलासिता का स्वाद चखा दिया। ऐश्वर्य की मन-मोहक में मस्त होकर वे विलास की अतृप्त पिपासा को बुझाने के लिये सागर की ओर दौड़ पड़े और निरन्तर पतित होते गये। फिरोज तुगलक और मुहम्मद तुगलक अर्थ के विषय में हिन्दुओं के प्रति उदार थे। फिरोज तुगलक के शासनकाल में न्याय और शासन काजी-मुल्लाओं के हाथ में था। उल्मा साम्राज्य की नीति के विधायक थे। लेकिन उनकी नीतियाँ सामाजिक चेतना को बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर पा रही

1 जायसी के पद्मावत का मूल्यांकन डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एव प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा संस्करण 1972, पृ० 48

थी। डा० रघुवीर सिंह¹ के अनुसार फिरोज तुगलक की मृत्यु के उपरान्त सिकन्दर लोदी ने पुनर्धर्मान्ध नीति का अनुसरण किया। इस्लाम अब सल्तनत का शाही धर्म हो गया। वस्तुतः यह दो विभिन्न सांस्कृतिक टकराव का समय था। विजेता और विजित दोनों ही संघर्ष के मध्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान जाने-अनजाने में करते जा रहे थे। दोनों ही वर्ग किसी स्तर पर परस्पर समझौता कर रहे थे। भारतीय मुसलमानों की हिन्दुओं से मेल-मिलाप की प्रवृत्ति हो रही थी। इस प्रवृत्ति को कबीर, चैतन्य, रामानन्द और हुसैनशाह जैसे कवि, विचारक और चिन्तकों ने इसे आगे बढ़ाया।

3.3.2.1 हिन्दू समाज

मध्ययुग में भारतीय हिन्दू समाज में वर्ग व्यवस्था की कर्म चेतना और जन्म चेतना के आधार पर अनेक जातियों और उपजातियों का प्रादुर्भाव हो रहा है। यह जाति व्यवस्था हिन्दू समाज के विखंडन की ओर ले जा रही थी। इससे हिन्दू समाज वर्गों में विभाजित हो गया था। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज के सामने शासकों द्वारा संक्षिप्त मुस्लिम समाज के संगठित प्रयास और वर्चस्व को देखते हुए अपनी अस्मिता को बचाने की चिन्ता थी। हिन्दू समाज अपने को संगठित करने के लिए समाज को रूढ़ियों में बांधने का प्रयास कर रहा था, जिससे उसकी अपनी पहचान को कहीं कोई खतरा न रहे। ये स्थितियाँ हिन्दू समाज के सहज विकास में बाधक हो रही थी और हिन्दुओं की सामाजिक विकास चेतना को ग्रहण लग गया था, जिससे अनेक कुरीतियों ने हिन्दू समाज में जन्म ले लिया। मध्यकाल में शासकों और शासकों से संरक्षित वर्ग की भोग लिप्सा ने नारी अस्मिता की अपनी क्रूर दृष्टि का विषय बनाया। नारी द्वारा अपने स्वाभिमान अपनी अस्मिता के लिए न चाहते हुए भी सती प्रथा, पर्दा-प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों को अपने जीवन में रथान दे दिया। हर प्रकार से अत्याचारों का शिकार यह निम्न वर्ग था।

इस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू जाति पगुड़ी हो गयी थी। जिसका विकृत रूप हमें आगे के समाज में दिखाई देता है। जायसी जैसे महान् कवियों ने हिन्दू समाज की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक ह्रास की स्थिति को पहचाना है और उसे अपने काव्य की प्रेरणा का विषय

1 जायसी के पद्मावत का मूल्यांकन, डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एंव प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, संस्करण 1972, पृ० 48

बनाया है। आर्थिक दृष्टि से मध्यकाल का हिन्दू समाज दो वर्गों में बंटा हुआ था। (1) उच्च वर्ग (2) निम्न वर्ग। उच्च वर्ग सामन्ती वर्ग की तरह ही विलासी जीवन का अभ्यासी था। उसकी विलास भावना को विलासी मुस्लिम समाज ने और आगे बढ़ाने के लिए प्रेरणा दी। विलासी जीवन यहाँ जीवन अकर्मण्यता, उदासीनता लाता है, वहाँ शोषण के द्वार भी खोलता है। हिन्दुओं की इस विलास चेतना ने निम्न वर्ग को अपने शोषण का विषय बनाया।

मध्यकाल में निम्नवर्ग शोषण और सामाजिक अन्याय का शिकार था। उसके सामाजिक विकास के सारे रास्ते बन्द थे।

3.3.2.2 हिन्दू समाज में नारी

मानव जीवन में विलासिता की प्रवृत्ति का शिकार नारी जीवन होता है जब मनुष्य नारी को अपने भोग-विलास की वस्तु समझ लेता है, नारी जीवन की अस्मिता खतरे में पड़ जाती है। सारी वर्चनारें, अपवर्चनारें नारी जीवन का अंग बना दी जाती हैं। मध्यकाल में राजनीतिक उथल-पुथल और सांस्कृतिक सक्रमण ने भारतीय समाज को भोग-विलास की ओर उन्मुख किया, जिसका प्रभाव भारतीय नारी जीवन पर पड़ा। समाज में नारी की दशा शोचनीय थी, वह आदर के योग्य नहीं थी। सतीत्व की रक्षा के लिए वह सदैव चिन्तित रहती थी। पर्दा प्रथा का आरम्भ भी इसी युग में हुआ।

डॉ० मजमूदार¹ के शब्दों में “नारी जाति का अपने स्वामियों या अन्य पुरुष सम्बन्धियों पर आश्रित रहना इस युग के सामाजिक जीवन का प्रधान लक्षण था तथा दाम्पत्य जीवन के अन्तर्गत उनसे दृढ़ पतिव्रत धर्म की अपेक्षा की जाती थी” तथा “दोनों ही समाजों में पायी जाने वाली इस विशेषता के अतिरिक्त गुजरात तथा समुद्रतटीय कुछ नगरों को छोड़कर दोनों में पर्दे की प्रथा प्रचलित थी।”

शिक्षा के दृष्टिकोण से इस युग की नारियों के तीन स्तर थे, प्रथम में ग्रामों में रहने वाली गृहस्थी के काम तक सीमित थी। द्वितीय में कन्याओं को कला और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती

1 Dr R C Mazumdar and Dr H C Raichandhari, An advanced history of India, Part II, Chapter VI, p 400, Heading - Social life

थी तथा तृतीय में कुछ विद्यालयों में शिक्षा पाती थी। उच्च शिक्षा प्राप्त हिन्दू नारियों में पद्मावती तथा रूपामती इसके उदाहरण हैं।

3.3.2.3 मुस्लिम समाज

भारत में मुस्लिम समाज का स्वरूप निर्माण देश पर मुस्लिम शासन की स्थापना के साथ हुआ। इसमें एक तो मुसलमानों का वह वर्ग था जो आक्रान्ताओं के साथ बाहर से आया हुआ था, दूसरा वर्ग मुसलमानों का वह वर्ग था जो इस्लाम के प्रसार के परिणाम स्वरूप धर्म परिवर्तन करके मुसलमान हो गया था। इन दोनों वर्गों की सामाजिक संस्कृति में पर्याप्त अन्तर था। भारत के मध्यकाल में मुसलमानों के इन दो वर्गों के निर्माण के साथ सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के अंग के रूप में अनेक वर्ग बन गये थे। मुस्लिम समाज को विद्वानों ने पाँच वर्गों में बाँटा है—

- 1 पहले वर्ग में शासक और उसके सम्बन्धी आते थे, जिनका जीवन पूर्ण रूप से विलासमयी और समृद्ध था।
- 2 द्वितीय वर्ग मुल्लाओं तथा उलेमाओं का था, जिनका कार्य मुस्लिम शासक की आड में इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार का था।
- 3 तृतीय वर्ग उन संगीतकारों मुस्लिम चारणों तथा भाटों एवं नृतकीयों आदि का था, जिनके जीवन का प्रधान प्रयोजन शासक तथा सामन्त वर्ग का मनोविनोद करना था।
- 4 चतुर्थ वर्ग में जन-साधारण का वह वर्ग आता था जो शासन के शोषण का आधार था।
- 5 पाचवाँ वर्ग सैनिकों का था, जो राजा के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन था।¹

इन वर्गों के आधार पर मुस्लिम समाज की सामाजिक स्थिति का जो स्वरूप उभर कर आता है, वह जीवन के समाजोन्मुखी आदर्शों के ह्रास की ओर ले जाता है। मुस्लिम समाज का पहला और तीसरा वर्ग जिसमें शासक और उसके सम्बन्धी तथा कलाकार आते हैं, जीवन को विलासिता की ओर ले जा रहा था। इनके जीवन में भोग और विलासिता उन्हें अकर्मण्य तो बना ही रही थी, साथ ही

1 जायसी का काव्य शिल्प, दर्शन लाल सेठी, पृ० 41,42

उसका प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर भी पड़ रहा था। समाजोन्मुखी संस्कृति की दृष्टि से मुस्लिम समाज के स्वरूप पर विचार किया जाए तो उसमें निम्न विसंगतियाँ देखी जा सकती हैं— 1 भोग एवं विलासिता का जीवन। 2 नारी के प्रति भोगवादी दृष्टि तथा उसके अधिकारों का अपहरण। 3 जन-शोषण।

3.3.2.4 नारी जीवन के प्रति संकीर्ण दृष्टि

नारी को सामाजिक महत्त्व प्राप्त नहीं था, उसकी स्वच्छता पर अकुश था, उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। मुस्लिम समाज की नारी हिन्दू समाज से अपेक्षाकृत हीनतर अवस्था में थी। किन्तु तुर्क मुसलमानों की स्त्रियों को कुछ स्वतंत्रता प्राप्त थी। नारियों में पर्दा-प्रथा की प्रथा जुड़ी हुई थी। कुछ विद्वानों का कथन है कि ये प्रचलन मुस्लिमों के आगमन के बाद से प्रारम्भ हुआ।

Miss Cooper¹ की मान्यता है यह प्रथा मुसलमानों द्वारा शुरू हुई। प्राचीन भारत में स्त्रियाँ स्वतंत्र थीं। ये भी प्रचलित है कि पर्दा-प्रथा मंगोलों में अधिक थी और ये वहाँ से भारतीयों ने अपनायी। कहीं-कहीं स्त्रियों को पर्दा करने के लिये बाध्य किया गया। इस प्रकार मध्यकाल में स्त्रियों की दशा सतोषजनक नहीं थी।

3.3.2.5 समाज का वर्गीय विभाजन

शासक वर्ग और शासित वर्गों में समाज विभक्त था। शासकों की दण्ड नीति आतंकवादी सी थी। जनता इनकी दण्डनीति से सन्नत रहती थी। मध्ययुग में शासक वर्ग को सबसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। सम्पूर्ण शासन की कठोर बागडोर उसके हाथों में होती थी। इस युग में इसे सम्राट या बादशाह के नाम से सम्बोधित करते थे। इस युग में भारतीय राज सभाओं तथा सामन्तों के जीवन में सबसे अधिक आकर्षक तत्त्व भोग-विलास की अतुलनीय भावना थी। साधारण जनता से ही इस भोग-विलास की वस्तुओं को इकट्ठा किया जाता था। मध्यकाल के शासक वर्ग की स्थिति

1 मध्यकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव, डॉ० झारखण्ड चौबे

अत्यधिक शान-शौकत की थी तथा उनका रहन-सहन, खान-पान बड़े महंगे शौक थे। मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति भी ठीक थी। इनके पास काफी सम्पत्ति थी। उनके भोजन, वस्त्रों में कमी नहीं थी। “राज्य की ओर से खानकाह खुले हुए थे, जहाँ से उन्हें आवश्यक भोजन तथा वस्तुएँ बिना मूल्य के प्राप्त होती थी।”¹

पैलसर्ट ने भी इस वर्ग की दशा पर दया पूर्ण चित्रण किया है, उन्होंने लिखा है “उनके मकान मिट्टी के बने छप्पर की छतों के हैं। कुछ मिट्टी के घड़ों, पकाने के बर्तनों और दो चारपाईयों के अतिरिक्त उनके घरों में साज-सज्जा की सामग्री या तो बहुत कम या बिल्कुल नहीं है। उनके बिछौने बहुत कम हैं – केवल एक या दो, संभवतः दो चादरे हैं, जिनमें एक बिछाने और दूसरी ओढ़ने के काम आती है। ग्रीष्म ऋतु के लिये ये काफी हैं, किन्तु कड़ाके की जाड़े की रातें वस्तुतः दयनीय होती हैं।”²

अमीर खुसरो के आधार पर मजूमदार³ ने तत्कालीन श्रमिक एवं कृषक वर्ग की शोचनीय दशा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। उनका कथन – “शाही ताज में प्रत्येक मोती निर्धन कृषक के अश्रुपूर्ण नेत्रों से गिरा हुआ सघन रक्त बिन्दू है।”

इस प्रकार दोनों ही समाजों में अनेक प्रकार का अनुभव दिखाई देता है। इस समय में सामाजिक व्यवस्थाओं में अधिक रूढ़िवादिता थी। किन्तु धीरे-धीरे आगे चलकर सामाजिक उदारता का युगगत परिस्थितियों के अनुसार नये प्रकार से विकास भी हुआ। अकबर के समय में सामाजिक विषमताओं का अन्त हुआ और परिस्थितियों में सुधार हुआ। इस प्रकार मध्य युग उत्थान-पतन का द्योतन करता है।

3.3.3 धार्मिक परिपार्श्व

भारत देश प्रागैतिहासिक काल से धर्म प्रधान रहा है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में धार्मिक चेतना का संचार कब और कैसे हुआ यह एक अलग शोध का विषय है।

1 भारतीय सस्कृति और उनका इतिहास, डा० सत्यकेतु विद्यालकार, पृ० 606

2 मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं सस्कृति, डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव, झारखण्ड चोबे

3 जायसी का काव्य शिल्प दर्शनलाल सेठी

पुरातात्विक शोधो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय समाज को अध्यात्म प्रवण धार्मिक चेतना का आधार वैदिक युग से भी पहले मिला हुआ था। वैदिक युग में धर्म के स्वरूप को कुछ व्यवस्थित दिशाएँ मिली। उसे दर्शन की आधार शिला पर ज्ञान, कर्म और उपासनाओं के समन्वित रूप में जीवन पद्धति से जोड़ा गया। इस प्रकार भारतीय दृष्टि में धर्म एक सामाजिक मर्यादा है, जो समाज की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में समाजोन्मुखी संस्कृति की एक दिशा बन जाती है। विदेशी विद्वान सी०ई०एम० जोड¹ ने भारतीय सभ्यता के सन्दर्भ में धर्म और दर्शन की प्रकृति का रेखांकन करते हुए इसे जीवन पद्धति ही बताया है।

मध्यकाल में धार्मिक दृष्टि से समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया था – प्रथम सामान्य जनता में प्रचलित अनेक आस्तिक एवं नास्तिक पथ और पद्धतियाँ।

दूसरी वे आस्तिक पद्धतियाँ जो उच्च वर्ग की जनता में मान्य थी। इन धर्म पद्धतियों के प्रवर्तक तथा प्रतिपादक शास्त्रज्ञ आचार्य लोग थे। जगत गुरु शंकराचार्य का उदय भारत के धार्मिक इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके प्रभाव से सोया हुआ ब्राह्मण धर्म फिर एक बार जागा। उसे उद्बुद्ध देख विलास प्रिय बौद्धधर्म के पैर उखड़ने लगे। छठी शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी तक इन नास्तिक मतों का अत्यधिक बोल-बाला रहा। सिद्ध इन ही नास्तिकों से सबध रखते थे। विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचार और राज्य लिप्सा ने हिन्दुओं के मानवी अधिकारों का हरण किया। हिन्दू राजाओं की शक्ति को जर्जरित कर दिया। वीरता की यदि कोई चिनगारी हुई तो उसे बुझा दिया गया। हिन्दुओं को न जीवन को सुखी बनाने की आज्ञा थी और न स्वतन्त्रतापूर्वक वह उपासना ही कर पाते थे। आत्मोन्नति स्वदेशोन्नति तथा स्वधर्मोन्नति के मार्ग से ढकेल हुए हिन्दू आत्म-रक्षा के लिये ईश्वर की शरण में गये।

11वीं शताब्दी में विदेशी शासकों के प्रभाव से नास्तिक धर्म के प्रति कुछ प्रतिक्रिया हुई और उत्तरी भारत में आचरण प्रवण नाथपथ का तथा दक्षिण में वेष्णव और लिगायत आदि धर्मों का उदय हो गया। भारतीय सांस्कृतिक और हिन्दी साहित्य के विकास के मध्यकाल का प्रारम्भ से ही भारतीय

समाज में नाथ सम्प्रदाय और शैवमत का प्राधान्य था। सूफी-सन्तो और सूफी कवियों के लिए नाथ-मत और शैव मत विशेष आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। इसलिये सूफी काव्य को इस धार्मिक परम्परा ने अधिक प्रभावित किया। अतः सूफी काव्य का सरचनात्मक ढाँचा तैयार करने में नाथ पंथी योगियों की बड़ी भूमिका रही है।

भारतीय धर्म साधनाओं की दूसरी धारा शास्त्रज्ञ आचार्यों की थी। इन आचार्यों में सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक अन्तर है। परवर्ती सभी आचार्यों का उदय शंकराचार्य की विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इन परवर्ती आचार्यों में निम्बकाचार्य ने वृन्दावन में वैष्णव भक्ति का, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु – विठोबा जी, महाराष्ट्र में आराध्यदेव तथा गुजरात में मध्वाचार्य ने कृष्ण के लोकरजक रूप का प्रसार व प्रचार किया। इन सभी आन्दोलनों से सामान्य जनजीवन गृहस्थ जीवन तथा स्त्रियों की दशा आदि पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ा। क्योंकि इन सभी लोगों ने भक्ति की विशिष्टता प्रतिपादित की है।

मुस्लिम और हिन्दू मूल सत्य की खोज में सलग्न हो गये। जायसी भी इस कार्य में पीछे नहीं थे। जायसी वैष्णव धर्म की अहिंसा के पक्षपाती थे, उन्होंने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, किन्तु उनके काव्य में सहिष्णुता के दर्शन होते हैं। समन्वय की भावना तथा उदारता धार्मिक चेतना का यह मूल तत्त्व इस युग और जायसी में विद्यमान था।

आठवीं शती में मुहम्मद बिन कासिम की सिन्धु विजय के फलस्वरूप भारतीय समाज में इस्लाम का प्रवेश हुआ। डॉ० रामधारी सिंह दिनकर ने भारत में नवागुन्तक इस्लाम धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नहीं आया अथवा आया भी तो दक्षिण के समुद्री-तटों पर व्यापारियों के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त, सिन्ध और उसके आस-पास के भागों में। महमूद गजनवी, गौरी और बाबर, ये सच्चे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। उन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजे देखी थी, अबू-बक्र, उमर, और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी। प्रो० हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक “आवर हेरिटेज” में इन आक्रामकों के बारे में लिखा है, “ये जो नये लोग भारत में आये, उन्होंने इस्लाम के तत्त्व को भले ही नहीं समझा हो किन्तु उसकी बाहरी बातें उन्होंने ग्रहण कर ली थी।” लेकिन बाहरी बातें क्या भीतरी तत्त्व का प्रतिनिधित्व कर

सकती है? इस्लाम के गौरव का कारण उसकी आरम्भिक उदारता थी, भील जातियों की विचार स्वाधीनता थी। इस्लाम बड़ा ही ऊँचा धर्म था। बर्बरता उसमें तब आयी जब तातार लोगो ने इस्लाम में प्रवेश किया। गंगा और सिन्धु के किनारे इस्लाम का झंडा गाड़ने वाले लोग अबू बक्र और उमर की पवित्रता वाले लोग नहीं थे। बल्कि, ये वे ईरानी थे, जो विजय और साम्राज्य के सुखो मे अंधे होकर झूम रहे थे। ये मध्य एशिया के वे बर्बर लोग थे, जिन्होंने इस्लाम की टोपी अभी हाल में पहनी थी, किन्तु जो उसके मौलिक संस्कारों से अपरिचित थे।”¹

सूफियो ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों के बीच सेतु का कार्य किया। नानक और नामदेव आदि ने दोनों जातियों को परस्पर सम्बन्धों को बनाने में विशेष योगदान दिया। सूफियों पर अद्वैतवाद व योग आदि का प्रभाव पड़ चुका था। भारत के सूफी कवियों ने इस्लाम की उपेक्षा के बिना नाथों के एकेश्वर का सामजस्य किया तथा निर्गुण परमात्मा का प्रचार किया। हिन्दू सन्तों ने भी जातीय भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया।

3.3.4 आर्थिक परिपार्श्व

इस युग मे दिल्ली सत्ता दीर्घकाल तक भले ही विश्रृंखलित रही हो, लेकिन सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध मे एक ओर उत्तर मे अकबर के विशाल साम्राज्य की प्रतिष्ठा तथा दूसरी ओर दक्षिण में विजय नगर साम्राज्य की पराजय के परिणामस्वरूप वह अधिकांशतः मुस्लिम शासन के नीचे ही दिखाई पडता है। जहाँ तक इन प्रदेशो के आर्थिक स्रोतों का विषय है, इतिहास के अन्तर्गत कृषि-सबधी उर्वरता तथा अनेकविध उद्योग-धन्धो तथा व्यापारगत उन्नति के प्रभावशाली वर्णन मिलते हैं। इस युग के आर्थिक तन्त्र और उसके परिवेश की झलक हमे जायसी के काव्य मे बड़ी स्पष्ट दिखाई देती है। अतः उस पर विचार करने के लिए हमे इस युग के उद्योग, व्यवसाय एवं जनजीवन की आर्थिक स्थिति पर एक विहगम दृष्टि डालनी होगी।

3.3.4.1 उद्योग एवं व्यापार

देश के जनजीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के अतिरिक्त इस युग मे अनेक महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धे भी विकसित हुए, जिनसे विदेशी व्यापार द्वारा प्रचुर धन लाभ होता था। इनमे

1 सस्कृति के चार अध्याय, डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 228, 229

से प्रमुख उद्योग रेशमी तथा सूती वस्त्रों का निर्माण, हाथी दात की कारीगरी तथा मोती पर पालिश इत्यादि के थे।¹

वस्त्रोद्योग के अतिरिक्त दक्षिण भारत, लका तथा पेगू में प्राप्त हीरे, नीलम तथा माणिक्य आदि बहुमूल्य पत्थरों के काटने तथा उन पर पालिश करने का काम भी विजयनगर, कालीकेट तथा मालाबार के अनेक नगरों में होता था।²

विजय नगर जैसे राज्य के शासक देशगत व्यापार की प्रतिष्ठा के लिए इतने सचेष्ट थे कि वहाँ पर विदेशी व्यापारियों का वह आधिपत्य स्थापित न हो सका, जैसा कि गुजरात के व्यापार में अरब, ईरान तथा दक्षिण अफ्रीका के व्यापारियों का एकाधिकार हो गया था। वहाँ के बाजार में काली मिर्च, रगीन वस्तुएँ³ मूंगा तथा धातुओं, पारा, सिन्दूर, चन्दन, अफीम, रेचक औषधि⁴ के रूप में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी घोड़ों आदि का व्यापार प्रचुर मात्रा में होता था।

इस युग में उद्योग धन्यो तथा व्यापार की पर्याप्त उन्नति हुई, जिससे कर्मकारों तथा व्यापारियों की आर्थिक उन्नति सम्भव थी, किन्तु गुजरात जैसे एक-आध राज्यों के इन आर्थिक वर्गों की समृद्धि को छोड़कर शेष प्रदेश की अपेक्षित सम्पन्नता में अनेक परिस्थितियाँ बाधक थीं।

3 3 4 2 जन-जीवन की आर्थिक दशा

आर्थिक जीवन को प्रस्तुत करने वाले निम्नलिखित साधन तथा उनसे निर्मित वर्ग प्रकाश में आते हैं — 1 कृषक, 2 व्यवसायी, 3 व्यापारी, 4 राजकीय वर्ग।

3 3 4 3 कृषक

प्रायः सम्पूर्ण काल में सुल्तान एवं राज्याधिकारी समृद्धि एवं विलासिता का जीवन बिताते थे, वहाँ कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी। दक्षिण भारत के मुस्लिम शासन के नीचे आने वाले कृषकों के प्रति भी यही विनाशकारी कर-नीति दिखाई पड़ती है। मूरलैड के अनुसार 'इस समय

1 Dr R C Mazumdar, The Delhi Sultanate Heading - Textile Manufacture

2 Dr R C Mazumdar, The Delhi Sultanate Heading - Work in Precious Metals and Polishing of Pearls

3 Dr R C Mazumdar, The Delhi Sultanate, Chapter XVII, p 651, 654

4 डॉ० अवधबिहारी पाण्डे, पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० 436 शीर्षक — विजयनगर

की अधिकांश अराजक परिस्थितियों में अफगान सुल्तान तथा उनके जागीरदार यथासम्भव प्राप्त भूमिकर से सन्तुष्ट थे, किन्तु उनका स्वत्वगत दावा तथा प्रयत्न यही रहा कि वे बलपूर्वक आधिकाधिक कर वसूल कर सकें।¹ इस युग में एक अन्य व्यवस्था ग्रामों के मुखिया या चौधरी से वसूली में सहायता लेने की दृष्टिगोचर होती है। इसके कारण आर्थिक शोषण और बढ़ जाता था।² बाबर ने ज्यों का त्यों चलने दिया और किसानों को इसका जो दुष्परिणाम प्रायः पूरे काल में पड़ा इसका परिचय इस बात से प्राप्त किया जा सकता है कि वे अर्थ संकट से त्रस्त होकर उन ग्रामों को छोड़कर भाग खड़े होने को विवश हो जाते थे, जहाँ कि वे वर्षों से निवास करते आ रहे थे। अधिकारियों के भ्रष्टाचार के कारण निर्धन कृषकों का किस प्रकार निर्मम शोषण होता था, इसका सुस्पष्ट परिचय राजा टोडरमल की अध्यक्षता में नियुक्त जाँच समिति की रिपोर्ट में मिलता है। अकबर का शासन कृषकों के प्रति सहानुभूति की भावना रखकर भी उनके सर्वथा विनाश को न रोक सका।

अतएव ऐसी आर्थिक दबाव की स्थिति में उनका जीविका-विहीन हो जाना अथवा स्त्री बच्चों को बेचने को विवश होना कोई आश्चर्य की बात न थी।

3.3.4.4 कर्मकार अथवा व्यवसायी वर्ग

सामान्यतः इस युग के उद्योग-धन्धे दो प्रकार के थे – एक तो ग्रामों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठित छोटे-मोटे उद्योग तथा दूसरे देश-विदेश के व्यापार से सम्बन्धित छोटे-बड़े उद्योग। इस युग में बड़ी उन्नति हुई जिसका प्रधान कारण विदेशी व्यापार था। इसी प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में सम्भात की प्रसिद्धि रेशमी, सूती तथा मखमली आदि सभी प्रकार के वस्त्रों ऊनी कबलो तथा तोषक और लिहाफ लिये थी। मूल्यवान रत्नों के जडाऊ काम, आभूषण-निर्माण, हाथी दाँत पर काम तथा मोतियों पर पॉलिश आदि के व्यवसाय भी इस युग में गुजरात में प्रचलित थे।³

1 द्रटव्य, W H Moreland, The Agrarian System of Moslem India, Chapter III, Heading - From Firuz to Babur

2 Dr S R Sharma, Mughal Empire in India, Heading - Young Jagirdar, p 112

3 द्रटव्य, Dr V A Smith, Akbar the Great Moghul, p 410.12, Heading - Manufactures and Trade

दिल्ली के सुल्तानों ने सेना तथा दरबारी अमीरों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बहुत बड़े पैमाने पर सरकारी कारखाने खोले थे। जिनमें हजारों कारीगर काम करते थे। अकबर के समय में सरकारी कारखानों की भी वृद्धि हुई तथा रेशमी वस्त्रों और जहाज बनाने का उद्योग भी बड़े पैमाने पर प्रतिष्ठित हुआ। सरकारी कारखानों के कारीगरों का जीवन आर्थिक दृष्टिकोण से सुख सुविधापूर्ण न था।

3.3.4.5 व्यापारी वर्ग

शेरशाह तथा इस्लाम शाह के शासनकाल को छोड़कर शेष समस्त उत्तर भारत ऐसी परिस्थितियों द्वारा आक्रान्त रहा कि एक ओर वह बंगाल तथा गुजरात के बन्दरगाहों से पूर्णतया असम्बद्ध हो चुका था तथा दूसरी ओर यातायात के मार्ग असुरक्षित होने के कारण अतर्देशीय व्यापार भी अवरूद्ध हो चुका था।¹ देश में दृढ़ शासन सत्ता के रहने पर व्यापारियों के लुटने की आशंका कम रहती थी। अतर्देशीय व्यापार के दृष्टिकोण से मुगल सम्राट अकबर का शासनकाल विशेष महत्वपूर्ण है। उसकी उन्नति के लिए सम्राट ने नयी सड़कों के निर्माण तथा उनकी सुरक्षा के साथ ही नदियों में नाविक यातायात की भी समुचित व्यवस्था की। उसने राष्ट्रीय संपत्ति को बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों में जाने से रोककर एक ओर उनके आयात में पर्याप्त कमी की तथा दूसरी ओर देशी शिल्प को प्रोत्साहन देते हुए उनके प्रयोग पर विशेष बल दिया।

गुजरात की हिन्दू जातियों में से वणिकों के पास अपार धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त उनका खानपान, मूल्यवान वस्त्राभूषण एवं रहन-सहन का वर्णन उनके लिए स्वर्णकाल का द्योतन करता है।²

अकबर के शासनकाल में आवागमन की सुरक्षा तथा चुगी की दरों में कमी के कारण व्यापारिक उन्नति के साथ व्यापारियों की आर्थिक दशा काफी अच्छी हो गयी। प्रायः बड़े व्यापारी अपने

- 1 W H Moreland, The Agrarian System of Moslem India, Heading - From Firuz to Babur, p 68.69
- 2 Dr R C Mazumdar, The Delhi Sultanate, Chapter XVIII, Heading - Muslim Control in Overseas Trade

निर्देशानुसार औद्योगिक वस्तुएँ तैयार करवाकर पर्याप्त लाभ उठा लेते थे। डॉ० विद्यालकार के अनुसार, एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाकर अच्छी रकम पैदा करते थे।¹

3.3.4 6 राजकीय वर्ग

राजकीय वर्ग की आर्थिक समृद्धि के वैध अथवा अवैध सभी प्रकार के स्रोत इतने प्रबल थे कि राजभवन तुल्य आवासों में रहते तथा वैभव-विलास का जीवन बिताते थे। इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले अमीरों को जागीरें मिली हुई थी, जिनसे उन्हें पर्याप्त आय होती थी। एक इतिहासकार के शब्दों में “ये इतने सम्पन्न थे कि कभी-कभी तो उनकी शानशौकत देखकर सुल्तानों तक को ईर्ष्या होने लगती थी।”²

सामान्य सैनिकों का वेतन भले ही कम रहा हो, किन्तु जैसा युद्धों में लूट द्वारा प्राप्त धन का एक भाग उन्हें भी मिलता था। इन सब के अतिरिक्त राज्य के अन्य छोटे-बड़े सभी अधिकारियों में राजकीय वेतन के अतिरिक्त भेट तथा हक-दस्तूर आदि की इतनी प्रथाएँ प्रचलित थीं जो उनकी दशा को सतोषजनक बनाने के लिए पर्याप्त थीं।

3 3 5 साहित्यिक परिपार्श्व

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल काव्यसृजन की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और उपजाऊ भाव-भूमि लिए हुए है। यह युग हिन्दी काव्य में पूर्ण-परम्पराओं के अनुपालन का काल है। मध्यकाल से पूर्व आदिकाल की प्रमुख काव्य-धारा ‘रासोकाव्य परम्परा’ में प्रेम-कथाओं के माध्यम से वीरता एवं रोमांस का सुन्दर सामंजस्य है। आदिकालीन रासो काव्य मूलतः प्रेम-मूलक है। इसमें प्रेम का आलम्बन रूप सौन्दर्य है, बाह्य आकर्षण है। इस काल में रासोकाव्य के अतिरिक्त जैन, सिद्ध, नाथ आदि कवियों द्वारा सम्प्रदायगत सिद्धान्तों के आधार पर आध्यात्मिक व्यंजन करने वाली तथा लोकजीवन से जुड़ी, ऐसी रचनाएँ भी साहित्य के क्षेत्र में आयीं, जिन्होंने मानव सस्कृति को एक स्वस्थ दिशा दी।

-
- 1 डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार, भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, भाग-2, अध्याय 29, मुगल युग का भारत, शीर्षक - आर्थिक दशा, पृ० 683-84
 - 2 Dr R C Mazumdar, The Delhi Sultanate, Chapter XVIII, Heading - Muslim Religion and Society by Dr M W Mirza

आदिकालीन हिन्दी काव्य परम्परा का विकास मध्यकाल में हिन्दी भक्ति काव्य के रूप में सामने आया। भक्ति काव्य में आध्यात्मिक चिन्तन को, व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व के विकास का आधार बनाया। इस काव्य धारा में व्यक्ति की पशुवत मूलवृत्तियों का उदात्तीकरण करते हुए जीवन को एक सार्थक मूल्यपरक दिशा देने का प्रयास किया गया।

प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा¹ के अनुसार, “इस काल का साहित्य एक ही समय में हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करने की क्षमता रखता है, लोक परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। अतएव हम कह सकते हैं कि भक्तिकालीन साहित्य की आत्मभक्ति जीवन रस और शरीर मानवीय है।”

मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य को धार्मिक आन्दोलनों से भी एक आधार भूमि मिली। भक्ति काव्य के उदय से पूर्व भक्ति मार्ग के लिये वह बड़ा अनुकूल वातावरण था। भक्ति काव्य के क्रम में कृष्ण-भक्ति का प्रचार यहाँ बड़े व्यापक रूप से चला। महाप्रभु चैतन्य देव तथा गीत-गोविन्द कार ने उसमें भावावेश भर दिया। अतः कृष्ण कथा की चेतना भक्ति के संचरण के साथ कृष्ण काव्य के रूप में पल्लवित हुई। कृष्ण भक्ति काव्य के समानान्तर रामकथा को लेकर भी काव्य रचना की एक परम्परा संस्कृत से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी, जिसका पूर्ण विकास हमें जायसी के 35 वर्ष बाद तुलसी की काव्य रचनाओं के रूप में दिखाई देता है।

सगुण भक्ति काव्य के अतिरिक्त हिन्दी निर्गुण भक्ति काव्य के लिए एक अनुकूल वातावरण नाथ, सिद्ध की परम्परा ने तैयार कर दिया था। सन्त साहित्य की परम्परा हिन्दू-मुस्लिम समाज में समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास के लिए उस समाज में व्याप्त जडताओं पर उन्होंने प्रतिबन्धों, असंगत विचारों और सिद्धान्तों की कड़ी भर्त्सना की और खिल्ली उड़ाई। उनकी उक्तियाँ बड़ी चुभती हुई थी। सन्त परम्परा द्वारा उद्घाटित सत्यता को स्वीकार करते हुए भी जनमानस से बहुत अनुकूल वातावरण नहीं बना, उससे आध्यात्मिक चिन्तन को तो एक दिशा मिली, लेकिन सामाजिक संस्कारों का ढाँचा नहीं बन सका।

1. जायसी के पद्मावत का मूल्यांकन, डॉ० जगदीश प्रसाद, श्रीवास्तव एवं प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा, पृ० 52

अतः सन्त परम्परा ने एक अनुकूल वातावरण तो तैयार किये, लेकिन समाज में एक सुसंस्कृत रूप देने का उनका प्रयास बहुत सफल नहीं रहा। सन्त काव्य परम्परा की काव्य चेतना को समाजोन्मुखी संस्कृति से समन्वित करने का कार्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्य ने किया। मध्यकाल सांस्कृतिक दृष्टि से समन्वय का काव्य है। जायसी तक मुसलमानों को भारत में आये आठ शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थी। इस साहचर्य के परिणामस्वरूप धार्मिक, सामाजिक आदि व्यवस्थाओं ने परिवर्तन के साथ एक सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए अवकाश किया। सामान्यतः यह माना जाता है कि “सूफी कवियों ने जनता की रूचि, शासकों का आकर्षण आदि देखकर कहानियों को पद्य-बद्ध करके सुनाना प्रारम्भ किया। उनका उद्देश्य ‘प्रेम की पीर’ का वर्णन और इस्लाम का प्रचार था, तथापि शासकों की तत्कालीन मनोवृत्ति को तृप्त करने के लिये विलासिता का अतिरजित चित्रण एवं निस्सहाय हिन्दू जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये कोमल भावनाओं का मार्मिक शब्दों में सफलतापूर्वक वर्णन करना प्रारम्भ किया।

सूफी कवि और काव्य के सम्बन्ध में विद्वान समीक्षकों की यह अवधारणा सूफी काव्य चेतना के साथ न्याय नहीं कर पाती। हमें यह कहने में कोई सकोच नहीं है। सूफी कवियों का उद्देश्य शासकों को प्रसन्न या सतुष्ट करना नहीं था, वे हिन्दू जनता की सहानुभूति प्राप्त करके अपनी किसी लौकिक आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं करना चाहते थे। सूफी कवि तो स्वस्थ जीवनवृत्ति में रमते हुए आध्यात्मिक चेतना के संचार के साथ सामाजिक जीवन व्यवस्था को एक सुसंस्कृत रूप में देखना चाहते थे। उनका लक्ष्य काव्य के माध्यम से मूल सामाजिक सम्बन्धों का एक ऐसा ढाँचा तैयार करना था जो लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करते हुए आध्यात्मिक साधना, जीवन साधना और काव्य साधना की भाव भूमि तैयार कर सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में श्रृंगार और गृहस्थ जीवन के मार्मिक पक्षों को अपनी काव्य रचनाओं में आधार देकर समाजोन्मुखी संस्कृति के लिए एक वातावरण तैयार किया। इसके लिये सूफी कवियों ने काव्य का एक रचना तंत्र तैयार किया। सूफी कवियों के रचना तन्त्र के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों की राय निम्न मत की प्रतिष्ठा करती है।

‘इस परम्परा के कवियों ने हिन्दू कहानियों को फारसी मनसवी के ढाँचे में ढाला। हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों को धार्मिक भावनाओं और विचारों का स्पष्टीकरण उपरिष्ठत किया।

नाथ-पथियो का हठयोग वैष्णवों की भक्ति, पूजा आदि सन्तों की गुरु-महिमा और इस्लाम का एकेश्वरवाद, वामाचार के श्रृंगारिक चित्र सांस्कृतिक चेतना के साथ इस 'प्रेम की पीर' के मतवाले प्रेम-मार्गी कवियों की कृतियों में मिलते हैं।¹

विद्वानों की धारणाएँ जायसी के काव्य के बाह्य कलेवर का रेखांकन तो कर देती हैं, लेकिन इन सबसे जायसी के काव्य की काव्य चेतना का स्वरूपांकन नहीं हो पाता। यह सत्य है कि जायसी से पूर्व जिन साहित्यिक परम्पराओं का भारतीय साहित्य में विकास हो रहा था उन्होंने जायसी के काव्य के लिये भूमि तैयार करने का कार्य किया। एक युग से विभिन्न साहित्यिक परम्पराएँ समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास के लिए अपने-अपने ढंग से प्रयास कर रही थीं।

सोलहवीं शताब्दी में उन समस्त भावनाओं के एकाकीकरण और भिन्न-भिन्न आदर्शों के सामंजस्य के लिये बड़े ही सरस एवं आकर्षक ढंग से सहृदयता पूर्वक उपस्थित करने का अनुकूल वातावरण तैयार हो रहा था।

3.4 सर्जना की आधारभूमि

किसी भी कवि के काव्य की सर्जना उसके व्यक्तित्व की प्रतिफलन होती है। कवि अपनी सर्जना की आधारभूमि में व्यक्तित्व के विकास में सहायक तत्वों को तलाशता है। जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उसकी चेतना का अंग बन जाता है। कवि की युगीन पृष्ठभूमि उसका परिपार्श्व, उसका वैयक्तिक परिवेश ही सर्जना की आधारभूमि बनता है। जायसी की जीवन साधना जीवन की विषमताओं की अधेरी गलियों से होती हुई आगे बढ़ी है। उनका पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं है। जीवन की विषमताओं ने उन्हें जीवन के स्वरूप को समझने के लिये प्रेरित किया।

गत अध्याय में जायसी के काव्य, उनके व्यक्तित्व, परिपार्श्व और पृष्ठभूमि पर विचार करने के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं कि जायसी के काव्य की आधारभूमि का रेखांकन कर सकें। एक गम्भीर विचारक की तरह उन्होंने जीवन को देखा, समझा और उसके तात्त्विक स्वरूप पर विचार किया। उनकी इस विचार यात्रा ने उनकी रचनाओं के लिये वह भूमि प्रदान की जो उन्हें सामाजिक मनोभूमि की ओर ले जाती है।

1 सूफी कवि जायसी डॉ० जयदेव, पृ० 29

जायसी के काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि जायसी का काव्य मानव के व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक दृष्टि के संचार का काव्य है। जायसी का 'पद्मावत' हो या उनकी अन्य रचनाएँ सभी मानव और उसके समाज को एक जीवनदृष्टि प्रदान करती हैं। इस प्रकार जायसी के काव्य के दो पक्ष हमारे सामने उभरकर आते हैं। 1 सामाजिक 2 आध्यात्मिक। इन दोनों पक्षों में कौन सा गौण है और कौन सा प्रधान, यह निर्णय करना पाठक की अपनी मनोभूमि पर निर्भर करता है। जायसी के काव्य में दोनों पक्ष इस प्रकार सश्लिष्ट हैं कि जायसी के काव्य में समासोक्ति या अन्योक्ति का प्रश्न आज भी उलझा हुआ है। जीवन बिम्बों की तलाश में और अपने जीवन की अर्थवत्ता खोजते हुए जायसी आध्यात्मिक मनोभूमि की ओर आगे बढ़े। यहाँ उन्होंने अपनी अभावजन्य मनोभूमि की पूर्ति के लिये प्रेम का बीज बोया और उस प्रेम का दर्शन इस सृष्टि के कण-कण में महसूस किया। प्रेम और अध्यात्म का समन्वयात्मक संयोग जायसी के काव्य की सर्जना की आधार भूमि है। 'पद्मावत' में इसी प्रेम और अध्यात्म को आधार बनाकर वे सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन बिम्बों में सर्जना करते हैं।

जायसी के काव्य पर सामान्य दृष्टि से जब विचार किया जाता है तो उनकी प्रमुख रचना 'पद्मावत' की सर्जनात्मक आधारभूमि सामन्ती परिवेश और उसके साथ जुड़ी हुई नारी अस्मिता भी दिखाई देती है। 'पद्मावत' का सम्पूर्ण कथानक इस पुरुष प्रधान मानव समाज में नारी की अस्मिता और उसकी अर्थवत्ता की तलाश करता हुआ दिखाई देता है। 'पद्मावत' का यह रचना तंत्र समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को आधार बनाकर अपना ताना-बाना फैलाता है। इस प्रकार देखा जाये, तो जायसी के काव्य की सर्जनात्मक आधारभूमि एक ओर मानवीय समाज के सांस्कृतिक स्वरूप पर अपना स्वरूप निर्माण करती है। जायसी सूफी-संत हैं उनकी अपनी चेतना सार्थकता की तलाश करती हुई लौकिक जीवन से अलौकिक जीवन की ओर मुड़ जाती है। सूफियों की भाषा में कही तो उनकी काव्य चेतना इश्क मजाजी से इश्क हकीकी तक की यात्रा है। दूसरे शब्दों में कहे तो काम और अध्यात्म का मनोरम संयोग।

इस प्रकार जायसी का काव्य सर्जना के आधार पर लौकिक जीवन और आध्यात्मिक मनोभूमि का समन्वय है। इस आध्यात्मिक मनोभूमि के निर्माण में अनेक भारतीय और अ भारतीय में

आध्यात्मिक साधना का संचार हुआ है। जायसी के काव्य की सर्जना मुख्य रूप से प्रेम को आधार बनाकर अपना स्वरूप ग्रहण करती है। जायसी अपने काव्य में जिन जीवनमूल्यों का निर्माण करते हैं उनकी अर्थवत्ता केवल प्रेम है। प्रेम के अभाव में जायसी मानव के अस्तित्व एक मुट्ठी धूल के रूप में मानते हैं। यह प्रेम ही है जिससे मिट्टी के इस पुतले में चिदश का प्रकाश होता है। प्रेम एक ऐसा तत्त्व है जो मानव के पार्थिव रूप में छिपी हुई चेतना को दूसरी चेतना से मिलने के लिये आकुल करता रहता है। यही वे चेतना है जो सम्पूर्ण समाज को जुड़ने का आधार देती है। प्रेम की चेतना मूल भार पुरुष की नारी चेतना और नारी की पुरुष चेतना में चरम रूप में निहित है। चेतना का यही प्रेम तत्त्व जब ससीम से असीम की ओर निकल जाता है तो आध्यात्मिक प्रेम की सीमा में प्रवेश करता है। प्रेम की सहायता से मनुष्य अपने दिव्य आत्म भाव के साथ समरस बनता है। सूफी की परिभाषा में यह आत्म तत्त्व ही उनकी प्रेमिका है। जायसी के काव्य की सर्जनात्मक आधार ही प्रेम है।

जायसी अपने काव्य की सर्जना सिद्धों के सहजयान, नाथों के शैव मत आदि विभिन्न धर्म साधनाओं से भी आधार ग्रहण करते हैं। सर्जना की इसी आधारभूमि को देखते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपना मत व्यक्त किया है – “जायसी के हाथों में ‘पद्मावत’ की लोककथा न केवल एक पूर्णतम महाकाव्य के रूप में ढल गई, बल्कि उसका पूवार्द्ध भाग तो सहजयान मार्ग और नाथ योगियों के मार्ग का जैसे प्रतिनिधि ग्रन्थ ही बन गया। जिसमें इन दोनों धाराओं के अधिक से अधिक संकेत कौशल से यथास्थान परो दिये गये हैं। उनकी समृद्ध शब्दावली को श्लेषमयी शैली में कवि ने ऐसे सुन्दर ढंग से अपना लिया है कि ऊपर से काव्य पक्ष नितान्त परिशुद्ध दिखाई पड़ता है किन्तु उसके भीतर अध्यात्म अर्थों की रसवाही धारा प्रवाहित है। ज्यों-ज्यों सिद्धों के सहजयान और शैव मतानुयायी नाथों के साहित्य का प्रकाशन और अध्ययन हिन्दी जगत में अधिक सुलभ होगा, त्यों-त्यों उनकी विशिष्ट परिभाषाओं के परिचय के आधार पर जायसी की शब्दावली की सार्थकता उत्तरोत्तर जानी जा सकेगी। द्वयर्थक शब्दावली का प्रयोग अमीर खुसरो की फारसी मसनवियों में भी बहुतायत से होता था, किन्तु जायसी जैसे विशिष्ट कलाकार के हाथों में यह शैली बहुत मँज गई।”¹

इन धर्म साधनों के आधार पर जायसी की काव्य चेतना ने जिस आध्यात्मिक चेतना को अपना आधार बना लिया उसे व्यक्त करने के लिये जिस वस्तु तत्त्व का चयन किया वह मध्यकालीन भारतीय समाज के सांस्कृतिक ह्रास का व्यक्त रूप है। उसमें सामाजिक सांस्कृतिक धरातल का विभिन्न जीवन सदर्थों का यथार्थ स्वरूप है। विशेष रूप से जायसी की सर्जना नारी अस्मिता के चारों ओर घूमती है। नारी ही उनकी काव्य सर्जना का केन्द्र है। जायसी यह भली-भाँति जानते हैं कि सुसंस्कृत समाज के लिये पुरुष की नारी चेतना, नारी की पुरुष चेतना और नारी की नारी चेतना ही सम्यक् आधार दे सकती है। इसी चेतना को आधार बनाकर जायसी की काव्य सर्जना आगे बढ़ी।

चतुर्थ अध्याय

‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी
सांस्कृतिक संचेतना

1. ‘पद्मावत’ की कथावस्तु और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
2. ‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयाम

‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

4.1 ‘पद्मावत’ की कथावस्तु और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

पूर्व अध्याय में जायसी की रचना पर विचार करते हुए हम पद्मावत की कथावस्तु का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल ने पद्मावत की सम्पूर्ण कथा को दो भागों – पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित किया है। पूर्वार्द्ध की कथा के अन्तर्गत पद्मावती का जन्म, उसका बचपन, कौमार्यावस्था, रत्नसेन की सिंहाल यात्रा, पद्मावती की प्राप्ति और चित्तौड़ लौटने की कथा आती है। उत्तरार्द्ध की कथा में राघव-चेतन का देश निकाला, अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण, कुभलदेश के राजा देवपाल द्वारा पद्मावती को फुसलाना, रत्नसेन की मृत्यु और पद्मावती के सती होने तक की कथा है। शुक्ल जी¹ ने पद्मावत की कथावस्तु को काल्पनिकता और ऐतिहासिकता को आधार बनाकर अनुशीलन का विषय बनाया। शुक्ल जी द्वारा डाली गई इस अध्ययन परम्परा को ही आधार बनाकर अन्य विद्वानों ने या तो इतिहास की तहों में जाकर इस कथा के अनेक सदर्भ सूत्र खोज निकाले हैं या कुछ अशो को कवि की कल्पना के रूप में सिद्ध करने में ही अपनी सारी शक्ति का सदुपयोग किया है। ऐतिहासिकता और काल्पनिकता कथावस्तु के श्रोत या उत्स की ओर तो संकेत करते हैं, लेकिन इनसे किसी रचना की काव्य चेतना पूरी तरह स्पष्ट हो सके, यह संभव नहीं है। पद्मावत के सदर्भ में भी यही स्थिति रही है।

पद्मावत का सम्यक् अनुशीलन करते समय इस सन्दर्भ में दो राय नहीं हो सकती कि पद्मावत की रचना में जायसी की काव्य चेतना जीवन सदर्भित किसी विशेष उद्देश्य से इतिवृत्तात्मकता में कल्पना का संचार करके कथानक मात्र की संरचना नहीं है। अतः जायसी के पद्मावत को सही परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने के लिये हमें उसके कथानक को जीवन सन्दर्भों में ही देखना होगा।

जायसी के पद्मावत का रचनातंत्र समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों का रूप ग्रहण करता है। जायसी के पद्मावत की कथा पद्मावती को केन्द्र में रखकर उसके चारों ओर घूमती है। पद्मावत में अभिव्यक्त पद्मावती की कथा मानव समाज में युगों से चली आ रही नारी जीवन की कथा है। यह कथा पुरुष प्रधान समाज में नारी अस्मिता के लिये अनेक प्रश्न खड़े करते हुए उनके

समाधान खोजने का एक सार्थक प्रयास तो है ही, साथ ही सामाजिक संरचना के मूल आधार परिवार नामक संस्था और उसकी परिवार चेतना को भी सांस्कृतिक धरातल पर अभिव्यक्त करने का एक प्रयास है। पद्मावत की प्रासंगिक कथाएँ और वस्तु वर्णन भी आनुप्रासंगिक रूप में समाजोन्मुखी संस्कृति के अनेक आयामों को उनकी चेतना के साथ स्वस्थ स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं। अपनी शोध यात्रा के इस चरण में हम जायसी की महान् कृति पद्मावत की कथा संरचना में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति के आयामों पर विचार करेंगे।

4.2 'पद्मावत' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयाम

पूर्व अध्याय में समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों को रेखांकित करते समय हम देख चुके हैं कि समाजोन्मुखी संस्कृति की मूल चेतना सामाजिक संरचना से शुरू होती है। सामाजिक संरचना ही जीवन व्यवस्था को स्वरूप प्रदान करती है। अतः पद्मावत में अभिव्यक्त सामाजिक संरचना और जीवन के व्यवस्थागत आयाम ही हमारे अध्ययन का प्रस्थान बिन्दु होगा।

4.2.1 सामाजिक संरचना एवं जीवन व्यवस्थागत आयाम

4.2.1.1 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना और परिवार व्यवस्था

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समूह में रहने की प्रवृत्ति तो अन्य प्राणियों में भी पायी जाती है। अन्य प्राणियों में इस प्रवृत्ति के विकास का आधार असुरक्षा की भावना होती है। अन्य प्राणियों में जीवन सदर्थ और जीवन व्यवस्था एकाकी और आत्मनिर्भरता की चेतना पर आधारित होती है। एकाकी और आत्मनिर्भरता की चेतना उनमें सामाजिक विकास की भावना को नहीं पनपने देती। समूह में जब जीवन-व्यवस्था एक दूसरे पर निर्भर हो जाती है, तब सामाजिक भावना का विकास होता है। प्राणी की आधारभूत संरचना शरीरगत और मनोगत दोनों ही दृष्टियों से स्वकेन्द्रित होती है। यह चेतना उस अवस्था के जहाँ मनुष्य का विकास आदिम धरातल पर होता है। आदिम धरातल पर जीवन का विस्फार मूल सवेग पर आधारित होता है। यह मूल सवेग ही आदिम जीवन के नियन्त्रित होते हैं। यदि मानव संस्कृति के विकास पर दृष्टिपात किया जाये, तो यह तथ्य हमारे सामने उभर कर आता है, कि जीवन के विकास के साथ आत्मनिर्भरता की स्थिति निर्भरता में परिवर्तित हुई, परिणामस्वरूप समाज का विकास हुआ। आदिम काल में जब तक समाज का विकास नहीं हुआ होगा, स्त्री-पुरुष एकाकी होकर स्वच्छन्द विचरण करते थे। अनियन्त्रित यौन संबंध और उससे

उत्पन्न सन्तति पशुओं की तरह एक अवस्था तक माँ के साथ रहते थे। ऐसी अवस्थाओं में जीवन व्यवस्था के लिये ना कोई सामाजिक तन्त्र था, ना आर्थिक तन्त्र, धार्मिक और राजनीतिक तन्त्र की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इस अवस्था में भावनात्मक सम्बन्ध भी केवल वैयक्तिकता का आधार लिये हुए होंगे। विचारकों ने समाज की सामाजिक संरचना विकास के मूल में मात्र सत्तात्मक परिवार से सामाजिक संरचना के विकास की कल्पना की है। मातृ सत्तात्मक परिवार चेतना से आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित परिवार चेतना के विकास की परिकल्पना की जा सकती है। डॉ० रागेय राघव ने आर्थिक परिवार सिद्धान्त के स्वरूप की बड़ी सगत व्याख्या की है – “जब पुरुष तथा स्त्री में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसके परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार सन्तान के लालन-पोषण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। एक दूसरे का पालन-पोषण तथा देख-रेख के लिये प्रत्येक के साथ कुछ अधिकार और कर्तव्य निर्धारित हो जाते हैं। उन कर्तव्य द्वारा एक दूसरे की इच्छा को सन्तुष्ट करने का प्रश्न खड़ा होता है। वह भी इच्छा हवाई किले बनाने की नहीं वरन् आर्थिक होती है। आर्थिक व्यवस्था परिवार में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है, क्योंकि इसकी अव्यवस्था होने से परिवार ठीक रूप से स्थिर नहीं रह सकते हैं। इसीलिये मानव सदैव आर्थिक समस्या को ही लेकर परिवार के द्वार से बाहर निकलता था और आज भी निकलता है। इस प्रकार अपनी स्त्री, अपने बच्चे की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए परिवार की संस्था को जन्म मिला। उपरोक्त सब बातों से प्रमाणित होता है कि परिवार का जन्म आर्थिक कारणों के फलस्वरूप हुआ।”¹

सन्तति के पालन-पोषण की आन्तरिक व्यवस्था का भार माता पर होने के कारण जीवन की बाह्य व्यवस्था पर पुरुष का एकाधिकार होता गया होगा। परिणामस्वरूप पितृसत्तात्मक परिवार का स्वरूप अस्तित्व में आया होगा। परिणाम के इस स्वरूप विकास में मनुष्य के सामने बहुत सारे प्रश्न खड़े हुए होंगे। जिसमें परिवार चेतना को संस्कारित करने के लिए प्रेरित किया होगा। परिवार चेतना को संस्कारित करने की प्रेरणा ने परिवार के सन्दर्भ में भौतिक कार्य, जैविक कार्य मनोवैज्ञानिक, परिक्षणात्मक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दिशाओं का विकास किया। इस प्रकार परिवार एक सामाजिक व्यवस्था बन गयी। परिवार व्यवस्था के विकास की भौतिक दिशा के रूप में रहने के आश्रय की

1 संस्कृति और समाजशास्त्र, भाग-2, डॉ० रागेय राघव, पृ० 28

व्यवस्था का विकास हुआ। स्त्री-पुरुष ने पति-पत्नि के रूप में पूरे जीवन एक साथ रहने का निर्णय करने के पश्चात् अपनी सुरक्षा के लिये एक घर की व्यवस्था की, वही घर स्त्री-पुरुष और बच्चों का एक सबध भावना के साथ आश्रय स्थल होने के कारण परिवार का पर्याय बन गया। इस प्रकार परिवार की स्थापना इसी घर की स्थापना के साथ हुई। आश्रय के रूप में घर की व्यवस्था के पश्चात् सुख-दुःख में परस्पर सहायता शारीरिक कष्ट, बीमारियाँ तथा अन्य सेवाये भी परिवार चेतना के साथ जुड़ती गयी। इस प्रकार परिवार भौतिक जीवन व्यवस्था का आधार बन गया जिसे एक स्वास्थ्य केन्द्र तथा भोजन एवं आवास की व्यवस्था का आधार माना जाने लगा।

परिवार चेतना के विकास का आदि बिन्दु तो जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति रहा है। मनुष्य की स्वाभाविक और अनियंत्रित जैविक आवश्यकताये परिवार में भली-भाँति पूरी हो जाती है। परिवार की इस चेतना में सामाजिक व्यवस्था में एक सुदृढ़ आधार है। परिवार की सांस्कृतिक चेतना ने मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास में भी एक दिशा दी है। सामान्यतः मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और निर्माण परिवार पर ही निर्भर करता है। परिवार के वातावरण तथा आनुवांशिक गुणों का प्रभाव परिवार की ही देन है। माता के गर्भ में आते ही शिशु पर परिवार का तथा आस-पास के वातावरण में प्रभाव पड़ने लगता है। जन्म से पहले और बाद के वातावरण का प्रभाव तथा परिवार में प्रेम, सहानुभूति तथा त्याग का अनुभव करते हुए प्रेम, सौहार्द, भातृ-प्रेम आदि का ज्ञान मनुष्य को परिवार में ही होता है। जीवन व्यवस्था के लिये परिवार प्रशिक्षण का एक केन्द्र भी है, मनुष्य प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ परिवार से ही सीखता है। यही से उसमें नैतिक जीवन का विकास होता है। मनुष्य की परिवार चेतना ने जीवन के विकास की स्थिति, उसमें धार्मिक एवं राजनीतिक चेतना का विकास किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार चेतना ही सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था का मूलभूत आधार है।

मानव-जीवन की यह भी विडंबना है कि उसकी चेतना उसे निरन्तर दो दिशाओं की ओर आकर्षित करती है – एक ओर वह सकुचित आधार पर स्वकेन्द्रित होकर केवल अपनी भौतिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समर्पित रहता है। वही दूसरी ओर उसकी चेतना उसे सकुचित सन्दर्भों से निकाल कर सामूहिक सन्दर्भों की ओर ले जाती है। जिससे सामाजिक जीवन का विकास होता है। मनुष्य चेतना का यह अन्तर्विरोध और अन्तःसंघर्ष निरन्तर चलता रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान के आचार्यों ने भी मानव-चेतना की इस स्वरूप संरचना का वैज्ञानिक आधार

का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, मानव-चेतना का अन्तर्विरोध और अन्तःसंघर्ष समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना के विकास में कभी सहायक होता है और कभी बाधक। सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था की मूल-भूत संस्था परिवार चेतना भी इसके प्रभाव से प्रभावित होती है।

पिछले अध्याय में मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि इस युग में परिवार की सांस्कृतिक चेतना का ह्रास हो गया। पद्मावत में परिवार की इसी सांस्कृतिक चेतना के ह्रास को जायसी ने अभिव्यक्त करते हुए समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना को एक दिशा देने का प्रयास किया है।

4.2.1.1.1 पद्मावत में अभिव्यक्त परिवार चेतना

4.2.1.1.1.1 परिवार चेतना और नारी अस्मिता

काव्य चेतना की दृष्टि से पद्मावत एक नारी प्रधान काव्य है। नारी परिवार चेतना और परिवार व्यवस्था की मूल धूरी है। समय के प्रवाह में पारिवारिक संरचना में नारी अस्मिता शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गई। मध्यकाल इस दृष्टि से समाजोन्मुखी सांस्कृतिक ह्रास की ओर निरन्तर उन्मुख हो रहा था। जायसी ने समाज की इस सांस्कृतिक दिशा को पहचाना और उसे काव्य रचना का आधार बनाया। अपनी काव्य रचना में उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक सचेतना का समर्थन करते हुए उसमें निहित संस्कारों की प्रतिष्ठा कर समर्थन किया। अब हम पद्मावत में जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की इन्हीं दिशाओं को देखेंगे।

4.2.1.1.1.2 कन्या जन्म

जायसी ने, पद्मावत में, परिवार चेतना को सांस्कृतिक धरातल पर, परिवार संरचना को प्रारम्भिक बिन्दु से ही उठाया है। वे पद्मावत के 'जन्म खण्ड' में पद्मावती के जन्म का वर्णन करते हुए, परिवार चेतना की सुसंस्कृत भाव-भूमि की ओर संकेत करते हैं। 'जन्म खण्ड' में पद्मावती के जन्म की घटना कुछ ऐसी विलक्षण स्थिति की ओर संकेत करती है, जो बच्चे या मनुष्य की सामान्य जैवीय उत्पत्ति को विलक्षण स्थितियों में लाकर उसके भावी व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा का संकेत करती है —

“प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई।

पुनि वह जोति मातु-घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई।

जस अवधान पूर होइ मासू। दिन दिन हिये होइ परमासू।

जस अचल मँह छिपै न दीया। तम उँजियार दिखावै हीया।”¹

विद्वान्, जायसी के ग्रन्थ में पद्मावती के जन्म वर्णन को आध्यात्मिक अवतरण के रूप में व्याख्यायित करते हैं। वे उसे परम चेतना के अवतार के रूप में देखना चाहते हैं। आध्यात्मिक भावभूमि पर इन पक्तियों का अर्थ कुछ भी लगाया जाये, लेकिन इससे जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की व्यजना भी स्पष्ट रूप से संकेत देती है। पक्तियों के अनुसार पद्मावती रूपी ज्योति पहले पिता के माथे की मणि बनी, फिर माता के घट में आई, इसके पश्चात् उसकी माता के उदर में स्थापना हुई। जायसी के इस कथन से बच्चे के जन्म के सन्दर्भ में उस सांस्कृतिक सचेतना की व्यजना होती है। जिसके आधार पर बच्चे के भावी व्यक्तित्व के विकास के लिये भावनापरक बीजारोपण होता है। सन्तान की उत्पत्ति एक जैवकीय प्रक्रिया है, जो स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों का परिणाम है। यह प्रक्रिया मनुष्यों और पशुओं में एक समान होती है। मनुष्य ने जब अपनी भावी सन्तान के आदर्श व्यक्तित्व की परिकल्पना की और उस भावना के साथ नारी की भावना को समायोजित करते हुए सतति की कामना से गर्भ स्थापित किया, तब सतति उत्पत्ति की जैवकीय प्रक्रिया समाजोन्मुखी संस्कृति का अंग बन गयी। भारतीय संस्कृति में संस्कारों के अन्तर्गत सर्वप्रथम गर्भाधान संस्कार का विधान है, जो इसी सांस्कृतिक चेतना का मूर्तरूप है। शिशु का माता के गर्भ में बीज रूप से प्रतिष्ठित होना गर्भाधान है। वैदिक धारणा के अनुसार शिशु की इस प्राथमिक प्रतिष्ठा के लिये विष्णु त्वष्टा, प्रजापति सरस्वती, अश्विद्वय आदि देवताओं का आयोजन अपेक्षित है।² इस अवसर पर तत्कालीन दम्पति की मनस्थिति का परिचय उनकी परस्पर कामना से मिलता है — हमारी आँखें मधु के समान स्निग्ध हो, हमारी प्रभा अजन के समान रहे, तुम मुझे हृदय से धारण करो, हम दोनों का मन एक हो।³ पति कामना करता था कि तुम अनेक बार वीर माता बनो। तुम ऐसा

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक, जन्मखण्ड, पृ० 16

2 ऋग्वेद 10 184, अथर्ववेद 5 25 से तथा बृहदारण्यक 6 2 13

3 अथर्ववेद 7 36 से

पुत्र प्राप्त करो, जो तुम्हें समृद्धि प्रदान करे और तुम उसे समृद्धि प्रदान करो।¹ बृहदारण्यक उपनिषद् में विविध गुणों और योग्यताओं से सम्पन्न पुत्र पाने के लिए अलग-अलग प्रकार के भोजन करने का विधान मिलता है।² कुछ स्मृतियों के मतानुसार गर्भ में प्रतिष्ठित होने वाला शिशु माता के मानस पटल पर अंकित व्यक्ति के समान होता है। अतः पत्नी को हीन व्यक्तित्व के लोगों की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहिए।³

जायसी उपर्युक्त पंक्तियों में इसी संस्कार चेतना की बात करते हुए पद्मावती के व्यक्तित्व विकास की भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। जायसी की यह भावना इस संस्कार के साथ पद्मावती के जन्म के आधार पर उसके व्यक्तित्व को ऐसा रूप प्रदान करती है जिससे सुसंस्कृत समाज की स्थापना का आधार बनता है। पद्मावती का भावी व्यक्तित्व किसी अवतार की तरह आलौकिक नहीं है, सामाजिक सन्दर्भ में वह जीती-जागती एक ऐसी नारी का व्यक्तित्व है जो अपने रूप गुणों के आधार पर पुरुष के आकर्षण का विषय बनती हुई उसके जीवन का विषय बन जाती है।

उपर्युक्त संस्कार-भावना का प्रभाव जायसी, गर्भ में स्थित पद्मावती के व्यक्तित्व निर्माण पर दिखाते हैं। पद्मावती जब कन्या के रूप में अवतरित हुई, उसका रूप पूरी तरह निष्कलंक और सौन्दर्य से परिपूर्ण था।

4.2.1 1.1.3 नामकरण और उसकी संस्कार चेतना

जन्म संस्कार के पश्चात् सामाजिक सन्दर्भ में बच्चे को संस्कार देने के लिये नामकरण संस्कार का विधान है।⁴ इस नामकरण संस्कार से पहले भी कुछ लोक प्रचलित संस्कार किये जाते हैं। बच्चे के सदर्भ में यह संस्कार चेतना एक भावना जगत का निर्माण करती है। जिसके संचार की बच्चे के

1 अथर्ववेद 3.23 से

2 बृहदारण्यक 6.4 से

3 वैखानस 3-9, स्मृतिचन्द्रिका, पृ० 241

4 (i) नामधेय दशम्या तु द्वादशा वाऽस्य कारयेत्।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणन्विते।।30।। मनुस्मृति, पृ० 43

(ii) स्त्रीणां सुखोद्यमकूर विस्पष्टार्थं मनोहरम्।

मङ्गल्य दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।।33।। मनुस्मृति, पृ० 44

व्यक्तित्व मे परिकल्पना की जाती है। जायसी पद्मावती के जन्म सम्बन्ध में इन संस्कारों को स्वीकार करते हैं —

“भए दस मास पूरि भइ धरी। पद्मावति कन्या औतरी।

जानौ सूर किरिन—हुति काढ़ी। सूरुज—कला घाटि, वह बाढ़ी।

भा निसि महँ दिनकर परलासू। सब उजियार भएउ कबिलायु।

इते रूप मूरति परगटी। पूनौ ससी छीन होई घटी।”¹

नामकरण संस्कार का विधान समाज के प्रायः सभी वर्गों में स्वीकार किया जाता है और बच्चे को ऐसा नाम दिया जाता है, जो सामाजिक संदर्भों में अर्थवान् हो। पद्मावती के रूप में उस कन्या का नामकरण जहाँ कथा संरचना का एक अंग है, वही पद्मावती के स्वरूप और व्यक्तित्व के भावी विकास का सूचक है। जायसी की इन पंक्तियों से यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि वे सामाजिक संदर्भ में नारी के स्वरूप विकास को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं।

4.2.1.1.1.4 पुत्र-पुत्री में समानता की भावना

जायसी के समाज में मध्यकाल में पुरुष प्रधान समाज में प्रायः पुत्री के जन्म को पुत्र की अपेक्षा कम महत्त्व दिया जाता था, जिसकी छाया हमें आजकल प्रगतिशील समाज में भी दिखाई देती है। जायसी पद्मावती के जन्म के साथ उसी प्रसन्नता, आनन्द क्रीड़ा, उत्साह, आदि का वातावरण प्रस्तुत करते हैं, जो पुत्र जन्म के समय होता है यह एक स्वस्थ परिवार चेतना का प्रकाश है। परिवार चेतना परिवार के सभी सदस्यों के साथ समान भावना का एक आवश्यक तत्त्व है। पुरुष और नारी में विभेद की परिकल्पना परिवार चेतना का विघटनकारी तत्त्व है। इस भावना का विकास बच्चे के जन्म के साथ ही होता है। जायसी की दृष्टि में अपने समाज की यह परिवार चेतना खटकती रही होगी। जिसकी व्यंजना उनकी उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट है।

4.2.1.1.1.5 नारी शिक्षा

सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में परिवार के दायित्व के रूप में बच्चे को उसके भावी जीवन के लिये प्रशिक्षित करना है। भारतीय सस्कृति के विकास क्रम में नारी को शिक्षा से वंचित किया जाने

लगा। मध्यकाल में तो नारी शिक्षा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। जायसी पद्मावती को दी जाने वाली शिक्षा के माध्यम से नारी शिक्षा को सांस्कृतिक चेतना की ओर संकेत करते हैं -

“पोंच बरस महँ भय सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी।

भै पद्मावति पढ़ित गुनी। चहुँ खण्ड के राजन्ह सुनी।।”¹

पोंच वर्ष की अवस्था में पद्मावती की शिक्षा व्यवस्था और उसके माध्यम से उसका पाण्डित्यपूर्ण विकास, नारी के उस स्वरूप विकास की व्यंजना करता है, जो परिवार संरचना के निर्माण में अपेक्षित, उसके व्यक्तित्व का यही आकर्षण मनुष्य की परिवार चेतना के सदर्भ में उसके आकर्षण का विषय बन जाता है। जैसे - पद्मावती के व्यक्तित्व का आकर्षण उस समय पुरुष समाज को आकर्षित कर रहा था। यहाँ एक बात आश्वस्त होकर कह देना चाहते हैं कि जायसी के किसी भी पात्र के चरित्र का चित्रण केवल इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह नहीं है, वह सामाजिक सदर्भ में एक आदर्श चेतना का सवाहक है।

4.2.1.1.6 नारी अस्मिता : कुमारी जीवन और पारिवारिक व्यवस्था

जायसी ने अपनी कथा का केन्द्र बिन्दु नारी को इसीलिये चुना है क्योंकि नारी सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था के सदर्भ में परिवार चेतना की मूल नियामिका शक्ति है। जायसी सामाजिक संरचना की सांस्कृतिक चेतना के सदर्भ में पद्मावती के जीवन स्वरूपाकन करते हुए नारी जीवन के विकास में आने वाली विसंगतियों पर पैनी दृष्टि रखते हैं। पद्मावती की कुमारी जीवन में प्रवेश के साथ बनने वाले पारिवारिक परिवेश का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं -

‘बारह बरस माहँ भै रानी। राजै सुना सँजोग सयानी।

सात खड धौराहर तासू। सो पदमिनी कहँ दीन्ह निवासु।

औ दीन्ही सग सखी सहेली। जो सँग करै रहसि रस केली।

सवै नवल पिउ सग न सोई। कँवल पास जनु बिगसी कोई।।”²

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक जन्म खण्ड, पृष्ठ 16

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक जन्म खण्ड, पृष्ठ 17

बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही पद्मावती, रानी जैसी सुन्दर, भव्य और आकर्षक दिखाई पड़ने लगी, अर्थात् युवती हो गई। राजा ने जब इस बात को सुना तो उसने सोचा कि पद्मावती अब विवाह के योग्य सयानी हो गई है। इसलिये उसने उसके लिये एक सतखंडा महल दे दिया और वह उसी महल में जाकर रहने लगी। राजा ने पद्मावती के साथ रहने के लिये अनेक सखी-सहेलियों नियत कर दी जो उसके साथ आनन्द क्रीड़ाएँ करती रहती थी, ये सब ही सखी सहेलियाँ नवयुवतियों और कुमारियों थी।

जायसी की इन पंक्तियों से पुरुष प्रधान समाज की नारी के प्रति एक कुण्ठा की व्यञ्जना ही है। इस पुरुष प्रधान समाज में नारी को प्रारम्भ से ही केवल भोग विलास की सामग्री समझा जाता है। पुरुष अपनी भोगवृत्ति को नारी जीवन के साथ जोड़कर उसका स्वतन्त्र और सहज विकास नहीं होने देना चाहता। इसीलिये वह उसे वर्जनाओं के घेरे में घेर देते हैं। वह नहीं चाहता, कि विवाह से पूर्व तक एक लड़की को जीवन में काम भावना का ज्ञान हो। समाज की यह प्रवृत्ति आज भी देखने में आती है। समाज की यह चेतना सांस्कृतिक आधार पर स्वस्थ नहीं होती। इसी चेतना का प्रतिफल है कि नारी-पुरुष संबंधों को लेकर समाज में निरन्तर टकराहट की स्थिति खड़ी हो जाती है।

4.2.1.1.1 7 नारी अस्मिता : विवाह की सांस्कृतिक चेतना

इतिहास में नियोजित विवाह के प्रति नारी का विद्रोह स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। इससे परिवार चेतना का मूल आधार प्रेम सहजता और जीवन की पारदर्शिता, वर्जनाओं में परिवार चेतना के इन गुणों पर आवरण डालती है। पद्मावत की कथा में पद्मावती-रत्नसेन के प्रेम का विकास इन्हीं वर्जनाओं की पृष्ठभूमि में हुआ है। प्रेम का यह स्वरूप विकास स्पष्ट रूप से संकेत देता है कि जायसी वर्जनाओं से घिरी नारी जीवन की अस्मिता को स्वीकार नहीं करना चाहते। प्रेम के सहज स्वाभाविक विकास के सामने यह वर्जनाएँ टूट जाती हैं।

प्रथम दो पंक्तियों में पद्मावती की उस उम्र का उल्लेख है, जब उसे वर्जनाओं से घेरा गया। बारह वर्ष की अवस्था की एक बालिका को सयानी मानना उसे समाज की मुख्य धारा और परिवार चेतना के मूल-भूत केन्द्र दाम्पत्य जीवन के बोध से दूर रखना भी पुरुष की कुण्ठा का परिचय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी नारी के स्वरूप विकास को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना से

जोड़ते हुए उसकी भावनाओं के सहज विकास में समर्थ है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध की शेष कथा जायसी की इसी सांस्कृतिक चेतना का विस्फार है।

परिवार सामाजिक संरचना की एक सर्जनशील संस्था है। यह निरन्तर विकासमान रहते हुए, एक से अनेक में परिवर्तित होती रहती है। इस विकास के क्रम में परिवार की इकाईयों के वय क्रम के अनुसार विकसित मनोभूमि के आधार पर उस इकाई और सामाजिक व्यवस्था में सामंजस्य आवश्यक है। इस सामंजस्य का उत्तरदायित्व परिवार के प्रबन्धकर्त्ता माता-पिता पर निर्भर करता है। पर माता-पिता द्वारा अपने उत्तरदायित्व की अपेक्षा की जाती है, तो परिवार-चेतना का विघटन होने लगता है और पारिवारिक इकाई का परिवार चेतना के प्रति विद्रोही होने में बाध्य होना पड़ता है। नारी जीवन के सदर्भ में यह सिद्धान्त और अधिक सटीक बैठता है। मध्यकाल में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है, जहाँ माता-पिता की उपेक्षा के कारण कुमारियों को अपने पति चयन के लिये परिवार से विद्रोह करके सामाजिक मर्यादाओं की सीमा का उल्लंघन करना पड़ा।

4 2 1 1 1 8 नारी का मनोविकास और परिवार की सांस्कृतिक संचेतना

समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना जायसी की चेतना में पद्मावती के मनोविकास का चित्रण करते समय परिवार में इस समस्या की ओर ले जाती है —

“भइ ओनत पदुमावति बारी। धज धोरै सब करी सँवारी।
जग बेधा तेइ अग सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा।
बेनी नाग मलैगिरि पीठी। ससि मँथे होइ दुइजि बईठी।
भौहै धनुक सौँधि सर फेरी। नैन कुरँगिनि भूलि जनु हेरी।
नासिक कीर कवँल मुख सोहा। पदुमिनि रूप देखि जग मोहा।
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिअ हुलसै कुच कनक जभीरा।
केहरि लक गवन गज हरे। सुर नर देखि माथ भुईँ धरे।

जग कोइ दिस्टि न आवै, आछहि नैन अकास।

जोगी जती सन्यासी, तप साधहि तेहि आस।।¹

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक जन्म खण्ड, पृ० 17

“एक दिवस पद्मावति रानी। हीरामनि तई कहा सयानी।
 सुनु हीरामनि कहौ बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।
 पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहि माता।
 देस-देस के बर मोहि आवहि। पिता हमार न आँख लगावहि।”¹

जायसी की इन पक्तियों से इस तथ्य की भी व्यजना होती है कि मानवीय संरचना में काम भावना बाह्य सत्य नहीं, बल्कि आन्तरिक सत्य है। परिवेश से इसे दबाया नहीं जा सकता। इसका विकास शारीरिक विकास के साथ-साथ स्वतः ही मानसिक व्यक्तित्व में भी समायोजित हो जाता है। जिससे वह इसकी पूर्ति के लिये रास्ते तलाशने लगता है। यह रास्ता तलाशना ही सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक चेतना के लिए द्योतक होने लगता है। अतः सामाजिक संरचना के अन्तर्गत परिवार की सांस्कृतिक चेतना को सुदृढ़ बनाने के लिये इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिये। आधुनिक मनोविज्ञान के आचार्य भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मानव-मन के विश्लेषण के आधार पर सामाजिक संरचना का संकेत देते हैं।

जायसी इसी कथा क्रम में मध्यकालीन समाज की उन मान्यताओं को और अधिक स्पष्ट कर देते हैं जो नारी जीवन में काम-वर्जनाओं की द्योतक हैं। पद्मावती का पिता जब पद्मावती और सुआ के सवाद को सुनाता है, तो वह वास्तविक सत्य पर विचार न करते हुए अत्यन्त क्रोधित हो उठता है —

“हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नही जाई।
 आज्ञा देउ देखौ फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै तरेसा।
 जौ लगि मै लिरि आवौ, मन चित धरहु निवारि
 सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहि कहा विचारि।
 राजा सुना दीठि मै आना। बुधि जो देहि सँग सुआ सयाना।
 भएउ रजायसु मारहु सुआ। सुर सुनाव चोंद जँह ऊआ।”²

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक जन्म खण्ड, पृ० 17

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक जन्म खण्ड, पृ० 17

4 2 1.1.1.9 नारी अस्मिता और पतिगृह की परिवार संचेतना

पद्मावत के रचना तन्त्र में 'मान सरोदक खण्ड' विशेष महत्त्व रखता है। 'मान सरोदक' कथा के विकास में जहाँ एक प्रासंगिक प्रकरण है वही आध्यात्मिक चिन्तना पर एक विशेष भाव-भूमि का द्योतक भी है। साथ ही सामाजिक चेतना में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना का व्यंजक है। 'मान सरोदक खण्ड' नारी जीवन की उन मानसी भावना का स्वरूप विश्लेषण करता है जिनका आधार परिवार संरचना है। यह भारतीय समाज के परिवार का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए नारी अस्मिता के सदर्थ में उसकी सगत-असगत स्थितियों में परिवार के प्रति नारी मन की शकाओं का चित्र उपस्थित करता है। जायसी की पद्मावती अपनी सखियों के साथ मान सरोवर पर स्नान करने जाती है -

“खेलत मानसरोवर गई। जाइ पाल पर ठाढ़ी भई।
देखि सरोवर हँसै कुलेली। पद्मावति सौ कहहिं सहेली।
ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लागि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर-पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथ।
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेही। दारुन ससुर न निसरै देही।
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह।”¹

मान सरोवर में स्नान करते समय पद्मावती की सहेलियाँ उससे पितृगृह और पति-गृह के जीवन के स्वरूप पर विचार करने के लिये कहती हैं। वह कहती है कि इस पितृगृह में मात्र चार दिन रहना है। आज पिता के राज्य में क्रीडामग्न हो सकते हैं, कल जब ससुर-गृह में जायेंगे, तो कहीं हम होंगे, कहीं यह सरोवर का पानी। यहाँ आना भी अपने हाथ में नहीं होगा, ना हम साथ खेल सकेंगे। सास और ननद बोल-बोल कर हमारी जान ले लेगी। कठोर स्वभाव वाला ससुर हमें

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक मान सरोदक खण्ड-2, पृ० 19

बाहर नहीं निकलने देगा। हमारे सिर पर पति का प्यार रहेगा, परन्तु नहीं मालूम वह भी कैसा हो। वह सुख से रखेगा या दुःख देगा, ऐसी स्थिति में ना मालूम कैसे कटेगा।

उपर्युक्त पक्तियों की व्याख्या आध्यात्मिक सदर्भ में यह लोक और परलोक के आधार पर की जा सकती है। यह अवधारणा जायसी की आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में सच हो सकती है और उसके लिये सांस्कृतिक आयाम जीवन के विश्लेषण को दिशा दे सकती है। यह प्रकरण कथा विकास के सन्दर्भ में सामाजिक व्यवस्था में परिवार के स्वरूप पर बहुत स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है। मध्यकाल में ही नहीं आज भी नारी का जीवन दो परिवारों की स्वीकृति और अस्वीकृति के बीच झूलता रहता है। नारी मन पति-गृह में परिवार चेतना का सहज और स्वाभाविक अंग नहीं बन पाती। वह उस टूटी डाली की तरह होती है, जिसे दूसरे परिवार के साथ एक भावनात्मक द्रव्य से चिपका दिया गया हो। पति के परिवार के लिये वह हमेशा विजातीय बनी रहती है। उसका मन अपने भविष्य को लेकर प्रारम्भ से ही शक्ति रहता है। नारी मन की यह शक्ति और पीड़ा जायसी के मन को झकझोरती रहती है और वे पद्मावती के स्वर में अपनी चिन्ता को व्यक्त करते हुए समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की व्यञ्जना करते हैं। जायसी की ये पक्तियाँ नारी जीवन का और भारतीय परिवार का वह कटु सत्य है, जिससे समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के ह्रासोन्मुखी परिदृश्य झलकता है। इसी ह्रास के कारण आज के युग में परिवार नामक सांस्कृतिक संस्था सकट के बीच घिर गयी है और वैवाहिक जीवन से सामरस्य समाज होता सा दिखाई देता है, जायसी की चेतना ने इसे अपने युग में ही समझ लिया था और समाज को सचेत होने का संकेत दे दिया था।

पतिगृह में नारी को बधन में डालने का मूल श्रेय नारी को ही जाता है। एक नारी सबध भावना के आधार पर दूसरी नारी द्वारा डाले गये बधन से मुक्ति के लिये छटपटाती है। जायसी पारिवारिक व्यवस्था के इस सत्य के प्रति सचेत है। 'पद्मावत' में पारिवारिक सदर्भ में नारी की पीड़ा और बधन से मुक्ति के लिये छटपटाना इन पक्तियों में साफ दिखाई देता है —

मिलहि रहसि सब चढ़हि हिडोरी। झूलि लेहि सुख बारी भोरी।

झूलि लेहु नैहर जब ताई। फिर नहि झूलन देहहि साई।

पुनि सासुर लेई राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ।

कित यह धूप, कहाँ यह छाहों। रहब सखी बिनु मन्दिर माहों।

गुन पूछिहि औ लाइहि दोखु। कौन उतर पाउब तहँ मोखू।

सासु ननद के भौह सिकोरे। रहब संकोचि दुवौ कर जोरे।

कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अन्त जनम दुख मरना।

कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल।

आपु आपु कह होइहि, परब पंखि जस डेल।।”¹

4.2.1.1.1.10 नारी मनोभूमि और परिवार की सांस्कृतिक संचेतना

जायसी पदमावत में भारतीय समाज की पारिवारिक संरचना और उसकी संचेतना को बड़ी पैनी दृष्टि से निरखते-परखते हैं। नारी-पुरुष संदर्भ में भारतीय परिवार की स्वरूप संरचना नारी को सामाजिक विकास से दूर रखकर चलती है। समाज में नारी का कामनी रूप प्रायः आकर्षण का विषय रहा है। नारी का यह रूप समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना के अनुकूल नहीं माना जाता, लेकिन विडम्बना है कि भारतीय नारी ने अपने स्वरूप को इसी के साथ सजाने-सँवारने में अपनी अस्मिता की आहूति दे दी। उसका रूप गर्विता स्वरूप ही उसके जीवन का लक्ष्य बना और वही उसके जीवन का विधातक तत्त्व। इसके लिये केवल पुरुष को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। नारी भी समाज में कामनी रूप में प्रतिष्ठित होने में उतनी ही दोषी है। जायसी सामाजिक संचेतना में नारी मनोभूमि की इस भूमिका को अच्छी तरह पहचानते थे। ‘नागमति सुआ सवाद खड’ में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की यह दिशा स्पष्ट होकर अभिव्यक्त हुई है –

“दिन दस पौंच तहों जो भए। राना कतहुँ अहेरै गए।

नागमती रूपवती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी।

कै सिगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा।

भलेंहि सो औ पियारा-नाहों। मोरे रूप कोई जग माहों?।

हँसत सुआ पहुँ आई सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक मान सरोदक खण्ड-3, पृ० 19

सुआ बानि कसि कहु कस सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना?।

कौन रूप तोरी रूपमनी। दहूँ हौं लोनि, कि वै पदमिनी।

जो न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन।

है कोई एहि जगत महँ, मोरे रूप समान।”¹

भारतीय समाज में पारिवारिक संरचना में जायसी नारी मनोविज्ञान में एक अहं भूमिका देखते हैं। जीवन के विकास के साथ पुरुष प्रधान समाज, पुरुष की स्वच्छन्द प्रवृत्ति और अधिकार भावना के कारण नारी की मनोभूमि में अनेक मनोग्रन्थियों का विकास हो गया है। इन्हीं मनोग्रन्थियों के परिणामस्वरूप नारी में रूपगर्विता भाव का उदय होता है और वह अपने को अधिक से अधिक लावण्यमय दिखाना चाहती है। इसके मूल में उसके मन में अविश्वास, आशंका और असुरक्षा की भावना विद्यमान रहती है। जायसी नारी की इन मनोग्रन्थियों को समाज की परिवार चेतना में घातक मानते हैं। इसलिये नागमती प्रकरण द्वारा एक समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के प्रति संकेत देते हैं। नागमती तोते के सामने अपनी रूप गर्वोक्ति के माध्यम से उस मनोग्रन्थ का प्रकाशन करती है। लेकिन जब उसे अपने से अधिक सुन्दर सिंहल की पदमिनी के बारे में पता चलता है, तो वह आशंका, भय और असुरक्षा की भावना से त्रस्त हो जाती है। उसे डर सताने लगता है कि यदि यह तोता राजा के सम्मुख पदमिनी के रूप का वर्णन करने लगा, तो राजा उसके विरह में वियोगी हो जायेगा और राज्य को त्यागकर योगी बनकर चला जायेगा। नागमती की यह सोच पुरुष की मनोभावना और उसकी लोलुपता के साथ नारी मनोभूमि का परिचायक है। जायसी नारी की इस मनोभावना के समर्थक नहीं है। वह इस संदर्भ में नागमती की भर्त्सना करवाते हैं —

“जो तिरिया के काज न जाना। परै धोख पाछे पछिताना।

नागमति नागिनी—बुधि ताऊ। सुआ मयूर होहि नहिं काऊ।

जो नकत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि कै वाही?”²

सामाजिक संरचना में परिवार चेतना की नींव सहजता, सरलता और सत्य पर आधारित होती है। कपट और छल जायसी की दृष्टि में परिवार चेतना के विधातक तत्त्व है। जायसी नागमती

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति सुआ सवाद खण्ड—1, पृ० 28

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति सुआ सवाद खण्ड—1, पृ० 29

प्रकरण मे नागमती का स्वरूप उसी नारी के रूप में चित्रित करते है जो परिवार चेतना को विघटित करते है। जायसी की नागमती एक सामान्य नारी की तरह छलकपट, झूठ आदि अनेक व्यक्तियों के माध्यम से परिवार भावना को ठेस पहुंचाते हैं। जिसका परिणाम भी आगे की कथा सृष्टि में स्पष्ट दिखाई देता है। नागमती अपने पति से भी छल-कपट का व्यवहार करती है। वह राजा से कहती है कि -

“मै पूछा सिघल पदमिनी। उतर दीन्ह तुम्ह, को नागिनी?।

वह जस दिन, तुम निस अँधियारी। कहीं बसन्त, करील कबारी।

का तोर पुरुष रैनिक कर राऊ। उलू न जान दिवस कर भाऊ।

का वह पंखि कूट मुँह कूटे। अस बढ बोल जीभ मुख छोटे।

जहर चुवै जो जो कह बाता। उस हतियार लिए मुख राता।

माथे नहि बैसारिय, जौ सुठि सुआ सलोन।

कान टुटै जेहि पहिरे, का लेई करब सो सोन?।”¹

नागमती का यह कथन और उसका व्यवहार स्पष्ट कर देता है कि वह अपने पति के साथ छल कर रही है। उसका यह छल भरा व्यवहार अन्ततः उसके परिवार को छिन्न-भिन्न कर देता है। राजा उसे छोड़कर चला जाता है। यह जायसी की मानसी दृष्टि है जो उसकी समाजोन्मुखी सचेतना व्यक्त करती है।

4.2.1.1.1.11 पुरुष-मनोभूमि और परिवार की सांस्कृतिक संचेतना

पद्मावत के रचना तंत्र में ‘राजा-सुआ-सवाद खण्ड’ से ‘जोगी खण्ड’ तक की कला सृष्टि सामाजिक संरचना में परिवार चेतना के अन्तर्विरोधी भाव का विकास करती है। रत्नसेन का पुरुष अपने एक परिवार की उपेक्षा करके दूसरे परिवार का निर्माण करना चाहता है। जो अन्त में पहले परिवार का अग बन कर परिवार के स्वरूप को बहु-विवाही परिवार में बदल देता है। बहु-विवाही परिवार मानव-सभ्यता के विकास में एक सत्य है। इस सत्य का ही एक मनोवैज्ञानिक आधार है

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति सुआ सवाद खण्ड-5, पृ० 29

जो काम तत्त्व के दर्शन पर खड़ा हुआ है। काम तत्त्व का दर्शन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना के आधार पर मानव-जीवन में विकसित हुआ है।

जायसी अपनी महान् कृति पदमावत में मानव चेतना में निहित काम तत्त्व के समाजोन्मुखी संस्कृतीकरण पर विशेष जोर देते हैं। काम-वृत्ति इस सृष्टि का एक शाश्वत सत्य है जिसको नकारा नहीं जा सकता। वैयक्तिक धरातल पर जहाँ यह स्व-सुखी भाव से प्रेरित होकर केवल इन्द्रिय सुख का पोषक होता है। वहीं सामाजिक धरातल पर सुखी भावना के संचार के साथ प्रेम पर आधारित स्वस्थ समाज के निर्माण का कारण बनता है। जायसी कामवृत्ति में निहित इस सत्य को बखूबी पहचानते हैं, इसलिये वे पदमावत की कथा वस्तु के सन्दर्भ में चरित्रों के विकास के लिये एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया अपनाते हैं। इस प्रक्रिया में सबसे पहले पदमावत का नख-शिख देखा जा सकता है।

4.2.1.1.1.12 नख-शिख वर्णन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

पदमावत में जायसी द्वारा किया गया पदमावती का नख-शिख वर्णन प्रेम तत्त्व के विकास का प्रेरक बनकर आता है। आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति की गहराईयों को ले जाने के लिये भले ही इस वर्णन की कोई भूमिका न हो, लेकिन मानव चेतना में निहित कामवृत्ति जन्य नारी आकर्षण को जगाने में इसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। जायसी नारी शरीर बोध को प्रेमतत्त्व के विकास के साथ इतनी गहराई से जोड़ते हैं कि पदमावती का नख-शिख वर्णन सुनते ही जायसी का रत्नसेन मूर्च्छित हो जाता है और वह प्रेम बाणों से बिद्ध होकर उसके विरह में तड़पने लगता है –

“सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौ लहरि सुरुज कै आई।

प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।

परा सो प्रेम-समुद्र अपारा। लहरहि लहर होई विसभारा।

विरह – भौर होइ भोंवरि देई। खिन-खिन जीउ हिलोरा लेई।

खिनहि उसास बूझि जिउ जाई। खिनहिं उटै निसरै बौराई।

खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता। खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता।

कठिन मरन ते प्रेम बेवस्था। ना जिउ-जियै, न दखवै अवस्था।”¹

आध्यात्मिक धरातल पर नख-शिख वर्णन के माध्यम से व्यजित लोकोत्तर अनुभूति आध्यात्मिक प्रेम की उद्भावना की सीढ़ी तो मानी जा सकती है लेकिन नारी-सौन्दर्य से आकर्षित एव उसकी चेतना में भोग की लालसा हो सकती है वह प्रेम का पर्याय नहीं हो सकती। जायसी का नख-शिख वर्णन उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना पर एक बार तो प्रश्नचिह्न लगा ही देता है। जायसी साहित्य सचेतना के विलक्षण खिलाडी है। वे यथार्थ में सांस्कृतिक सचेतना का संचार करके प्रकरण को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। नारी देह का आकर्षण जीवन का यथार्थ है। उसकी प्राप्ति के लिये बैचेनी भी यथार्थ की एक दिशा है। विवाह नामक सस्था मनुष्य की इस कामवृत्ति को सस्कारित करती है। इसलिये जायसी नारी के प्रति दैहिक आकर्षण को वैवाहिक सस्कार में बाध देना चाहते हैं। अविवाहिता के साथ प्रेम और वैवाहिक सस्कार समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना के अंग बन सकते हैं। इसके साथ ही जायसी यह बताना भी नहीं भूलते कि पद्मावती अविवाहिता है —

“बरनौ मोंग सीस उपराही। सेदुर अबहि चढा जेहि नाही।

बिनु सेदुर अस जानहु दीआ। उजियर पथ रैन मँ कीआ।”¹

जायसी की यह पक्ति उनके नख-शिख वर्णन को सांस्कृतिक चेतना प्रदान करती है। हिन्दू समाज में स्त्री की मोंग में सिन्दूर उसके विवाहिता होने का परिचायक है। विवाहिता नारी यदि किसी पुरुष के आकर्षण का विषय बनती है तो वह सामाजिक सस्कृति का पतन है। इसलिये रत्नसेन के नारी आकर्षण को तर्कसंगत बनाने के लिये जायसी उसकी मांग में सिन्दूर का विशिष्ट उल्लेख करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मूलतः नारी के सौन्दर्य के आकर्षण से ही आधार ग्रहण करता है। जीवन व्यवस्था में बध्ने के पश्चात् यही आकर्षण रति नामक स्थायी भाव का निर्माण करता है जिससे प्रेम की भावना का विकास होता है। लगता है जायसी जीवन में प्रेम-भावना के विकास के मूल में नारी सौन्दर्य की भूमिका को विशेष महत्त्व देते हैं।

1 जायसी ग्रन्थावली रामचन्द्र शुक्ल शीर्षक नखशिख खण्ड, पृ० 33

जायसी के पद्मावत में 'नख-शिख खंड' के पश्चात 'प्रेम खंड' की योजना की गई है। हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि जायसी प्रेम की उद्भावना के लिये नारी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है, जो पुरुष की मानस चेतना पर पूरी तरह छा जाता है। यह वर्णन विभिन्न शास्त्रों का आधार लिये हुए है। सम्पूर्ण कथानक के सन्दर्भ में यदि इस प्रसंग को देखा जाये, तो एक ध्वनि यह भी निकलती है कि नारी का देहयष्टिगत सौन्दर्य जब पुरुष के आकर्षण का विषय बन जाता है तो सामाजिक संस्कृति का क्षरण होने लगता है। यह पद्मावती का नखशिख वर्णन ही है, जो रत्नसेन तथा अलाउद्दीन को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना से विरक्त कर देता है। दोनों स्थानों पर इस प्रसंग का फलादेश, सामाजिक व्यवस्था का विरोधी सिद्ध किया गया है।

4.2.1.1.1.13 उत्तरदायित्व-बोध : परिवार की सांस्कृतिक संचेतना

रत्नसेन के प्रसंग में 'नागमती विरह' इसका उदाहरण है। रत्नसेन के बिना नागमती और उसके परिवार की दिशा का वर्णन जायसी की सांस्कृतिक संचेतना का स्पष्ट उदाहरण है। यहाँ जायसी परिवार चेतना के सदर्भ में नारी अस्मिता का प्रश्न भी उठाते हैं और पारिवारिक उत्तरदायित्व के बोध का भी —

“नागमति चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा।

नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसौं हरा।

सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात बरू छरा।”¹

“पुण्य नखत सिर ऊपर आवा। हौ बिनु नाह मँदिर को छावा।

अद्रा लाग, लागि भुईं लेई। मोहि बिनु पिउ को आदर देई।”²

“जिन्ह घर कता से सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।

कत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब।”³

इस प्रकार कथा सगठन में जहाँ नख-शिख वर्णन कथा और चरित्र के विकास के लिये श्रृंगार भावना का पोषण है वही जायसी की उस दृष्टि की ओर भी संकेत देता है, जो पद्मावत के माध्यम से समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की पोषक रही है।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 123

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 124

3 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 124

4 2 1 1 1 14 पुरुष मनोभूमि और नारी अस्मिताजन्य सांस्कृतिक संचेतना

पद्मावत की कथा चेतना में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना को आयाम देने वाले दो प्रसंग हैं, इन प्रसंगों में पुरुष की नारी चेतना के उद्भावक क्रमशः हीरामन सुआ और राघव—चेतन हैं। हीरामन सुआ रत्नसेन को पद्मावती की ओर आकर्षित करके नारी अस्मिता के एक स्वरूप को उठाता है। राघव—चेतन सुल्तान अलाउद्दीन को पद्मावती के प्रति आकर्षित करके नारी अस्मिता के प्रसंग को दूसरी तरह से प्रस्तुत करता है। यदि दोनों प्रसंगों को समानान्तर रखकर देखा जाये तो स्त्री—पुरुष सम्बन्धों में पुरुष चेतना और नारी अस्मिता का प्रश्न इस तरह से हमारे सामने आता है कि इससे जायसी की मध्यकाल के सन्दर्भ में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना स्पष्ट हो जाती है। रत्नसेन के सन्दर्भ में नारी अस्मिता के प्रश्नों पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उस प्रकरण में नारी मनोभूमि को लेकर कुछ ऐसे उलझे हुए सवाल हैं जहाँ नारी अस्मिता के लिये पुरुष चेतना के साथ—साथ नारी चेतना में भी वे अपने उत्तरो का समाधान खोजना चाहते हैं। अलाउद्दीन प्रसंग सामान्य रूप से उन्हीं राहों पर चलकर पुरुष चेतना के सन्दर्भ में नारी अस्मिता का दिग्दर्शन कराता है। राघव—चेतन एक कुटिल वृत्ति का पात्र है। पद्मावत के अन्त में जहाँ उसे शैतान का प्रतीक बताया गया है, वह ठीक ही लगता है। वह केवल प्रतिशोध के लिये कुटिल चाल चलता हुआ नारी अस्मिता को सकट में डालता है और इसके लिये बड़ी व्यापक भूमिका तैयार करता है। इसकी व्यापक झलक हमें पद्मावत के 'स्त्री—भेद वर्णन खण्ड' और 'पद्मावती रूप चर्चा खण्ड' में मिलती है। इन खण्डों में स्त्री भेद वर्णन के अन्तर्गत राघव—चेतन स्त्री के चार भेदों हस्तिनी, सखिनी, चित्रिणी और पद्मिनी का काम शास्त्रीय आधार पर स्वरूप वर्णन करते हुए सुल्तान अलाउद्दीन की दृष्टि को पद्मावती पर केन्द्रित करना चाहता है। इस प्रकरण में राघव—चेतन की मनोभूमि समाजोन्मुखी संचेतना की विरोधनी है। यह वर्णन नारी अस्मिता के सारे जीवन सदर्भों को निकालकर केवल एक ही सदर्भ में देखता है। नारी का यह विभाजन जैविक विकास का यथार्थ होते हुए भी सांस्कृतिक सन्दर्भों में नारी का अपमानजनक वर्णन है। नारी केवल देहयष्टि और कामवृत्ति की ही पर्याय नहीं है। उसे और भी सदर्भों में देखा जाना चाहिए।

4 2 1 1 1 15 दाम्पत्य सम्बन्ध और नारी अस्मिता की सांस्कृतिक संचेतना

जायसी मध्यकाल के समाज चेतना कवि है। मध्ययुगीन नारी चेतना को उन्होंने अच्छी तरह से समझा है और उस विकृत चेतना के यथार्थ को प्रस्तुत करके स्पष्ट रूप से उसे सही दिशा देने

का प्रयास किया है। राघव-चेतन 'पद्मावती रूप चर्चा खण्ड' में जिस पद्मावती का वर्णन करता है वह एक विवाहिता नारी है। मानव समाज में विवाहिता नारी पर कामदृष्टि रखना, समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की विरोधी है। इतना ही नहीं राघव-चेतन इस वर्णन में सुल्तान अलाउद्दीन के सामने अपनी कामविद्ध दिशा का वर्णन जिस निर्लज्जता से करता है, वह भी सांस्कृतिक चेतना के अनुकूल नहीं।

“काम-कटाछ दिस्टि विष बसा। नागिन-अलक पलक महँ डसा।

भौह धनुष, पल काजर बूड़ी। वह भइ धनुक हौं भा ऊड़ी।

मारिचली, मारत हूँ हँसा। पाछे नाग रहा, हौँ डँसा।

काल घालि पादे रखा, गरुड न मंतर कोई।

मोरे पेट वह पैठा, कासौ पुकारौ रोई?।”¹

नख-शिख वर्णन में जहाँ जायसी माग का वर्णन करके उसके अविवाहित होने का वर्णन करते हैं, वही 'पद्मावती रूप चर्चा खण्ड' में मांग के वर्णन के माध्यम से उसके विवाहिता होने का संकेत देना भी नहीं भूलते -

“माग जो मानिक सेदूर रेखा। जनु बसंत राता जग देखा।

कै पत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र संवारी।

भए उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बिखरि रहे धन सामा।

जमुना मोंझ सुरसती मगा। दुहु दिसि रही तरंगिन गगा।

सेदूर रेख सो ऊपर राती। बीरबटूटिन्ह कै जसि पौंती।

बलि देवता भए देखि सेदूरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू।

भोर साझ रबि होइ जो राता। ओहि रेखा राता होइ गाता।

बेनी कारी पुहप लेइ, निकसी जमुना आइ।

पूज इन्द्र आनन्द सौ, सेदूर सीस चढाइ।”²

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक पद्मावती रूपचर्चा खण्ड-5, पृ० 171

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक पद्मावती रूपचर्चा खण्ड, पृ० 172

इन पक्तियों से केवल पद्मावती के सौन्दर्य की ही व्यजना नहीं होती, बल्कि यह ध्वनि भी स्पष्ट रूप से निकलती है कि पद्मावती मन की भावनाओं से अपने पति के लिये पूरी तरह समर्पित है। समाजोन्मुखी संस्कृति के सदर्थ में यदि इन पक्तियों की इस व्यजना को देखा जाये तो जायसी की सांस्कृतिक चेतना की मनोविज्ञान सिद्ध यह दिशा उभरती है कि मानव जीवन में दाम्पत्य संबंध भावना पर आधारित होता है। यदि नारी की भावना के विरुद्ध उसे प्राप्त करने की इच्छा की जाती है, तो वह संस्कृति विरोधी है। पद्मावती की प्राप्ति के लिये रत्नसेन भी चढाई करता है और अलाउद्दीन भी। जायसी रत्नसेन को पद्मावती का सहयोग और सुल्तान अलाउद्दीन को पद्मावती की प्राप्ति से वंचित रखता है। वह इस सांस्कृतिक चेतना की रक्षा के लिये पद्मावती और उसके समाज की संघर्ष भावना और त्याग भावना का वर्णन तो करते ही हैं बल्कि जौहर का वर्णन करके नारी अस्मिता की रक्षा के लिये समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना की चरम सीमा की व्यजना करते हैं।

सुल्तान अलाउद्दीन प्रसंग का विकास जिस धरातल पर होता है वह विकृत सांस्कृतिक चेतना का परिचायक है। राघव-चेतन के मुख से पद्मावती का रूप वर्णन सुनकर सुल्तान अलाउद्दीन रत्नसेन की तरह भावावेवित होकर मूर्च्छित नहीं होता, क्योंकि उसका खेल, भावना का नहीं है, यह खेल शुद्ध भोग लिप्सा का है। वह अपने सरजा को बुलाकर उसे दूत के रूप में रत्नसेन के पास भेजकर संदेश भिजवाता है कि वह अपनी पत्नी पद्मावती को भेज दे।

“सरजा बीर पुरुष बरियारु। ताजन नाग सिध असवारु।

दीन्ह पत्र लिखि बेगि चलावा। चितउर-गढ राजापहँ आवा।

राजै पत्रि बैचावा, लिखि जो करा अनेग।

सिघल कै जो पद्मिनी, पठै देहु तेहि बेग।”¹

जायसी राघव-चेतन और अलाउद्दीन प्रसंग के माध्यम से सामाजिक संस्कृति के घोर पतन के बिन्दु को उठाते हैं। यह बिन्दु मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना के पतन का प्रतिबिम्ब है। जायसी

1 जायसी ग्रन्थावली रामचन्द्र शुक्ल शीर्षक पद्मावती रूपचर्चा खण्ड पृ० 177

का मन इससे क्रुद्ध हो उठता है। वह रत्नसेन की भाव सृष्टि करके पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य और उत्तरदायित्व बोध के साथ नारी अस्मिता के प्रश्न को बड़े आक्रोश भरे स्वर में उठाते हैं –

“सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। सकति आत के दोस।

जो तिस बुझै न समुँद्ध जल, सो बुझाइ कत ओस।”¹

सुल्तान अलाउद्दीन के दूत सरजा और रत्नसेन सवाद मे जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना अन्तर्द्वन्द और अन्तःसंघर्ष के दौर से गुजर रही है। जायसी सरजा के माध्यम से मध्यकालीन समाज में नारी की स्थिति का दिग्दर्शन कराता है। दूत सरजा, पद्मावती को मात्र दासी समझाकर सम्बोधित करता है। यह सम्बोधन मध्यकालीन पुरुष की उस मानसिकता का दिग्दर्शन कराता है जहाँ पत्नी रूप में नारी को दासी समझा जाता था –

“तासौ का बड़ बोलसि, बैठि न चितउर खासि।

उपर लेहि चँदेरी, का पदुमिनि एक दासि।”²

जायसी रत्नसेन के रूप में मध्यकालीन संस्कृति की पतनोन्मुखी मानसिक सचेतना का समुचित उत्तर देता है। इस उत्तर में उनकी भारतीय संस्कृति से पोषित नारी भावना और पत्नी के प्रति दायित्व बोध का बड़ा स्पष्ट स्वर है। जायसी अपनी सचेतना की अभिव्यक्ति के लिये भाषा बोध के प्रति भी पूरी तरह सचेत है। उनका रत्नसेन पद्मावती के लिये गृहिणी का सम्बोधन करके नारी जीवन सदर्थों की ओर उसके सम्मान की प्रतिष्ठा करता है।

“जै पै ग्रिहिनि जाइ घर केरी। का चितउर केहि काज चँदेरी।

जिअै लेइ घर कारन कोई। सो घर देइ जो जोगी होई।

हौ रनथँभर नॉह हमीरू। कलपि मॉथ जेइ दीन्ह सरीरू।

हौ तो रतनसेन सक बधी। राहु बेधि जीती सैरिधी।

हनिवँत सरिस भारू मै कौंधा। राहु बेधि जीती सैरिधी।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक बादशाह चढाई खण्ड, पृ० 178

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक बादशाह चढाई खण्ड, पृ० 178

उपर्युक्त पक्तियों में जायसी 'घर' शब्द का प्रयोग करके गृहस्थ जीवन के प्रति समर्पित भावना को तो व्यजित करते ही हैं, साथ ही इन पक्तियों से नारी के प्रति सत्य निष्ठा की भावना की भी ध्वनि निकलती है, जिसमें जीवन सगनी नारी पुरुष के जीवन की पर्याय बन जाती है।

4 2 1 1 1 16 पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक मूल्य

मानव जीवन की व्यवस्था उसकी सामाजिक संरचना पर आधारित है। सामाजिक संरचना का आधार भावनात्मक संबंध और मनुष्य का उत्तरदायित्व बोध होता है। जहाँ कहीं जीवन में भावनात्मक संबंधों और उत्तरदायित्व बोध का हास होता है जीवन व्यवस्था चरमराने लगती है। मानव जीवन की सांस्कृतिक विकास यात्रा में गंभीर चिन्तन मनन के आधार पर जीवन व्यवस्था में एक सांस्कृतिक चेतना का संचार किया गया है। यह सांस्कृतिक सचेतना जीवन व्यवस्था को बाधे रखती है। पहले भी हम उल्लेख कर चुके हैं कि मानव जीवन सामान्यतः उसके मूल सवेगों से गतिशील होता है। इस जीवन में व्यक्ति अपनी इच्छा, आकांक्षा, कामना आदि की पूर्ति के लिये किसी दूसरे के सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखता। इस तरह का जीवन पशु जीवन कहलाता है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना मानव-जीवन की मूल सवेग प्रेरित दिशा नियन्त्रित करने की निरन्तर कोशिश करती रहती है। लेकिन यथार्थ में सांस्कृतिक चेतना के यह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो सकते। जहाँ भी मनुष्य को मौका मिलता है वह समाजपरक सांस्कृतिक चेतना के बन्धनों को तोड़कर मूल सवेगों से प्रेरित जीवन की ओर बढ़ने लगता है। जायसी का पद्मावत मानव-जीवन के इस अन्तर्विरोधी स्वरूप का जीता-जागता उदाहरण है। 'नागमती वियोग खण्ड' और 'नागमती सदेश खण्ड' एक ओर जीवन की विसर्गतियों की सच्चाई को सामने रखते हैं वहीं दूसरी ओर जायसी समाजोन्मुखी संस्कृति के जीवन व्यवस्था परक आयाम की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। हमें अपने शोध विषय को सम्यक् दिशा देने के लिये समाजोन्मुखी संस्कृति के व्यवस्था परक आयामों में समाजोन्मुखी संस्कृति के मूल्यों को देखना होगा जिन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

4 2 1 1 1 17 स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का समाजीकरण

मानव की जीवन व्यवस्था स्त्री-पुरुष के संबंध से शुरू होती है। स्त्री पुरुष संबंध ही समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के साथ पति-पत्नी संबंध के रूप में विकसित हुआ है। स्त्री-पुरुष

सबध मूल सवेग प्रेरित होता है। जो किसी बधन को नहीं स्वीकार करता। उसमें मानव मन की स्वच्छदता निहित होती है। यही सबध पति-पत्नी के रूप में विकसित होकर मूल सवेगों को नियंत्रित करके उनका उदात्तीकरण करता है, जिससे इन सबधों को भावना और उत्तरदायित्व बोध का आधार मिल जाता है। जायसी का रत्नसेन जब चित्तौड़ छोड़कर चला जाता है, उसकी पत्नी उसके विरह की अनुभूति से पीड़ित जिन मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति करती है, उनमें स्त्री की पुरुष के ससर्ग मात्र के लिये तडपन नहीं, बल्कि केवल रत्नसेन के लिये जीवन व्यवस्था के सदर्थ में अभाव बोध की व्यञ्जना है।

4 2 1 1 1 18 नारी आदर्श का समाजीकरण

जायसी नागमती के शब्दों में रत्नसेन द्वारा तोड़ी गई जीवन व्यवस्था की विसंगति की तरफ भी स्पष्ट संकेत करते हैं। वे स्त्री-पुरुष सबधों को जीवन व्यवस्था में केवल पुरुष को ही दोषी नहीं मानते स्त्री को भी बराबर का दोषी मानते हैं। नागमती कहती है —

“नागमति चितउत पथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा।

नागरि नारि काहु बस परा। तेई बिमीहि मो सौं चितु हरा।”¹

इन पक्तियों में (नागमती चित्तौड़ में बाट देखती थी। प्रियतम जो गए लौटकर न आए। वे किसी नागरी नारी के फेर में पड़ गए हैं। उसने मोहित करके उनका चित्त मेरी ओर से हर लिया है) जायसी ने यहाँ नारी शब्द के साथ नागरी विशेषण लगाया, जो नारी के सहज सरल भावना परक व्यक्तित्व के विपरीत उसके उस व्यक्तित्व का परिचायक है, जो पुरुष को अपने रूपपाश में बाधकर केवल जीवन को विलास का माध्यम मानते हैं। नारी ही यदि जीवन लक्ष्य विलासिता में खोजने लगे तो जीवन व्यवस्था का ह्रास अवश्यभावी है। जायसी की नागमती की यह पीड़ा उसकी वैयक्तिक पीड़ा ही नहीं सामाजिक जीवन व्यवस्था की पीड़ा है। जिसके माध्यम से जायसी जीवन व्यवस्था की सांस्कृतिक सचेतना की ओर संकेत करते हुए दिखाई देते हैं। इस पक्ति के माध्यम से जायसी जीवन व्यवस्था के सदर्थ में उस सामाजिक सचेतना का समर्थन करते हैं जो स्त्री पुरुष को सकीर्ण

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 123

काम विमोदित चेतना से निकालता हुआ अनन्य निष्ठा के साथ उत्तरदायित्व की भावना को ग्रहण करते हुए जीवन से जोड़ सकता है।

4 2 1 1 1 19 नारी में धैर्य और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा

‘नागमती वियोग खण्ड’ में जायसी पुरुष मन की उस सस्कारित भावना का उल्लेख करना नहीं भूलते, जो एक भटकन के पश्चात् पुरुष को सामाजिक व्यवस्था के प्रति आकर्षित करता है। जायसी मानव मन का सफल विश्लेषण करते हैं वह जानते हैं कि स्वच्छदवृत्ति के साथ-साथ जीवन व्यवस्थाओं के प्रति आसक्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों में से एक है। जायसी जानते हैं कि पुरुष काम लालसा और सौन्दर्य के मोह में कितना भी भटक जाये अन्त में वह जीवन व्यवस्था के लिये अपनी पत्नी के पास ही लौटकर आ जाता है। नागमती की सखियाँ उसे यही तथ्य समझाती हुई सात्वना देती हैं –

“पाट महादेइ हिऐं न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सभारू।
 भँवर कँवल सग होइ न परावा। सँवरि नेह माति पहुँ आवा।
 पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बॉधु जिय बीती।
 धरती जैस जँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु नेहा।
 पुनि बसत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली।
 जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तखिर पुनि उठहि सँभारी।
 दिन दस जल सूखा का नसा। पुनि सोइ सरवर सोई हसा।
 मिलहि जो बिछुरै साजना गाई गहि भेट गहत।
 तपनि मिरगिसिस जे सहहि अदरा ते पतुहत।”¹

(पट्ट महादेवी हृदय में हारो नहीं। जी में समझो और चित्त में चैतन्य की रक्षा करो। भौरा कमल के सग जाकर भी पराया नहीं होगा। पहले के प्रेम का स्मरण कर वह मालती के पास लौटेगा। प्रियतम रूपी स्वाति में तुम्हारी जैसी दृढ़ प्रीति थी, उससे प्यास को रोके रहो और मन में

1 जायसी ग्रन्थावली रामचन्द्र शुक्ल शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 123

टेक (स्थिति) बाधे रहो। धरती जैसे आकाश के मेघ से स्नेह करती है, तो वह भी लौटकर वर्षा ऋतु में उसे मेघ से भर देता है। फिर नवेली बसन्त ऋतु आयेगी। उस समय वही रस, वही भौरा, वही बेल होगी। हे रमणी, तुम अपना चित्त ऐसा न करो। जले हुए वृक्ष भी फिर सभल कर (पल्लवित होकर) उठ जाते हैं। दस दिन तक जल भी सूखा रहा तो क्या हानि है? पुन वही सरोवर और वही हंस होगा। जो साजन बिछुडते हैं, वे फिर मिलते हैं और प्रफुल्लित भेट और आलिंगन करते हैं। जो मृगशिरा की तपन सहते हैं, वे आर्द्रा में फिर हरे भरे हो जाते हैं।)

जायसी की ये पक्तियाँ नारी समाज के जीवन व्यवस्था के सदर्थ में सांस्कृतिक सोच का यह आधारभूत प्रदान करती हैं कि रूपाकर्षण और चतुराई से फसा हुआ पुरुष मन स्थायी रूप से उनका हो सकता। जीवन के स्थायी होने के लिये भावनापरक मर्यादाओं में आवद्य पुरुष मन उसके जीवन का स्थायी साथी हो सकता है। भोग लालसा जीवन में केवल भटकन बनकर रह जाती है।

4 2 1 1 1 20 परस्पर आश्रय की भावना का बोध

सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का हर सदस्य अपनी आवश्यकता के लिये एक दूसरे पर आश्रित रहता है। आश्रय की भावना का बोध समाज की इकाईयों को एक दूसरे से बाधे रहता है। इससे भावनात्मक विकास होता है। परिवार की भी यही स्थिति होती है। परिवार में एक दूसरे के आश्रय की भावना का बोध परिवार को एक सांस्कृतिक स्वरूप देता है।

‘पद्मावत’ में नागमती का विरह वर्णन समाज की उस सामान्य नारी की चिंता जो अपनी जीवन व्यवस्था के लिये पुरुष पर पूर्ण रूप से निर्भर है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में और विशेषकर मध्यकाल में घर से बाहर का जीवन पुरुष का कार्य रहा है। केवल आंतरिक व्यवस्था का समर्थन करते दिखाई देते हैं।

“पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौ बिनु नाहँ मँदिर को छावा।

जिन्ह घर कता ते सुखी तिन्ह गौरा तिन्ह गर्व।

कत पियारा बहिरे हम सुख भूला सर्व।”¹

(पुण्य नक्षत्र सिर ऊपर आ गया है। मैं बिना स्वामी के हूँ। कौन मेरा मंदिर छवाएगा? जिनके घर कत है वे सुखी है। उन्ही को गौरव और गर्व है। मेरा प्यारा कन्त बाहर है, इससे मैं सब सुख भूल गई हूँ।)

जायसी की ये पक्तियाँ जीवन व्यवस्था के सदर्थ में नारी की विवशता और पुरुष की उत्तरदायित्वहीनता की भी व्यजना करती हैं, जिससे जीवन में एक विशिष्ट सांस्कृतिक सचेतना के संचार का दिशा निर्देश किया है। जायसी ने एक नहीं अनेक स्थानों पर नागमती वियोग खण्ड में जीवन की इस दिशा में उल्लेख किया है।

‘जग जल बूडि जहाँ लागि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी।’¹

‘धनि सूखी भर भादौ माहों। अबहूँ आइ न खीचति नाहा।’²

‘तपै लाग अब जेठ असादी। भै मोकहँ यह छाजनि जादी।

तन तिनुर भा झूरौ खरी। मैं बिरहा आगरि सिर परी।

साँठि नाहि लागि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा।

बध नाहि औ कध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई।

ररि दूबारे भई टेक बिहूनी। थभ नाहि उठि सकै न थूनी।

बरसहि नैन चुअहि घर माहों। तुम्ह बिनु कत न छादन छौँहों।

कोरे कहों ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कत न छाजन छाजा।

अबहूँ दिस्टि मया करू छान्हिन तजु घर आउ।

मदिल उजार होत है नब कै आनि बसाउ।’³

(अब मेरे शरीर में विरह की जेठ असादी तपने लगी है। मेरे लिये यह तपन दुःखदायी छाजन (एक रोग) हो गई है। शरीर पतला हो गया है। मैं खडी सूख रही हूँ। विरह की खान मेरे सिर पडी है। मेरे पास कुछ पूँजी नहीं है, अब स्नेह से बात कौन पूछेगाँ? बिना प्राण के मेरा शरीर मूँज की तरह छूँछा हो गया है। इस समय मेरा कोई बंधु नहीं है और कोई सहारा (कध स्कध) नहीं है। मुँह

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 152

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड पृ० 153

3 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक नागमति वियोग खण्ड, पृ० 157

से वाक्य नहीं निकलता, किससे रोकर अपना हाल कहूँ? रो-रोकर मैं दुबली हो गई हूँ और सब आश्रय से विहीन हूँ जब थम नहीं रह गया तो थूनी कहाँ उठ सकती है? मेरे नेत्र आँसू बरसाते हैं जो सारे घर में टपकते हैं। हे कत तुम्हारे बिना न शोभा है न छौह या बचाव है। अरे, कौन कहाँ अब नया साज सजायेगा? हे कत, तुम्हारे बिना अब वस्त्र शोभा नहीं देते। कृपा की दृष्टि करो, बिजन या एकान्त छोड़कर घर में आओ (अथवा जिनसे गुप्त प्रेम किया है उन्हें छोड़कर घर आओ। यह मंदिर उजाड़ हो रहा है, आकर नए सिरे से बसाओ।)

4 2 1 1 1 2 1 पुत्र धर्म का आदर्श

जीवन व्यवस्था के सदर्थ में जायसी केवल पति-पत्नि सबंध को ही नहीं लेते, वे माता-पुत्र की सबंध भावना को, पुत्र के उत्तरदायित्व के बोध को भी आभास कर देना चाहते हैं। नागमती सदेश खण्ड में रत्नसेन की माता सरस्वती की पीड़ा जीवन व्यवस्था की इस सांस्कृतिक सचेतना का ज्वलंत उदाहरण है —

“रत्नसेन के माइ सुरसती। गोपीचंद जारी मैनावती।

आँधरि बूढि सुतहि दुख रोवा। जोबन रतन कहाँ भुईं टोवा।

जोबन अहा लीन्ह सो काढी। भै बिनु टेक करै को ठाढी।

बिनु जोबन भौ आस पराई। कहाँ सपूत खोंभ होइ आई।

नैनन्ह दिस्टि तन दिया बराही। घर अधियार पूत जौ नाही।

को रे चलाव सरवन के ठाऊँ। टेक देहि ओहि टेकौ पाऊँ

तुम्ह सखन होइ कौवरि सजी। डारि लाइ सो काहे तजी।

सरबन-सरबन कै ररि मुई सो कौवरि डारहि लागि।

तुम्ह बिनु जानि न पावै दसरथ लावै आगि।”¹

(रत्नसेन की माता सरस्वती गोपीचंद की माता मैनावती की तरह (पुत्र वियोग में दुखियारी) थी। पुत्र के दुख में रोते-रोते वह अधी और बूढ़ी हो गई। वह अपने यौवन के उस रत्न को पृथिवी

मे कहों दूँढे? जो उसका यौवन था उसे तो वह लेकर चला गया था। बिना सहारे के हो गई। अब उसे कौन खड़ी करेगा? बिना यौवन के वह पराए की आशा पर निर्भर हो गई? कहां है वह सपूत, जो खम्भा सहारा देने के लिये बन आवेगा? यदि नेत्रों में दृष्टि है, तभी दिया जलना सार्थक होता है। पर यदि पुत्र नहीं, तो घर में दिया भी नहीं जलता, अँधेरा रहता है। श्रवण के स्थान पर होकर कौन मुझे चलाएगा? जो मुझे टेक देगा उसके पाँव टेकूँगी। हे पुत्र तुमने श्रवण होकर कौँवर सजाई थी उसे पेड़ की डाल में लटकाकर क्यों छोड़ गए? वह 'सरवन-सरवन' रट कर मर गई। कौँवर डाल में ही लटकी रही। तुम्हारे बिना वह पानी नहीं पा सकती। दशरथ तो आग देने वाला है।)

जायसी पारिवारिक सबध भावना और उत्तरदायित्व बोध का सचार रत्नसेन में भी करते हैं। नागमती का सदेश लेकर गया हुआ पक्षी रत्नसेन को पहले उसके राजमहल की दुर्गति और उसकी माता की पीड़ा से ही अव्यक्त कराता है -

“देखेउँ तोरे मँदिल घमोई। माता तोरि आँधरि भै रोई।

जस सरवन बिनु अधी अधा। तस ररि मुई तोहि चित बंधा।

कहेसि मरौँ अब कौँवरि रेंई। सरवन नाहिं पानि को देई।

गई पियासि लागि तेहि साथौँ। पानि दिहें दसरथ के हाथाँ।

पानि न पियै आगि पै चाहा। तोहि अस पूत जरम भस लाहा।

भागीरथी होइ करु फेरा। जाइ सँवारु मरन कै बेरा।

तूँ सपूत मनि ताकरि अस परदेस न लेहि।

अब ताई मुई होइहि मुँह जाइ गति देइ।¹

(वहाँ महल में मैंने सत्यानाशी जमा देखी। तेरी माता रोकर अधी हो गई है। जैसे श्रवण के बिना अधी अधे (उसके माता-पिता) हुए थे, वैसे ही तुझमें चित्त लगाकर व रो-रोकर मननि हाउ हो गई। उसने मुझसे कहा, अब कौँवर रीती करके मैं मर रही हूँ। श्रवण नहीं है मुझे कौन पानी देगा? मेरी प्यास उसी के साथ चली गई। दसरथ के हाथ से पानी देने पर। पानी नहीं पीती, आग मोंगती थी। तेरे ऐसे पुत्र का जन्म हुआ और उसे ऐसा लाभ मिला। उसकी गंगा गति होती होगी। तू तुरन्त

1 पद्मावत - वासुदेवशरण अग्रवाल, नागमति सदेश खण्ड, 368/2,9

लौट जा और जाकर मरने के समय उसे सँभाल ले। तू उसके लिए सपूतो मे मणि हैं। इस भाति परदेश मे मत पडा रह। सम्भव है अब तक मर चुकी हो। मरने पर भी पहुँच कर तू उसे गति दे।)

इन पक्तियों के माध्यम से जायसी जीवन व्यवस्था मे पुत्र धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहता है। भारतीय सस्कृति मे पुत्र का धर्म है कि वह वृद्धावस्था मे अपने बूढ़े माता-पिता का सहारा बने। भारतीय सास्कृतिक चेतना मे यही विश्वास है कि मरने के पश्चात् भी पुत्र के द्वारा माता-पिता की गति होती है। जायसी इस विश्वास की प्रतिष्ठा के लिए सजग दिखाई देते है। क्योंकि इस विश्वास के द्वारा सामाजिक जीवन मे मनुष्य को मृत्यु पर्यन्त सुरक्षा का आश्वासन मिलता है। असमर्थता की अवस्था मे भावनात्मक सबध अगर सम्मान के साथ हो तो उसका जीवन व्यतीत हो सकता है। भारतीय समाज की यह बड़ी विशिष्टता है कि यह दूसरे समाजो मे कम देखने को मिलती है। जायसी का रत्नसेन नागमती का सदेश सुनकर विचलित हो जाता है और वह चित्तौड जाने के लिए इतना आतुर हो जाता है कि उसे पद्मावती का साथ भी सुख की अनुभूति नही कराता—

जौ लागि प्राण पिड एक ठाऊँ। एक बेर चितउर गढ जाऊँ।

आवा भँवर मँदिल जहँ केवा। जीउ साथ लै गएउ परेवा।

तन सिघल मन चितउर बसा। जिड बिसँभर जनु नागिनि डसा।

जेति नारि हँसि पूछै अमिय बचन जिमि नित।

रस उतरा सो चढा बिरव ना ओहि चित न मित।¹

(जब तक प्राण और शरीर एक साथ है तब एक बार मैं चित्तौडगढ जाऊँगा। यह सोचकर वह भौरा (रत्नसेन) राजमदिर मे जहाँ कमल (पद्मावती) थी वहाँ आया। उसका प्राण तो पक्षी अपने साथ ले गया था। शरीर सिहल मे था मन चित्तौडगढ मे बसा हुआ था। जो ऐसा बेसुध था मानो नागिन ने डस लिया हो। जितना ही वह बाला हँस हँसकर नित्य की भाँति अमृत वचनो से पूछती थी। उतना ही उसका रस उतरता और विष चढता जाता था। न उसमे अब स्मृति थी और न उसका कोई मित्र था।)

1 पद्मावत — वासुदेवशरण अग्रवाल नागमति सदेश खण्ड, 372

जायसी का जीवन व्यवस्था में पुत्र धर्म के प्रति सचेत होना मध्यकालीन समाज के सदस्य में अपेक्षित सा दिखाई देता है। मध्यकालीन सामन्ती परिवेश में पुत्र धर्म की सांस्कृतिक सचेतना में बड़ा ह्रास होता है। मुस्लिम शासकों की परम्परा में यह बात आम हो गई थी कि शासन सत्ता में यह नारी रूप से विध्वंस होकर अनेक शहजादे अपने पुत्र धर्म को भूलकर विद्रोह करते थे। शाही महलों में यह बात आम थी कि बादशाह और शहजादे स्त्रियों के मोहपाश में बंधकर अपने सभी धर्मों को भूल जाते थे। लगता है कि मध्यकालीन समाज की इसी स्थिति ने जायसी की चेतना को झकझोर दिया और उन्होंने इस प्रसंग को अपनी कविता का अंग बना लिया। इसी प्रसंग में आगे चलकर जायसी इस सदस्य को ओर अधिक स्पष्ट करते हुए रत्नसेन के शब्दों की राजधर्म जन्म सांस्कृतिक सचेतना की प्रतिष्ठा करते हैं —

“राज काज औ भुईं उपराही। सतुरु भाइ उस कोइ हित नाही।

आपनि आपनि करहि सो लीका। एकहि मारि एक चह टीका।

भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चोंद चलावहु आजू।

राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठएन्हि अब होइ परावा।

उहाँ नियर ढीली सुलतानु। होइहि भोर उठिहि जौ भानू।¹

(राजकाज और भूमि के विषय में भाई के जैसा शत्रु अन्य कोई रिश्ते नाते वाला नहीं है। वे अपना-अपना हिसाब लगाते हैं। एक को मारकर एक राजतिलक चाहता है। वहाँ चित्तौड़ में मेरे न रहने से अमावस का अन्धकार और नक्षत्रों का राज्य हो गया है। अब मुझे चोंद बनाकर आप जाने की आज्ञा दे। जहाँ हमारा पैत्रिक राज्य चला आता है, वहाँ से लिखकर पत्री आई है कि वह अब पराया होना चाहता है। वहाँ निकट में दिल्ली का सुल्तान है। यदि वह सूर्य की तरह उठ आया तो चन्द्रमा के समान मेरे लिये भोर ही हो जायेगा।)

4 2 1 1 1 22 सामाजिक व्यवस्था में नारी का आदर्श

जीवन व्यवस्था के सदस्य में जायसी नारी जीवन की एक-एक दिशा पर बहुत ही सचेत अनुभूत करते हैं। पितृ सत्तात्मक समाज व्यवस्था में जीवन व्यवस्था के कई ऐसे अन्तर्विरोध जो

1 पद्मावत — वासुदेवशरण अग्रवाल, रत्नसेन विदाई खण्ड, 375

सजह मनोविज्ञान का विरोधाभासी स्वर लिये हुए है। पितृ सत्तात्मक समाज व्यवस्था में लड़की को अपने पितृ गृह को छोड़ पति गृह में जाना पड़ता है। भावना के ससार पर यदि दृष्टि डाली जाये, तो यह परम्परा भावना के सहज विकास के प्रतिकूल है। एक लड़की जो जन्म से युवती होने तक पर्यन्त भावना के स्तर पर अपने पितृ पक्ष से जुड़ी हुई होती है, इसी तरह से उसका पितृ पक्ष उसके साथ जुड़ा हुआ होता है। विवाह के पश्चात् वह इस भावना के तत्त्व को किस तरह से तोड़ पाती है। उसकी पीड़ा क्या होती है, जायसी यह जानते हैं। सामाजिक व्यवस्था के सदर्थ में लोक के रीति-रिवाज और परम्परायें इतनी सशक्त हो जाती हैं कि वे भावना के ससार का शासन करने लगती हैं। इन लोक परम्पराओं की समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास में एक अह भूमिका है। प्रारम्भ से ही कन्या के सदर्थ में माता-पिता की यह मानसिकता होती है कि ये तो पराई हैं। कन्या बचपन से यह मानसिक संस्कार लेकर चलती है कि उसे तो दूसरे घर जाना है। युवती होने के साथ जीवन व्यवस्था का मोह और पुरुष के सहचर के प्रति आसक्ति उसे मानसिक रूप से पतिगृह में जाने के लिये तैयार कर देती है। जीवन के सांस्कृतिक विकास में यदि यह नीति निर्धारक तत्त्व परम्पराओं के रूप में अपने बिन्दू नहीं छोड़ते तो इस विवाह नामक संस्था और सामाजिक संस्था का स्वरूप कुछ दूसरा ही होता। इसीलिये जायसी इस सन्दर्भ में नारी की पीड़ा का अनुभव करते हुए समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संवेतना की इस दिशा के पक्ष में हैं। पद्मावत में पद्मावती जब अपने गौने की विदा का समाचार सुनती है तो यह शुभ अवसर होने पर तथा उसका वांछित होने पर भी व्याकुल हो जाती है —

“गवनचार पदुमावति सुना। उठा धक्क जिय और सिर धुना।

गहबर नैन आए भरि आँसू। छँडब यह सिंघल कबिलासू।

छँडिउँ नैहर चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस मैं होतहि रोई।

छँडिउँ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली।

जहाँ न रहन भएउ निज चालू। होतहि कस न भएउ तहँ कालू।

नैहर आएँ का सुख देखा। जनु होईगा सपने पर लेखा।

राखत बारि न पिता निछोहा। कत बियाहि कै दीन्ह बिछोहा।

हिऐँ आइ दुख बाजा जिउ जानहु गा छेंकि ।

मन तिवानि कै रावै हरि भँडार कर टेंकि ।¹

(पद्मावती ने जब प्रस्थान समय का मंगल समाचार सुना उसका जी धक से हो गया और वह सिर धुनने लगी। व्याकुलता से नेत्रों में आँसू भर आए और सोचने लगी, 'सिंहल का यह स्वर्ग अब छोड़ना होगा। पिता का घर छोड़कर बिछोही बनकर चलूँगी। इस दिन के कारण ही मैं जन्म के साथ रोई थी (अन्यथा राजकुल में सब सुख थे) अपनी सखी सहेलियों को अब छोड़ना होगा और उन्हें तजकर अकेले दूर जाना होगा। जहाँ अपना रहना नहीं हुआ और चलना हुआ, वहाँ जन्म लेते ही मृत्यु क्यों न हो गई। नैहर में आकर क्या सुख देखा, मानों स्वप्न की भोंति हो गया। निष्ठुर पिता भले ही बालापन में रक्षा न करता, पर ब्याह करके बिछोड़ का यह दुःख उसने क्यों दिया?' दुःख हृदय में आ पहुँचा मानो प्राण रुंध गया। कटि पर हाथ रखे हुए मन में सोच-सोच कर वह रो रही थी।)

पद्मावती अपनी इस मनोव्यथा को सामाजिक जीवन-मूल्य की तुला पर रख कर देखती है। भारतीय जीवन व्यवस्थाओं में पति स्त्री के लिये सम्मानीय होता है। उसकी इच्छा और शब्दों का पालन करना वह अपना धर्म समझता है नारी जीवन का यह जीवन मोह सामाजिक व्यवस्था का नियामक है। पद्मावती अपनी सहेलियों से अपनी मनोव्यथा बताती हुई इस जीवन मूल्य की दुहाई देती है।

“पुनि पदुमावति सखी बोलाई। सुनि कै गवन मिलै आई।

भिलहु सखी हम तहँ वॉ जाहीं। जहाँ जाइ फिर आवन नाही।

सात समुद पार वह देसु। कतरे मिलन कत आव सँदेसू।

अराम पथ परदेस सिधारी। न जनहु कुसल कि बिथा हमारी।

पितै निछोह किएउ हिय माहाँ। तहाँ को हमहिं राख गहि बाहाँ।

हम तुम्ह एक मिले सँग खेला। अंत बिछोड़ आनि केई मेला।

तुम्ह असि हितू सँघाति पियारी। जियत जीय नहि करौ निनारी।

कत चलाई का करौ आएसु जाइ न मेटि ।

पुनि हम मिलहि कि ना मिलहि लेहु सहेलहु भेटि ।¹

(फिर पद्मावती ने सखियों को बुलाया। उसका गमन सुनते ही वे सब मिलने आईं। 'हे सखियों, मुझ से मिल लो। मैं वहाँ जा रही हूँ जहाँ जाकर फिर आना ना होगा। वह देश सात समुद्र पार है। फिर मिलना कहीं, और सदेश का आना भी कहीं होगा? आगम मार्ग में मैं परदेस सिधार रही हूँ। न जाने वहाँ कुशल से रहूँगी या दुःख मिलेगा। पिता ने तो अपने मन में निदुराई कर ली। वहाँ मुझे बाँह पकड़कर कौन रखेगा? मैं और तुम एक साथ मिलकर खेलती रही। अन्त में यह बिछोह किसने लाकर डाल दिया? तुम्हारे ऐसी हितू और प्यारी सखियों की जीते जी अलग नहीं करना चाहती। पर कन्त की कही हुई बात है, मैं क्या करूँ? उनकी आज्ञा मेटी नहीं जाती। फिर हम मिले या न मिले। हे सहेलियों आओ गले मिल लो।)

जायसी पद्मावत में इस सदर्थ में जीवन व्यवस्था के इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि नारी ने लोक व्यवहार में अपनी इस स्थिति को अपनी नियति रखा है —

“धनि रोबत सब रौवहि सखी। हम तुम्ह देखि आपु कहँ सखी।

तुम्ह ऐसी जहँ रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहि पराई।

X X X X X

चलने कहँ हम औतरी औ चलन सिखा हम आइ।

अब सो चलन चलावै को राखै गहि पाइ।”²

(बाला रो रही थी। सब सखियाँ भी रोने लगीं। तुम्हें देखकर अब हम अपने लिये भी रोती हैं। तुम्हारे जैसी जहाँ नहीं रहने पाई, फिर हम क्या जो पहले से ही पराए के आश्रित हैं। हम चलने के लिये जन्मी थी, पर यहाँ आकर हम लोक के रीत-रिवाज सीखने में पड़ गई। वही लोक व्यवहार (चलन) हमारे जीवन को अब चला रहा है। कौन पैर पकड़ कर हमें रोकेगा?)

1 पद्मावत — वासुदेवशरण अग्रवाल, रत्नसेन विदाई खण्ड, 379/1-9

2 पद्मावत — वासुदेवशरण अग्रवाल रत्नसेन विदाई खण्ड, 340

4.2.1.1.1.23 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना में सत्य का संचार

मानवीय जीवन बोध मनुष्य की वैयक्तिक संरचना और सामाजिक संरचना के आधार पर विकसित होता है। इसी मानवीय जीवन बोध के आधार पर सामाजिक जीवन का स्वरूप बनता है। सामान्य रूप में मनुष्य की जीवन वृत्तियाँ उसी स्वाभाविक संरचना का परिणाम होती हैं। जीवन प्रपंच में मनुष्य इन स्वाभाविक वृत्तियों को कहीं दबाता है, कहीं छिपाता है, कहीं रूप बदलकर प्रस्तुत करता है, जिससे जीवन का सहज स्वाभाविक स्वरूप बाधित हो जाता है और वह अस्वाभाविकता की ओर बढ़ने लगता है। सतों ने इसी स्वरूप को असत्य कहा है और इसकी निन्दा की है। कबीर कहते हैं — माया ऊपर माया माढी, देख न जाये खोखली हांडी।

माया के ऊपर माया का बंधन इसी छल प्रपंच युक्त जीवन का स्वरूप है। जो जीवन चेतना को विकृत करता है। जायसी की दृष्टि भी मानवीय वृत्तियों के इस स्वरूप को अनदेखा नहीं करती। नागमती सुआ प्रकरण को रत्नसेन सुआ सवाद के माध्यम से वे जीवन में सत्य पर आधारित सहज स्वाभाविक स्वरूप की चेतना की प्रतिष्ठा करता है। नागमती ने इन प्रकरण में छल और दुराव का सहारा लिया। इसलिये जायसी सत्य के उद्घाटन पर बल देते हुए कहते हैं —

“राजै कहा सत्य कहु सुआ। बिनु सत जन सेंवर कर भूआ।
 होइ मुख रात सत्य के बाता। जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता।
 बॉधी सिहिट अहै सत केरी। लछिमी अहै सत्य कै चेरी।
 सत्य जहाँ साहस सिधि पावा। ओ सतबादी पुरुष कहावा।
 सत कहँ सती सँवारै सरा। आगि लाइ चहुँ बिसि सत जरा।
 दुइ जग तरा सत्य जेइ राखा। और पियार दइहि सत भाखा।
 सों सत छॉडि जो धरम बिनासा। भा मतिहीन धरम अरि नासा।

तुम सयान औ पंडित, असत न भाखौ काउ।

सत्य कहहु तुम मोसौ, दहुँ काकर अनियाउ।।”¹

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक राजा सुआ सवाद खण्ड-1, पृ० 31

4 2 1 1 1 24 दाम्पत्य चेतना और नारी मूल्य

मानव समाज में नारी अस्मिता को दो वर्गों में विभाजित कर रखा है। एक उसका गृहिणी रूप में, जिसकी मान-मर्यादा, जीवन अस्मिता, पुरुष की मान-मर्यादा से बँधी हुई है। नारी का यह रूप समाजोन्मुखी संस्कृति का विधायक है। पुरुष की सांस्कारित दृष्टि का पर्याय है नारी के सम्मान और मर्यादा का रक्षक है। नारी अस्मिता का दूसरा रूप उसका केवल नारी रूप है। जहाँ वह पुरुष के मनोरंजन की वस्तु, उसके विलास और प्रसाधन का साधन है। नारी के इस रूप में पुरुष की असंस्कारित दृष्टि का संचार है। पुरुष के इस रूप में पुरुष की असंस्कारित दृष्टि का संचार है। पुरुष की इस दृष्टि के साथ नारी अस्मिता की नियत बड़ी असमंजस में बन जाती है। पुरुष की इस दृष्टि से पोषित नारी ही पुरुष के उस द्वंद्व को तोड़ने का काम करती है जो उसने एकाधिकार के साथ गृहिणी रूप में नारी की मर्यादा को और सम्मान को रक्षा के रूप में पाल रखा है।

जायसी के पद्मावत में मध्यकालीन परिवेश को सामने रख कर पुरुष की नारी विषयक दृष्टि और उसके प्रतिफलन को प्रस्तुत किया है। 'राजा-बादशाह मेल खण्ड' से लेकर 'रत्नसेन बधन खण्ड' तक इसी सांस्कृतिक सचेतना की व्यंजना दिखायी देती है। गृहिणी रूप में पद्मावती की मान-मर्यादा के प्रति स्वाभिमान की गर्वोक्ति जहाँ नारी अस्मिता की सांस्कृतिक सचेतना की आदर्श स्थिति है, वही सुलतान अलाउद्दीन के स्वागत में अनेक सुन्दर दासी द्वारा उसकी सेवक नारी के उस रूप की व्यंजना करती है, जो सांस्कृतिक धरातल पर नारी का अपमानजनक अपकर्ष कहा जा सकता है। सामाजिक चेतना में यहाँ नारी के सम्मान की चिंता नहीं है, केवल अपनी नारी के सम्मान की चिन्ता है। रत्नसेन भूल जाता है कि उसकी अपनी नारी भी दूसरे पुरुष की दृष्टि में केवल नारी है। अपनी नारी की मान-मर्यादा की रक्षा तब तक नहीं हो सकती जब तक नारी मात्र के मान-मर्यादा की रक्षा न हो। सुल्तान अलाउद्दीन की दृष्टि रत्नसेन द्वारा उसकी सेवा के लिये पेश की गयी नारियों में रत्नसेन की पद्मिनी को ढूँढती है।

इस प्रकार दासियों द्वारा प्रेरित पद्मावती की अलाउद्दीन को देखने की उत्कंठा ही रत्नसेन के बधन का कारण बन गई। एक प्रकार से देखा जाये तो इस प्रकरण में पुरुष की नारी चेतना की दो विरोधी भावना के परिणाम की व्यंजना ही साहित्य की अभिव्यक्ति में प्राकृतिक न्याय और

मनोविज्ञान का गहरा सच है कि चेतना की एक दिशा का संचार सामाजिक जीवन को श्रृंखलाबद्ध रूप से प्रभावित करता है। पुरुष की नारी विषयक भावना का यह अन्तर्विरोधी रूप है कि वह एक स्थान पर नारी के मान-मर्यादा की रक्षा चाहता है और दूसरे स्थान पर उसका अपहरण। परिणामतः जिस सामूहिक अवचेतन का विकास होता है उससे उसकी वैयक्तिक चेतना पर कुठाराघात होता है और वह गृहिणी रूप में भी अपनी नारी की मर्यादा की रक्षा नहीं कर पाता।

4.2.1.1.1.25 नारी अस्मिता और पुरुष का सामूहिक अवचेतन

जायसी का पद्मावत नारी अस्मिता के प्रश्न हर कोण से देखते हैं। 'देव पाल दूती खण्ड' जायसी सामाजिक व्यवस्था में नारी अस्मिता के प्रश्न को कई तरह से उठाता है। एक ओर सामंती परिवेश में जहाँ नारी भोग और विलास की वस्तु है, वही वयः शोधन का माध्यम है। पुरुष दूसरे की नारी को हस्तगत करके गर्व महसूस करता है। जैसे उसने उसे छीनकर उसके पति की मान-मर्यादा को ध्वस्त कर दिया हो। रत्नसेन का पड़ोसी राजा देवपाल, जो उससे शत्रुता मानता है रत्नसेन से बदला लेने के लिये पद्मावती को छल से अपनी बना लेना चाहता है। वह दूती का प्रयोग करता है। जायसी यहाँ संकेत करते हैं, कि शत्रुता की भावना का बदला लेने के पीछे नारी बेचारी का क्या दोष। लेकिन यहाँ भी नारी अस्मिता पुरुष समाज के हाथों खिलौना बन जाती है।

“कुभलनेरि राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय सालू।

ओई पुनि सुना कि राजा बाधा। पाछिल बैर सँवारि छर साँधा।

सतुर साल तब नेवरै सोई। जौ घर आव सतुर मै जोई।”¹

राजा के सोरह सै दासी। तिन्ह महुँ चुनि काढ़ी चौरासी।

बरन बरन सारी पहिराई। निकसि मँदिल हुते सेवा आई।

जनु निसरीं सब बीर बहूटी। रायमुनी पिजर हुति छूटी।

सबै प्रथम जोबन सौ सोही। नैन बान औ सारँग भौही।

मारहि धनुक फेरि सर ओही। पनघट घाट ढग जित होही।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक देवपाल दूती खण्ड-1, पृष्ठ 217

काम कटाख रहै चित हरनी। एक एक तै आगरि बरनी।

जानहुँ इद्र लोक ते काढी। पातिन्ह पॉति भई सब ठाढी।

साह पूँछ राघौ कहँ सर तीखे नैनाहँ।

तै जो पदुमिनी बरनी कहु सो कवन इन्ह माहँ।¹

4 2 1 1 1 26 नारी का सामाजिक आदर्श

पद्मावती की इन नारी रूप दासियों की चेतना में पुरुष की उस दृष्टि का संचार है, जो इनके आकर्षण का विषय बनते हैं। सुल्तान अलाउद्दीन के प्रभाव मण्डल से आकर्षित होकर ये दासियाँ पद्मावती को अलाउद्दीन के दर्शन के लिये प्रेरित करती हैं। पद्मावती ने पुरुष के प्रभाव—मण्डल के सस्कार अपनी चेतना पर लिये हुए हैं इसलिये वह अलाउद्दीन को देखने को उत्कटित हो जाती है —

“सूर देखि ओइ तरई दासी। जहँ सारी तहाँ जाइ परगासी।

सुना जो हम ढीली सुलतानु। देखा आजु तपै जस भानू।

ऊँच छत्र ताकर जग मोंहों। जग जो छौह सब ओही की छौहों।

बैठि सिधासन गरबन्ह गूजा। एक छत्र चारिहुँ खड भूँजा।²

बिगसि जो कुमुद कहे ससि ठाँऊँ। बिगसा कँवल सुनत रबि नाऊ।

भै निसि ससि धौराहर चढी। सोरह करा जैसि बिधि गढी।

बिहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी।

होतहि दरस परस भा लोना। धरती सए भएउ सब सोना।³

देवपाल दूती प्रसंग से सामाजिक जीवन व्यवस्था के सदर्थ में एक व्यजना और होती है। इस प्रसंग में पद्मावती का चरित्र नारी के सामाजिक आदर्श की व्यवस्था देता है। जब देवपाल की दूती कुमुदनि पद्मावती के पास जाकर उससे आत्मीयता स्थापित कर लेती है और उसे गुमराह करके

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक चित्तौडगढ़ वर्णन खण्ड पृ० 206

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक चित्तौडगढ़ वर्णन खण्ड, पृ० 208

3 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक चित्तौडगढ़ वर्णन खण्ड, पृ० 209

यौवन की सार्थकता की तरह-तरह से व्याख्या करके पथ-भ्रष्ट कर देना चाहती है। पद्मावती उसकी भर्त्सना करती है और अपनी एक निष्ठा बनाये रखते हुए नारी मर्यादा की दुहाई देती है –

“जिनि तुँइ बारि! करसि अस जीऊ। जो लहि जोबन तो लहि पीऊ।

पुरुख सिघ आपन केहि केरा। एक खाइ दोसरेह मुँह हेरा।

जोबन जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपाइ हँस परगटा।

सुभर सरोवर जो लहि नीरा। बहु आदर पंछी बहु तीरा।

नीर घटे पुनि पूँछ न कोई। बेरसि जो लीज हाथ रह सोई।

जब लगि का लिंदिरी बेरासी। पुनि सुरसरि होइ समुँद्र गरासी।

जोबन भँवर फूल तन तोरा। बिरिध पोंछ जस हाथ मरोरा।

क्रिस्न जो जोबन करत तन मया मुक्त नहिं साथ।

छरिक जाइहि बान लै धनुक छोड़ि तोहि हाथ।”¹

“कित पावसि पुनि जोबन राता। मैमँत चढ़ा स्याम सिर छाता।

जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ। बिनु जोबन थाकसि सब ठाऊँ।

जोबन हेरत मिलै न हेरा। तेहि बन जाइहि करिहि न फेरा।

इहि जो केस नग भँवर जो बसा। पुनि बग होहि जगत सब हँसा।

सेबर सेइना चित करु सुवा। पुनि पाछि तासि अंत होइ भुवा।

रूप तोर जग अपर लोना। यह जोवन पाहुन जग होना।

भोग बेरास केरि यह बेरा। मानि लेहि पुनि को केहि केरा।

उठत कोप तरिवर जस तस जोवन तोहि रात।

तौ लहि रग लहि रचि पुनि सौ पियर ओइ पात।”²

“कुमुदिनी बैन सुनाए जरे। पदुमिनि हिय अंगार जस परे।

रग ताकर हौ जारौ रचा। आपन तजि जो पराएँ लचा।

दोसर करै जाइ दुइ बाटा। राजा दुइ न होहि एक पाटा।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक देवपाल दूती खण्ड, पृ० 220

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक देवपाल दूती खण्ड, पृ० 220-21

जेहि जियँ पेम प्रीति दिन होई । सुख सोहाग सौं निबहा सोई ।

जोबन जाउ जाउ सो भँवरा । प्रिय की प्रीति सो जाइ न सँवरा ।

एहि जग जौ पिय करिहि न फेरा । ओहि जग मिलिहि सो दिन—दिन मेला ।

जोबन मोर रतन जहँ पीउ । बलि सौपौं यह जोबन जीऊ ।

भरथ बिछोह पिगला आहि करत जिय दिन्ह ।

हौ बिसारि जौ जियत हौं यहै दोस बहु कीन्ह ।”¹

यही प्रसंग नारी जीवन सन्दर्भ में एक ओर सांस्कृतिक चेतना की व्यजना करता है। सांस्कृतिक विकास प्रवाह में भारतीय समाज में नारी का सामूहिक अवचेतन उसे अन्तर्विरोधी जीवन व्यवस्था के लिये प्रेरित करता है। मध्यकाल में नारी जीवन की यह विसंगति अपने चरम पर थी। जायसी सचेतन होकर नारी सामूहिक अवचेतन इस अन्तर्विरोध में इस स्थिति को देखते हैं। देवपाल की दूती का नाम कुमुदिनी है। वह पद्मिनी को गुमराह करके समाज विरोधी राहों पर ले जाना चाहती है। पद्मिनी और कुमुदिनी की यदि हम प्रतिकात्मक व्याख्या करें तो दोनों का जीवन परिवेश एक है। दोनों नारी हैं। प्रतीक रूप में दोनों जल में ही रहती हैं। एक रात में खिलती है, एक दिन में खिलती है। रात में खिलने वाली कुमुदिनी रूपी नारी दिन में खिलने वाली पद्मिनी रूपी नारी की जीवनदृष्टि की विरोधी है। जायसी पद्मिनी की जीवन दृष्टि को सुसंस्कृत मानते हुए उसकी महत्ता प्रतिपादित करते हैं। इस प्रसंग से यह भी ध्वनि निकलती है कि नारी जीवन सन्दर्भ में नारी का सामूहिक अवचेतन उसके लिये घातक है। सामाजिक व्यवस्था के लिये घातक है।

हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि मानव संस्कृति के विकास के साथ-साथ सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे अपने जीवन को एक व्यवस्था दी है। उसकी इस जीवन व्यवस्था में वह सभी पहलू आ जाते हैं जो उसकी दैनिक चर्या और जीवन चर्या से संबंधित हैं। दैनिक चर्या और जीवन चर्या का सम्बन्ध उसके अस्तित्व की रक्षा और सौन्दर्य बोध के साथ जीवन यापन से है। अस्तित्व रक्षा में सबसे पहले मनुष्य का खान-पान आता है। मनुष्य में अपने खान-पान की व्यवस्था को भी सामाजिक सन्दर्भों में एक सुसंस्कृत रूप दिया है।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक देवपाल दूती खण्ड, पृ० 221

4 2 1 2 खान-पान की व्यवस्था और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संघेतना

खान-पान मनुष्य की ही नहीं जीव मात्र की आवश्यक आवश्यकता है। अपने जीवन की रक्षा के लिये हर जीव को भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती है। मनुष्य ने ज्यो-ज्यो अपने सामाजिक व्यक्तित्व का विकास किया उसने अपने खान-पान व्यवस्था को सस्कारित किया। सामाजिक सदर्भों में यदि इस खान-पान की व्यवस्था को देखा जाये तो इसकी दो दिशाये जायसी के पद्मावत में मध्यकालीन सामाजिक परिवेश के अनुरूप दिखाई देती है। मानव समाज में खान-पान की व्यवस्था एकाकी न रहकर सामाजिक व्यवस्था से जुड़ जाती है और वह बाजार व्यवस्था का अंग बन जाती है। जायसी अपने पद्मावत में सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड में सामंती परिवेश के अनुकूल खान-पान की वस्तुओं का वर्णन करते हैं -

“फरे आँब अति सघन सुहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए।

कटहर डार पीड सो पाके। बडहर सोउ अनूप अति ताके।

खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जौबु जो पाकि भँवर असि डीठी।

नरिअर फरे फरी खुरहुरी। फुरी जानु इन्द्रासन पुरी।

पुनि महु चुबै सो अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू।

और खजहजा आव न नाऊँ। देखा सब रावन अँबराऊँ।

लोग सबै जस अब्रित साखा। रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा।

गुआ सुपारी जायफर सब फर फरे अपूरि।

आस पास घनि ईंबिली औ घन तार खजूरि।”¹

फलों के वृक्षों का यह वर्णन जायसी का केवल वस्तु वर्णन ही नहीं है। एक व्यवस्था के साथ द्वीप के चारों तरफ फल के वृक्षों का होना खान-पान की व्यवस्था को सामाजिक भाव के साथ जोड़ने की व्यंजना भी करता है। आगे एक अन्य स्थान पर जायसी खाद्य पदार्थों के उत्पादन और उनके सींचने की बात भी करते हैं -

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक सिंहल द्वीप खण्ड, पृ० 8

“आस पास बहु अब्रित बारी। फरी अनूप होइ रखवारी।
 नवरँग नीबू सुरग जँभीरा। औ बादाम बेद अजीरा।
 गलगल तुरँज सदाअर फरे। नारँग अति राते रस भरे।
 किसमिस सेब फरे नौ पाता। दारिवँ दाख देखि मन राता।
 लागि सोहाई हर पारे उरी। ओनइ रही केरन्ह की घउरी।
 फरे तूत कमरख औ निउँजी। राय करौदा बैरि चिरउँजी।
 सखदराउ छोहरा डीठे। औरू खजहजा खाटे मीठे।

पानी देहि खँडवानी कुँअहि खँड बहु मेलि।

लागी धरी रहट की सीचहि अब्रित बेलि।”¹

खान-पान से सबधित दूसरी सास्कृतिक सचेतना हमे पद्मावत मे दिये गये भोजो के प्रसंगो मे मिलती है। मानव समाज मे सामूहिक भोज खान-पान सबधी सास्कृतिक सचेतना का व्यक्त रूप है। सामूहिक भोज के रूप मे खान-पान आवश्यक आवश्यकता नही रह जाती, बल्कि वह सम्मान, सत्कार और ऐश्वर्य के प्रदर्शन का पर्याय बन जाता है। जायसी खान-पान की इस समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना से पूरी तरह परिचित थे। उन्होने अपने पद्मावत मे दो स्थानो पर भोज का वर्णन किया है। पहला वर्णन रत्नसेन पद्मावती विवाह के प्रसंग पर रत्नसेन पद्मावती के विवाह के अवसर पर शाकाहारी भोजन का वर्णन है। जो रत्नसेन की स्वागत-सत्कार के अनुकूल है -

“पहिले भात परोसै आने। जनहु कपूर सुबास बसाने।

झालर मॉड आए घिउ पोए। ऊजर देखि पाप गए धोए।

लुचुई पूरि सोहारी परी। एक ताली औ सुठि कोवरी।

पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे न कबहूँ खाए।

खँडरा खडि खँडोई खडी। परी एकोतर सै कठहडी।

पुनि सँधान आए बहु सँधे। दूध दही के मोरडा बँधे।

पुनि जाउरि पछियाउरि आई। दूध दही का कहौ मिठाई।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक सिंहल द्वीप खण्ड, पृ० 10

जेवन अधिक सुबासिक मुख महँ परत बिलाइ ।

सहस सवाद सो पावै एक कवर जाँ खाइ ।¹

X X X X X

भै जेवनार फिरा खँडवानी । फिरा अरजजा कुंकुहँ बानी ।

फिरे पान बहुरा सब कोई । लाग बियाहचार सब होई ।²

उपर्युक्त पंक्तियों में रत्नसेन पद्मावती के विवाह के अवसर पर किये गये भोज वर्णन में विवाहोत्सव के अनुरूप भोजन व्यवस्था और खाद्य पदार्थों का वर्णन है। यहाँ जायसी इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि रत्नसेन और उनका परिवार हिन्दू समाज से सम्बन्धित हैं और वह भी योगी के रूप में एक धर्म साधना का प्रतिनिधि बनकर आया है। इसीलिये जायसी शुद्ध शाकाहारी, सात्त्विक भोजन की व्यवस्था का वर्णन करते हैं। यह भोजन व्यवस्था सामंती चेतना की झलक तो देती है, लेकिन इसमें विवाहोत्सव के अनुकूल एक समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना ही दिखाई पड़ती है।

पद्मावत में रीति भोज का दूसरा वर्णन रत्नसेन और बादशाह की सन्धि के पश्चात् बादशाह भोज खण्ड के अन्तर्गत आता है। बादशाह भोज खण्ड में रत्नसेन द्वारा सुल्तान अलाउद्दीन को दी गई दावत का वर्णन है। जायसी ने अपने इस वर्णन में उस समय की राजकीय पाठशालाओं का चित्र खींच दिया है। संक्षेप में जायसी के इस भोज प्रकरण की रूपरेखा वासुदेवशरण अग्रवाल ने कुछ इस प्रकार दी है —

“पशु पक्षियों की गिनती जो पकड़कर लाए गए और मारे गए। मछलियों की गिनती जो जाल में पकड़कर लाई गई। गेहूँ का समान, भोंडे, पूरी, लुचुई, सुहारी। सत्ताईस प्रकार के चालो के नाम। मॉस के विभिन्न प्रकार। (1) कटवाँ (2) बटवाँ (3) सूप या रसा (4) मॉस के खण्डे (5) समूचेछागर। मॉस का भरवाँ सामान। (1) समोसे (2) फल (3) मसौरा या कबाब। मछलियों के पदार्थ। (1) काटे मछ (2) खण्डरे (3) मछलियों के अण्डे (4) घी में बघारा हुआ अरदावा या भरता। फलशाक,

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ० 100

2 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ० 101

कदशाक, पत्रशाक और शिम्बिशाक। भौंति-भौंति के बड़े और बड़ियाँ। तहरी, दूध दही का सामान और मिठाइयाँ।¹

सामाजिक व्यवस्था में भोजन व्यवस्था वर्ग विभेद के साथ अपना अलग सांस्कृतिक स्वरूप ग्रहण करने लगती है। बादशाह भोज खण्ड में भोज व्यवस्था का जिस प्रकार वर्णन है, वह सुल्तान अलाउद्दीन के अनुरूप बादशाही, स्वागत-सत्कार के रूप में किया गया है। सुल्तान अलाउद्दीन जिस समाज और वर्ग का प्रतिनिधि है वहाँ भोजन आवश्यक आवश्यकता नहीं, बल्कि उसके सम्मान का सूचक है। इसीलिये जायसी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ शाही खाद्य पदार्थों और सामिष भोजन का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

जायसी का पद्मावत सामान्य जन-जीवन से दूर सामंती परिवेश के कथानक पर रचा हुआ काव्य है। इसलिये इसमें खान-पान की व्यवस्था भी उसकी सामंती परिवेश के साथ होती है तथा उसमें जायसी की सामाजिक सचेतना स्पष्ट रूप से झलकती हुई दिखाई देती है।

4 2 1 3 मनोरंजन के साधन

सामाजिक जीवन में मनोरंजन में विभिन्न साधनों का अपना महत्त्व है। जीवन की व्यस्तता, गंभीरता और अतर्मुखी स्थिति, चेतना को बोझिल बना देती है। मानव-चेतना कुछ देर के लिये कुछ ऐसा चाहती है जिसका अर्थ केवल मनोरंजन हो। इसके माध्यम से जायसी के पद्मावत में मनोरंजन के साधन दो रूपों में दिखाई देते हैं —

- 1 कुमारियों के खेल और क्रीड़ाएँ
- 2 समाज में प्रचलित मनोरंजन के साधन

4 2 1 3 1 कुमारियों के खेल और क्रीड़ाएँ

पद्मावत के सदर्थ में किसी भी तथ्य पर विचार करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि मध्यकालीन काव्य केवल सामंती समाज का प्रतिबिम्बन करता है। सामान्य जन-जीवन की

1 पद्मावत — वासुदेवशरण अग्रवाल, बादशाह भोज खण्ड, 710

अभिव्यक्ति इस काव्य में प्रायः नहीं मिलती। कुमारियों के खेल-क्रीडाओं के रूप में पद्मावत का मान-सरोदक वर्णन तत्कालीन सामन्ती समाज के मनोरंजन के स्वरूप को स्पष्ट करता है। मनोरंजन का मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि विश्लेषण किया जाये तो यह मन को जीवन की आशंकाओं से मुक्ति दिलाना है। मन को बहलाकर उसे उसकी मनोग्रन्थियों से छुटकारा दिलाना है। मनोग्रन्थियों से मुक्ति विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम से मिलती है और यह अभिव्यक्ति अपने अविश्वसनीय और समव्यस्को के मध्य ही हो सकती है। 'मानसरोदक खण्ड' में पद्मावती जल क्रीड़ा के लिये जाती है। जल-क्रीड़ा खेल के रूप में उसके मनोरंजन का साधन तो है, लेकिन समाजोन्मुखी चेतना से उसका कोई सरोकार नहीं। जायसी मान-सरोदक खण्ड में पद्मावती और उसकी सखियों की बातचीत के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था की विषमताओं की ओर संकेत करके समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संचार करते हुए पद्मावती की एक कुमारी बालिका के रूप में पलने वाली मनोग्रन्थ का परिष्कार करना चाहते हैं।

“खेलत मानसरोवर गई। जाइ पालि पर ठाढी भई।

देखि सरोवर रहसहि केली। पदुमावति सौं कहहि सहेली।

ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।

जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।

पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।

कित आवन पुनि अपने हाथों। कित मिलि कै खेलब एक साथ।

सासु नैनद बोलिन्ह जिउ लेही। दारुन सासुर न आवै देही।

पिउ पिआर सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ आह।

कहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जरम निवाह।।¹

(क्रीड़ा करती हुई वे मानसरोवर पर गई और जाकर उसके पाल (किनारे) पर खड़ी हो गई। सरोवर की सुन्दरता देख वे सहेलियाँ क्रीड़ा के लिये तरसने लगी और पद्मावती से बोली – हे रानी, मन में विचार कर देखो, यहाँ पिता के घर चार दिन का रहना है। जब तक पिता का राज है, जो

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, मानसरोदक खण्ड, 60

खेलना चाहो आज मन भर कर खेल लो। फिर कल हम सब ससुराल चली जायेगी। फिर कहाँ हम और कहाँ यह सरोवर की पाल? फिर आना अपने हाथ कहाँ एक साथ मिलकर खेलना? सासु और ननद बोलियों की मार से प्राण ले लेगी और कठोर ससुर आने न देगे। प्यारा प्रियतम इन सबसे ऊपर होता है। वह भी न जाने कैसा व्यवहार करेगा। न जाने सुख से रखेगा या दुःख से? न जाने कैसे जन्म भर निर्वाह होगा?)

पद्मावत के उपर्युक्त वर्णन से केवल इतना संकेत मिलता है कि कुमारियों में जल-क्रीड़ा अत्यन्त प्रिय रही होगी। ऐसा लगता है कि जायसी इस खेल के माध्यम से कुमारियों की मनस्थिति और सामाजिक व्यवस्था के सदर्भ में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का ही संचार करना चाहता है।

4.2.1.3.2 समाज में प्रचलित मनोरंजन के साधन

जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, 'पद्मावत' सामन्ती समाज का एक प्रतिबिम्ब है। इसलिये यह उसी समाज के मनोरंजन के साधनों को लेकर चलता है। पद्मावत में मनोरंजन के साधन के रूप में शतरंज और चौपड़ का उल्लेख मिलता है। जायसी जिन-जिन स्थलों पर इन खेलों का वर्णन करते हैं वहाँ वे केवल वैयक्तिक मनोरंजन का साधन नहीं हैं। बल्कि समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संचार करना है।

'पद्मावत' में मनोरंजन के साधन के रूप में शतरंज के खेल का उल्लेख 'चित्तौड़गढ़ वर्णन खंड' में सुल्तान अलाउद्दीन राजा के लिये शतरंज का खेल सजाता है।

“मया सूर परसन भा राजा। साहि खेल सँतरज कर साजा।

राजा है जौ लहि सिर धामू। हम तुम्ह धरिक करहि बिसरामू।

दरपन साहि पेट तहँ लावा। देखौ जबहि झरोखे आवा।

खेलहि दुवौ साहि औ राजा। साहि क रूख दरपन रह साजा।

पेम क लुबुध पयादे पाऊँ। चलै सौहै ताकै कोन हाऊँ।

धोरा दै फरजी बँदि लावा। जेहि मोहरा रूख यहै सो पावा।

राजा फील देइ सह मॉगा। सह दै साहिं फरजी दिग खॉगा।”¹

उपर्युक्त प्रसंग एक ओर सामन्ती समाज के मनोरंजन के साधन के रूप में आता है दूसरी ओर इस प्रसंग में उल्लिखित शतरंज का खेल राजनीतिक संचेतना का पोषक है। इस खेल के माध्यम से युद्ध कला का मानसिक प्रशिक्षण मिलता है जो सामाजिक व्यवस्था को एक दिशा देता है। अलाउद्दीन और रत्नसेन के प्रसंग में यह खेल अलाउद्दीन की शतरंजी चाल की ओर भी संकेत करता है जो समाज विरोधी है। इस प्रकार जायसी शतरंज के खेल को मनोरंजन के साधन को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना से जोड़ते हैं। ‘पद्मावत’ में दूसरा प्रसंग चौपड़ के खेल का है। पद्मावती रत्नसेन खण्ड में चौपड़ के खेल का उल्लेख है, यह प्रसंग जहाँ मनोरंजन के रूप में एक साधन बनकर आता है वही यह जीवन संदर्भ में समाजोन्मुखी और अध्यात्मिक दिशाओं में व्यंजना करता है। पद्मावती चौपड़ के खेल के लिये रत्नसेन को आमन्त्रित करती हुई उसे जीवन की कसौटी पर कसना चाहती है –

“अैसें राजकुँवर नहि मानी। खेलु सारि पॉसा तौ जानौं।

कच्चे बारह बार फिरासी। पक्के तौ फिरि थिर न रहासी।

रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरह रहै सो राखा।

सतएँ ढरै सो खेल निहारा। ढारु इग्यारह जासि न मारा।

तौ लीन्हें मन आछसि दुवा। औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा।

हौं नव नेह रचौं तोहि पाहौं। दसौं दाउ तोरे हिय माहौं।

पुनि चौपर खेलो कै हिया। जो तिरहेल रहै सो तिया।

जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि अत तत तहि नित।

तेहि मिलि बिछुरन को सहै बरु बिनु मिले निचित।”²

(हे राजकुँवर, मैं ऐसे नहीं मान सकती। मेरे साथ चौपड़ पासे के खेल में तुम जुग बँध सको (युगनद्ध हो सको) तो जानूँगी तुम पूरे हो। कच्चे बारह का दाँव आने से तू केवल बारह

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, चित्तौड़गढ़ वर्णन खण्ड, 567

2 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावती-रत्नसेन भेट खण्ड, 312

घर चल सकेगा। पक्के बारह पड़ गए तो फिर स्थिर न रहेगा (रूकेगा नहीं)। तू आठ पर नहीं जमता (आठ आने पर) अठारह कहता है। सोलह, सत्रह का दौंव पड़ जाय तो वह (खिलाड़ी को) बचाता है। सात पोंसे पड़े तो खेलने वाला हारता है। ग्यारह का दौंव अगर तू ले तो गोट नहीं मर सकती। पर मन मे चाव रखकर की तेरे पास केवल दुआ है और उतने से ही तू दो गोटें चलता है। मैं तो तेरे लिये नौ का दौंव चाहती हूँ पर तेरे मन मे दस का दौंव है। फिर हिम्मत करके तेरे साथ चौपड खेलना चाहती हूँ। जो तीन बाजी खेले वही तीन-तीन का दौंव लेने वाला (तिया) होगा।

जुग बाँधने के बाद जुग से फुटना दुःखकारक है। फिर खेल के अन्त तक उसी की इच्छा बनी रहती है। जग बाँधकर बिछुडने से यह अच्छा है कि जुग मिलाया ही न जाय और प्रत्येक गोट, तल्लीनता से चली जाये)

“बौलौं वचन नारि सुन सौँचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा।
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास और निस सारी।
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौ खेलि पैत जिउ लावौ।
मारि सारि सहि हौं अस रौँचा। तेहि बिच कोटा बोल न बाँचा।
पाकि गहे पै आस करीता। हो जीते हूँ हारा तुम्ह जीता।
मिलि कै जुग नहि होउँ निनारा। किएउँ जोग आएऊँ कबि लासा।”¹

उपर्युक्त पक्तियों मे जायसी चौपड के खेल को विभिन्न जीवन सदर्भों के साथ जोड़ देते हैं। एक तरफ आध्यात्मिक सदर्भ मे इसे योग साधना की व्यजना होती है। योग साधना में अग्रसर योगी की साधना कब परिपक्व और कब अपरिपक्व होती है इसकी तरफ सकेत करते हुए जायसी योग संप्रदाय के समसामयिक स्वरूप की ओर सकेत करते हैं। दूसरी ओर प्रेम परक अर्थ की व्यजना के माध्यम से स्त्री-पुरुष सदर्भ मे माधुर्य भाव से युक्त जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करता है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल उपर्युक्त पक्तियों का प्रेमपरक अर्थ स्पष्ट करते हुए जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को स्पष्ट करते हुए — ‘हे राजकुँवर, मैं यो नही मान सकती। मेरी चित्तर सारी

1 पदमावत — वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावती-रत्नसेन भेट खण्ड, 313

मे साथ क्रीडा करो, तो जॉनूगी (अथवा क्रीडा करो जानूंगी कि तुममे शक्ति है या तुम खाद की तरह निस्सार हो)। यदि तुम कच्चे होंगे तो द्वार पर ही घूमते रहोगे (मेरे शयनगृह में प्रवेश न पा सकोगे। यदि पक्के होंगे तो फिर मन को स्थिर न रख सकोगे। आठ नहीं रहते तुम 'अट्ठारह' की बात करते हो। सोलह श्रगारो के सामने कौन सत से रह सकता है? वही रहता है, जिसे भगवान रखता है। अथवा सोलह सुरतो के सम्मुख जिसके सत्रह का समूह (पाँच कमेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राएँ, मन, प्राण) रह जाय, वही यथार्थ रक्षक हैं। जिसका सत स्थलित होता है, वही जानने वाला है। इस इन्द्रियों और एक मन, ग्यारह को तुम केति में ढालोगे तो मृत्यु दुख को प्राप्त न होंगे। मन में यदि कोई दूसरी बसी है तो जुग गोटियों के सदृश मेरे को नहीं छू सकते मैं तो तुम्हारे साथ नया प्रेम रचती हूँ, पर तुम्हारे मन में मेरे प्रति दस दौव हैं।¹

जायसी इसी प्रसंग में रत्नसेन के द्वारा चौपड़ के खेल की व्यजना से आध्यात्मिक और सामाजिक सदर्म में समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना की व्यजना करते हैं जो पद्मावती द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समाधान है।

4.2.2 आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम

मानव जीवन में समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना जीवन-व्यवस्था के लिये आवश्यक आर्थिक व्यवस्थापरक आयामों को एक नवीन दृष्टि प्रदान करती हैं। भारतीय सास्कृतिक चिन्तन में पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ को दूसरे स्थान पर रखा गया है। अर्थ जीवन का आधारभूत नियामक तत्त्व है। अर्थोपाजन के बिना जीवन का निर्वाह संभव नहीं है। समाज और संस्कृति के विकास क्रम में अर्थ व्यवस्था को कई पड़ावों से गुजरना पड़ा है। अर्थ व्यवस्था का एक अग उत्पादक और दूसरा अग वस्तु वितरण है। इनका मुख्य लक्ष्य उपभोक्ता है, वितरण-व्यवस्था जितनी सुसंस्कृत और मानवीय मूल्यों पर आधारित होगी, उतना ही समाज विकासशील और स्वस्थ व्यवस्था की ओर उन्मुख रहेगा। मध्यकाल अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से सामन्ती चेतना से ग्रस्त रहा है। मध्यकाल की अर्थ-व्यवस्था में ये जीवन मूल्य दिखाई नहीं देते जो सामान्य जन का आधार बनकर चलते हैं। यही कारण है

1 पद्मावत - वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 370

कि मध्यकाल कला की समृद्धि की दृष्टि से चरमोत्कर्ष का काल दिखाई देता है, लेकिन समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के इस काल की अर्थ व्यवस्था में दर्शन नहीं होते।

‘पद्मावत’ में जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पूरी तरह जागृत दिखाई देती है। ‘पद्मावत’ की कथानक संरचना में जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है, उन्होंने आर्थिक व्यवस्थापरक समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के आयामों की भी प्रतिष्ठा की है।

4.2.2.1 व्यवसाय में सांस्कृतिक सचेतना का संचार

‘पद्मावत’ में आर्थिक व्यवस्था की सचेतना के दर्शन सर्वप्रथम ‘बनिजारा खण्ड’ में होते हैं। ‘बजारा खण्ड’ से आध्यात्मिक चेतना की व्यंजना कुछ भी हो, लेकिन उस प्रकरण से होने वाली व्यवसायपरक समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को नकारा नहीं जा सकता। आर्थिक व्यवस्था में एक अह भूमिका बनिज की होती है। जिसके अन्तर्गत क्रय-विक्रय के माध्यम से वस्तु को उपभोक्ता तक पहुँचाना होता है। वाणिज्य क्रय में बनिजारा व्यवसाय अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है लेकिन लाभ कमाने की इस प्रवृत्ति से यदि सामाजिक मूल्यों का हनन होता है, तो आर्थिक व्यवस्था को सांस्कृतिक धरातल पर ह्रास माना जायेगा। अर्थोपार्जन में भी मानवीय मूल्यों पर ध्यान होना चाहिये। जायसी की ‘पद्मावत’ में एक ब्राह्मण धनाभाव से ग्रस्त होकर बनिजारों के साथ व्यवसाय करने जाता है। वहाँ उसकी सांस्कृतिक चेतना उसकी व्यवसायिक बुद्धि पर अकुश लगाती हुई उसे सद् व्यवसाय के लिये प्रेरित करती है। मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था जो जन-सामान्य की स्थिति थी उसका संकेत निम्न पक्तियों में मिल जाता है –

देखि हाट कुछ सूझ न ओरा। सबै बहुत, किछु दीख न थोरा।

पै सुटि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ, निधनी मुख हेरा।

लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोइ ओ नाई।

सबही लीन्ह बेसाहना और घर कीन्ह बहोर।

बौझन तहाँ लेइ का, गौंठि सौंठि सुटि थोर।।’

इन पक्तियों से स्पष्ट व्यजना होती है कि मध्यकाल अर्थ व्यवस्था में छोटी पूँजी लेकर चलने वाले व्यवसायी निराश ही रहते थे। आध्यात्मिक व्यजना को छोड़कर यदि इसका वाच्यार्थ लिया जाये, तो यह एक सामान्य अर्थव्यवस्था की मनोभूमि को उजागर करती है। वहाँ के बाजार की स्थिति देखकर हमें मध्यकालीन राज्यसी ऐश्वर्य की याद हो आती है, जहाँ सामान्य जन के लिये कोई जगह नहीं है। जायसी की यह पक्तियाँ देखिये —

“उरै ठाढ़, काहे क आवा। बनिज न मिला, रहा पछितावा।
 लाभ जनि आएँ एहि हारों। मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटा।
 का मै मरन सिखवन सिखी। आएँऊ मरै, मीचु हुति लिखि।
 अपने चलत न कीन्हि कुबानी। लाभ न दीख, मूर भौ हानी।
 का मै बोवा जरम ओहि भूँजी। खाइ चलेउँ घरहूँ कै पूजी।
 जेहि बेवहरिआ केर बेवहारु। का हौ देब जौ छेकिहि बारु।
 घर कैसे पैठब मै छूँछे। कौन उतर देबेऊँ तिन्ह पूँछे।”¹

4 2 2 2 उपभोक्ताओं की मनस् चेतना और व्यवसाय

जायसी उपभोक्ताओं के आधार पर बाजार व्यवस्था और उसके आधार पर बनने वाली व्यवसायिक मनोवृत्ति का चित्रण भी बनिजारी खण्ड में करते हैं। वे मानते हैं कि व्यवसाय की विकृतियों को उपभोक्ताओं के आधार पर बदला जा सकता है। आहार के लिये विभिन्न प्राणियों को व्यवसाय बाजार की वस्तु बनाना उचित नहीं है। वे ऐसे किसी व्यवसाय को स्वीकार करना नहीं चाहते, जिसमें दूसरे प्राणियों को कष्ट हो। जायसी की निम्न पक्तियों से इस तथ्य की स्पष्ट व्यजना होती है —

“सुनि बाम्हन बिनवा चिरिहारु। करि पखिन्ह कहँ मया न मारु।
 निटुर होइ जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डर आवा।
 कहसि पखि का दोस जनावा। निटुर तेइ जे परमँस खावा।

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक बनिजारा खण्ड, पृ० 25

आवहि रोइ, जात पुनि रोना। तबहुँ न तजहि भोग सुख सोना।

औ जानहि तन होइहि नासू। पोखै मोंसु पराये मोंसू।

जौ न होहि अस परमँस-खाधू। कित पखिन्ह कहँ धरै बियाधू?।”¹

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि जायसी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित चेतना को सुसंस्कृत रूप में देखना चाहते हैं। समाज की अर्थव्यवस्था मानवीय मूल्यों पर आधारित होकर जीवन को समृद्धि की ओर ले जाने वाली होनी चाहिए। उच्च वर्ग के सदस्यों में विकसित आर्थिक व्यवस्था भी किसी न किसी रूप में समाज के निचले वर्ग को प्रभावित करती है। जायसी ने उपर्युक्त प्रकरणों में आर्थिक व्यवस्था और व्यवसायिक चेतना में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का आधार देने का प्रयास किया है। आर्थिक व्यवस्था की यह समाजोन्मुखी सचेतना आज के सदस्यों में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर सकती है।

4.2.3 धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम

समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना धार्मिक व्यवस्था के माध्यम से किसी भी समाज के स्वस्थ निर्माण में एक अहम् भूमिका अदा करती है। मानव समाज का सांस्कृतिक विकास मूलतः धर्म की आधारशिला पर हुआ है। मनुष्य को एक विशिष्ट जीवन दृष्टि देता है। उस जीवन दृष्टि के आधार पर विकसित साधना के माध्यम से वह व्यक्ति और समाज का स्वरूप निर्माण कर पाता है। धर्म साधना के माध्यम से जीवन निर्माण की प्रक्रिया अनेक दिशाओं में ग्रहण करती है। जिससे अनेक धर्म साधनाओं का विकास होता है। सभी धर्म साधनाओं का मूल मुख्यतः एक ही होता है। लेकिन बाह्य आचारों का आधार इनमें विभेद खड़ा करता है।

जायसी मूलतः सूफी सत है। सूफी चेतना अपनी धर्म साधना की एक विशिष्ट पहचान रखते हुए एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था को स्वीकार करके चलती है, जो समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर विकसित हुई है।

1 जायसी ग्रन्थावली रामचन्द्र शुक्ल शीर्षक बनिजारा खण्ड, पृष्ठ 26

4.2.3.1 विभिन्न धर्म साधनाओं में समन्वय

जायसी ने जिस भारतीय समूह में अपनी काव्य रचना की वह विभिन्न धर्म साधनाओं का केन्द्र रहा है। जायसी उन सभी धर्म साधनाओं से ऊर्जा ग्रहण करते हैं, सभी को सम्मान देते हैं। धार्मिक व्यवस्था में सभी को स्थान देते हैं। पद्मावत के 'सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड' में जिस सिंहल द्वीप की तुलना कैलाश से करते हैं। कैलाश शिव की लीला स्थली है। आध्यात्मिक भावभूमि की संचेतना का प्रतीक है। भारतीय धर्म साधनाओं की साधना स्थली जायसी इसी रूप में पद्मावत में अपने सिंहल द्वीप की परिकल्पना करते हैं –

“जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई।

धर अँबराऊँ लाग चहुं पासा। उटै पुहुमि हुति लग अकासा।

तरिवर सबै भलै गिरि लाए। भै जग छॉह रैनि होइ छाए।

मलै समीर सोहाई छाहॉ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहॉ।

ओही छॉह रैनि होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै।

पंथिक जौ पहुँचै सहि धामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।

जिन्ह वह पाई छॉह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा।

अस अँबराऊँ सधन धन बरनि न पारौ अंत।

फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसत।।¹

उपर्युक्त पंक्तियों में सिंहल द्वीप के रूप में जिस आध्यात्मिक भावभूमि की सृष्टि हुई है, जायसी उसका निर्माण विभिन्न भारतीय धर्म साधना में संयुक्त रूप से करते हैं। विभिन्न धर्म साधनाओं में श्रेष्ठता की भावना पर आधारित एक दूसरे को तोड़ने वाली चेतना जायसी को स्वीकार नहीं। ये तो सभी धर्म साधना के आधार पर एक सांस्कृतिक धार्मिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। 'पद्मावत' में अभिव्यक्त इस धार्मिक व्यवस्था का स्वरूप और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है –

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड, पृष्ठ 8

“पैग पैग पर कुओं बावरी। साजी बैठक औ पौवरी।
 औरु कुंड बहु ठौवहि ठाऊँ। सब तीरथ औ तिन्ह के नाउँ।
 मढ़ मँडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे।
 कोई रिखे स्वर कोई सन्यासी। कोई रामजन कोइ मसवासी।
 कोई ब्रह्मचर्ज पँथ लागे। कोई दिगम्बर आछहिं नाँगे।
 कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी।
 कोइ महेसुर जँगम जती। कोइ एक परखै देवी सती।
 सेवरा खेवरा बानपरस्ती सिध साधक अवधूत।
 आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत।¹

4.2.3.2 धार्मिक बिम्बों के प्रति निरपेक्ष दृष्टि

यद्यपि जायसी मुस्लिम सूफी सन्त थे तथापि वे हिन्दुओं की विविध मान्यताओं, विश्वासों आदि से भी परिचित थे। इसलिये जायसी ने मन्दिर में स्थित देवता की पूजा के महत्त्व का वर्णन करते हुए राजा के मुख से देवता के प्रति कहलवाया है कि ‘हे देव! हे नारायण! तुम्हें नमस्कार है। मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ? हे दयालु! तुम गुणी एवं निर्गुणी सभी के दाता हो। मुझ सेवक की भी आशा पूरी करो। मैं हर सास मे उसी का मार्ग जोह रहा हूँ।² जायसी हिन्दुओं के देवी-देवताओं की साज-सज्जा से भी परिचित थे। इसी कारण जायसी ने महादेव के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि हनुमान का सदेश पाते ही शिव तुरन्त राजा के पास आये। बैल उनका वाहन था। वे कोढ़ी का वेष बनाए हुए थे। शरीर पर कंथा और हड्डियों की माला थी। शरीर पर भभूत रमाये हुए थे और हाथी की खाल ओढ़े हुए थे। वे रुद्राक्ष और कमल गट्ठे की माला बाधे थे। मस्तक पर चन्द्रमा और जटाओं में गंगा थी। हाथ में चँवर, घंटा और डमरू था, साथ में गौरी पार्वती थी। उनके साथ हनुमान वीर भी था, जिसने बन्दर का वेष बना रखा था।³ जहाँ जायसी ने इस धार्मिक विश्वास की ओर भी संकेत किया है कि शिव जी सदैव कोढ़ी के वेष में अपने भक्त पर कृपा

1 जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, शीर्षक सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड, पृष्ठ 9

2 पदमावत - 165/1-9

3 पदमावत - 207/1-9

करने के लिए आया करते हैं। जायसी यहाँ भी सिद्ध पुरुष या दिव्य पुरुष संबंधी मान्यता से भी परिचित थे। इसीलिए जायसी ने लिखा है कि सिद्ध पुरुष के अंगों पर मक्खी नहीं बैठती। सिद्ध की आँखों में पलक नहीं होती। उनकी देह के साथ परछाई नहीं होती। सिद्ध को भूख और माया नहीं लगती।¹ इन्हीं सब लक्षणों से राजा ने भी शिव को पहचान लिया था।

4.2.3.3 धर्मशास्त्रियों का चेतना के प्रति सचेत

जायसी जानते थे कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो संसार की रचना करती है, जिसने अमीर—गरीब, नदी—समुद्र हजार योनियों, विविध सुगन्धित द्रव्य बनाये हैं, जो संसार में सबसे अधिक धनाढ्य है, अक्षयदात्री है, अलख—अरूप अरबन है, सर्वव्यापक है, अजन्मा है और जो चाहती है वही करती है। उससे बढ़कर कोई नहीं है।²

जायसी भारतीय धर्म ग्रन्थों का भी आदर करते थे। इसीलिये उन्होंने लिखा है कि इस प्रकार उस विराट् शक्ति को पहचानो, जिस प्रकार कि पुराणों में भी उसका वर्णन मिलता है।³ दूसरे स्थल पर लिखा है कि सिंहल नगर में कहीं पर पण्डित धर्म ग्रन्थ पढ़ रहे हैं और धर्म के मार्ग का बखान कर रहे हैं और कहीं कोई बैठकर कथा कह रहा है।⁴ ऐसे ही पद्मावती के बारे में लिखा है कि तोता और पद्मावती दोनों साथ—साथ वेद शास्त्रों का अध्ययन करते थे। उनका पाठ ऐसा चुभता था कि वेद ब्रह्म भी सिर हिलाने लगते थे।⁵ इसी तरह जायसी ने हीरामन तोते को भी वेद शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित बताया है जो सदैव ज्ञान की ही बातें करता था।⁶

4.2.3.4 धार्मिक जीवन में ज्योतिष की भूमिका

जायसी ने भारतीय धार्मिक जीवन में व्याप्त उन विश्वासों का भी उल्लेख किया है, जो सांस्कृतिक परम्परा के द्योतक हैं, जैसे — अधिकांश भारतीय जन ज्योतिष में विश्वास करते हैं और

1 पद्मावत — 212/1—4

2 पद्मावत — 1—6

3 पद्मावत — 8/1

4 पद्मावत — 39/3—4

5 पद्मावत — 54/8—9

6 पद्मावत — 76/7—9

यात्रा करने से पूर्व ज्योतिषियों से शुभ मुहूर्त निकलवाया करते हैं।¹ इतना ही नहीं, वे यह भी पता लगाया करते हैं कि किस दिन जोगिनी किस दिशा में रहती है, किस दिन कहाँ दिशा शूल होता है और किस दिन किस दिशा में गमन शुभ होता है तथा किस दिन अशुभ? जायसी ने इसी कारण अपने इस काव्य में दिशाशूल, जोगिनी आदि का विस्तृत विवरण दिया है।²

4.2.3.5 धार्मिक पर्वों का उल्लेख

जायसी ने भारतीय पर्व और त्यौहारों का भी वर्णन किया है। ये पर्व एवं त्यौहार भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा के द्योतक हैं और विविध मान्यताओं, धारणाओं, विश्वासों आदि के पोषक हैं जायसी ने इसी कारण श्री पंचमी एवं बसंत पंचमी के पर्व का उल्लेख किया है, जिसमें प्रायः स्त्रियां सुसज्जित होकर शिव-पार्वती का पूजन करने जाती हैं, देव-प्रतिमा को स्नान कराती हैं और चन्दन लगाती हैं।³

4.2.3.6 धर्म साधनाओं की प्रक्रिया और उनकी चेतनागत संसिद्धि

जायसी ने जप-तप एवं साधना के महत्त्व का भी निरूपण किया है और लिखा है कि राजा जोगी बनकर सिंहल द्वीप के समीप एक शिव मंदिर में सिंह चर्म बिछाकर बैठ गया और पद्मावती का जाप करने लगा।⁴ जायसी ने हठयोग की साधना का भी अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है जो भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। जायसी ने लिखा है कि शरीर में नौ इन्द्रिय द्वार हैं और पाँच प्राण उसकी रक्षा करते हैं।

जायसी भारतीय धार्मिक विश्वासों से परिचित थे और वे जानते थे कि यहाँ प्रायः साधकगण अपने-अपने गुरुओं, सिद्धपुरुषों या देवी-देवताओं से ऐसी सिद्धि गुटिका प्राप्त करते रहे हैं, जिनके सहारे वे अगम्य से अगम्य स्थल पर भी सुगमतापूर्वक आ-जा सकते हैं और जिससे तेज चलने या उड़ने की शक्ति भी आ जाती है।⁵

1 पद्मावत - 127/1

2 पद्मावत - 382-383

3 पद्मावत - 183-191

4 पद्मावत - 167/1-2

5 पद्मावत - 217/1-2

इस प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' में मध्ययुगीन धर्म साधना के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था की संरचना का स्वरूप रेखांकित किया है, जिसमें साम्प्रदायिक सौहार्द, जो जीवन में धार्मिक चेतना का संचार करते हुए सामाजिक व्यवस्था का सम्यक् और सुसंस्कृत रूप प्रदान करती है। जायसी धार्मिक व्यवस्था को समाजोन्मुखी संस्कृति की ऐसी चेतना से जोड़ना चाहते हैं जो जीवन के लिये व्यावहारिक हो, जिसमें सभी दृष्टियों का समन्वय हो। जो व्यक्ति और समाज को आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाना चाहती हो। 'पद्मावत' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर आधारित धार्मिक व्यवस्था मध्यकाल के लिये तो प्रासंगिक थी ही, आज भी विश्वस्तर पर सामाजिक व्यवस्था के लिये एक ऐसा दिशा निर्देश देती है, जिससे सुख और शान्ति की ओर मानव समाज जा सकता है।

4.2.4 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के राजनीति व्यवस्थापरक आयाम

जायसी का 'पद्मावत' हिन्दू राज-परिवार और मुसलमान बादशाह के जीवन सद्वर्त्तों को लेकर रची गई रचना है। यद्यपि 'पद्मावत' का कथानक अपने पात्रों के व्यक्तिगत जीवन को केन्द्र में लेकर चलता है, लेकिन इनसे तात्कालिक राजनीतिक व्यवस्था और उसकी चेतना की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

4.2.4.1 राजनीतिक चेतना में सामाजिक मूल्यों का संचार

मध्यकालीन समाज राजनीति व्यवस्था की दृष्टि से सामन्ती व्यवस्था का समाज है। सामन्ती व्यवस्था में सारी शक्ति एक सत्ता में केन्द्रित होते हुए भी उसका लक्ष्य न्याय सगत ढंग से मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना है। पद्मावत में 'सिंहल द्वीप वर्णन खंड' में इसी राजनीति व्यवस्था के दर्शन होते हैं। राजा गन्धर्व सेन के सिंहल द्वीप में (i) पग-पग पर कुएँ और बावड़ी बनी हुई है। उनमें जगत (बैठक कुएँ के ऊपर के स्थान), (ii) और जगह-जगह अनेक कुण्ड हैं। वे सब तीर्थ हैं और उनके नाम भी तीर्थों पर रखे गये हैं। (iii) चारों ओर मठ और मण्डप सुशोभित हैं जिसमें तप करने वाले और तपस्वी आसन लगाए बैठे हैं। (iv) कोई बड़े ऋषि है कोई सन्यासी है कोई सम के भक्त है, कोई महीना भर उपवास करने वाले (मसवासी) हैं। (v) कोई ब्रह्मचर्य मार्ग में लगे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, कोई दिगम्बर होने से नग्न रहते हैं। (vi) किन्ही को

सरस्वती सिद्ध है, कोई जोगी है, कोई किसी निराश प्रेमपात्र के मार्ग में वियोगी बने बैठे है। (vii) कोई महेश्वर है, कोई जगम (शैवों का एक भेद) है और कोई यदि है, कोई देवी की शक्ति साधना द्वारा परखते है। (viii) श्वेत पर जैन साधु (सेवरा), क्षपणक जैन साधु (खेवरा), वानप्रस्थी, सिद्ध, साधक, अवधूत (ix) सब आत्मा और भूतो या शरीर की साधना द्वारा जलाकर आसन लगाये बैठे है।¹

समाज की दृष्टि से कल्याणकारी राज्य वही है, जिसमें राजनीतिक व्यवस्था समाजोन्मुखी हो, जनता की सुख-सुविधा के लिये हो, कल्याणकारी प्रयास किए जाये, साथ ही समाज के हर वर्ग और हर सम्प्रदाय में समान दृष्टि रखते हुए उन्हें एक धारा में ले जाने की क्षमता रखता हो। जायसी 'सिहल द्वीप वर्णन खण्ड' में इसी तरह की व्यवस्था का वर्णन करते हैं।

4.2.4.2 कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से वह राजनीतिक व्यवस्था सर्वोत्तम होती है, जहाँ जनता सुखी हो, भोजन और आवास की व्यवस्था हो, कला, ज्ञान, विज्ञान का विकास हो, आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ हो। जायसी सिहल नगर का वर्णन करते समय इसी तरह सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करते हैं, जिससे समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के राजनीतिक परक आयामों का परिचय मिलता है।

“पुन सिहल नगर बसा हुआ देखा। वह राजा धन्य है, जिसकी ऐसी स्थिति है। वहाँ ऊँचे द्वार और ऊँचे आवास हैं, मानो स्वर्ग में इन्द्र का भवन हो। राजा रक सब अपने अपने घर में सुखी है जिसे देखो वही हसता-मुखी है। बैठने के चबूतरे चदन से बनाए गए हैं, एव अगर भेद और केवड़े से पोते गए हैं। सब चौपालों पर चन्दन के खम्भे लगे हैं। सभापति लोग उन सभाओं में सहारा टेककर बैठे हैं। मानो देवताओं की जुड़ी हुई सभा इन्द्रासन की नगरी अमरावती में देख पड़ती हो। सब ही कलाक्त्त (गुणी), पण्डित और विज्ञ है। बातचीत में सबके मुख से संस्कृत शुद्ध वाणी निकलती है।²

‘फिर सिंह की हाट देखने योग्य है। उसके सब मार्गों में नवो निधियों की सम्पत्ति (लक्ष्मी) है। कनक हाट या सराफा, सब कुँकुम से लिया है, जिसमें सिहल द्वीपी महाजन बैठे हैं, वे चाँदी को

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल सिहल द्वीप वर्णन खण्ड, 35

2 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, सिहल द्वीप वर्णन खण्ड-36, पृ० 42,43

ढालकर हाथ के कडे बनाते हैं, जिनमें अनेक भौंति के विचित्र फूल पत्तियों के कटाव अलंकृत किये गए हैं। उत्तम रत्न माणिक, मोती और हीरो के ढेर लगे हैं। उनसे भौंति-भौंति (अनबन) की ज्योति छिटक रही है। सोने और चाँदी का सर्वत्र फैलाव फैला है। घर के द्वारों को महाजन धवल श्री से पोता हुआ है, (पू) कपूर, खस (बेना), कस्तूरी, चन्दन अगर, सबका वहाँ भंडार भरा है। जिसने इस हाट में कुछ मोल नहीं लिया उसे दूसरे हाट में लाभ कहाँ?¹

‘उस हाट में फूलवाली मालिने फूल ले लेकर बैठी है। सुन्दर पान सजाकर रखे हुए हैं। गन्धी सब प्रकार की सुगन्धि लेकर बैठे हैं। अधिक कपूर डालकर कत्थे की टिकियाँ (खिरौरियाँ) बांधी गई हैं। कहीं पण्डित धर्मग्रन्थ (पुराण) पढ़ रहे हैं और धर्म के मार्ग का बखान कर रहे हैं। कहीं कोई कथा कह रहा है, कहीं बढिया नाच और कौतुक हो रहा है। कहीं छल के हाट में तमाशा लगा हुआ है। कहीं कोई पाखण्डी कुछ ढोंग साधने के लिए कठपुतली नचा रहा है। कहीं नाद की साधना करते हुए सुन्दर शब्द हो रहा है। कहीं नाटक और चेटक की कला हो रही है कहीं कोई मनुष्यों को बौराकर वश में कर लेते हैं।²

4 2 4 3 केन्द्रीय शासन में शक्ति की अवधारणा और सांस्कृतिक संचेतना

समाजोन्मुखी राजनीतिक व्यवस्था के लिये शासन पर शक्तिशाली होना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक न्याय और जीवनपरक मूल्यों की व्यवस्था, बिना शक्तिशाली शासन के नहीं हो सकता। जायसी राजनीति की इस समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना से पूरी तरह परिचित है। ‘सिंहल द्वीप वर्णन’ में वे इसी सचेतना के साथ गढ़ का वर्णन करते हैं। चन्द्र और सूर्य नित्य उस ऊँचे गढ़ को बचाकर चलते हैं, नहीं तो टकरा कर उनका रथ चूर हो जायेगा। नवों द्वार हीरे के बने हैं। प्रत्येक के सामने एक-एक सहस्र पदाति सैनिक बैठे हैं। पाँच कोटपाल उसकी भौरी देते अर्थात् निरीक्षण के लिये घूमते हैं। उस द्वार पर पैर रखते ही जी कॉपने लगता है। द्वार-द्वार पर पाषाण के गढ़े हुये सिंह निकले हुए हैं। उनसे राजा भी डर जाते हैं और उन्हें देखकर खड़े रह जाते हैं। वे बहुत भौंति से गढ़े हुए हैं, मानो वे गरज कर सिर पर चढ़ जाना चाहते हैं। वे पूँछ घुमाते और जीभ निकालते

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड-38, पृ० 43,44

2 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड-38, पृ० 44

है। उनसे हाथी भी डरते हैं कि कहीं गरज कर चट न कर ले। सोने की शिलाएँ गढ़कर सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, जो गढ़ के ऊपर तक जगमगा रही हैं।¹

4.2.4.4 राजनीति में दंड व्यवस्था की सांस्कृतिक संघेतना

जायसी का यह वर्णन राजनीति की उस दंड व्यवस्था की ओर भी संकेत करता है, जिसके पीछे सत्ता की शक्ति और आतंक निहित रहती है। जायसी के 'पद्मावत' में दंड व्यवस्था के पीछे छिपी हुई सांस्कृतिक संघेतना की व्यंजना अन्य स्थलों पर भी दिखाई देती है। 'राघव-चेतन देश निकाला खण्ड' और 'रत्नसेन सूली खण्ड' इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जायसी सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक न्याय को विखण्डित करने वाली प्रवृत्तियों के प्रति सचेत है। सामाजिक मूल्यों और सामाजिक व्यवस्था का विखण्डन मनुष्य की दो प्रवृत्तियों के माध्यम से होता है। एक अतिशय बौद्धिक चतुराई का प्रयोग करते हैं, छल-कपट का सहारा लेते हैं। दूसरे शक्ति का प्रयोग करते हुए बलात् अपने स्वार्थों को पूरा करते हैं। 'राघव चेतन देश निकाल खण्ड' में राजनैतिक सदर्म में पहली प्रवृत्ति में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संघेतना का संचार करते हैं – "राघव चेतन बड़ा बुद्धिमान था। वह चित्तौड़ में आकर राजा रत्नसेन के सिंहासन के निकट पहुँचा। वह मन से विचार करने वाला था और अनेक रहस्य जानता था। व्यास जैसा कवि और सहदेव जैसा पण्डित था।²

"जब अचेत होने की घड़ी आ जाती है तो बुद्धिमान की बुद्धि भी भुला जाती है। एक दिन आया वह अमावस थी। राजा ने पूछा, 'दोयज कब होगी? राघव ने कहा 'आज है। पण्डितों ने कहा – 'महाराज कल है। राजा ने दोनों की ओर घूरकर देखा कि दोनों पण्डितों में कौन मूर्ख है और कौन चतुर है। तब पण्डितों ने शपथपूर्वक कहा, 'यदि हमारा वचन टल जायेगा तो शास्त्र झूठा है (अर्थात् हमने शास्त्र के अनुसार विचार कर कहा है)। राघव यक्षिणी की पूजा करता था। उसके चाहने पर वह किसी भी वस्तु का दूसरा रूप दिखा देती थी। उसका बल होने से राघव ने भी शपथ करके कहा, 'जिसकी बात झूठ होगी वह देश छोड़ देगा।' राघव ने यक्षिणी की पूजा की और साँझ के समय दोयज के चौद के दर्शन करा दिया। जो शास्त्र के मार्ग से नहीं चलते उन्हें वन में भटकना पड़ता है।³

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड-41, पृ० 48,49

2 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, राघव चेतन देश निकाल खण्ड-446, पृ० 559

3 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, राघव चेतन देश निकाल खण्ड-447, पृ० 562

‘पण्डितो ने कहा, ‘हम कभी धोखे में नहीं पड़े। हमारा शास्त्र का विचार कभी मिथ्या नहीं हुआ। यह राघव चेतन उस अगस्त्य के समान है, जिसने समुद्र सोख लिया था। इसके पीछे कोई चमत्कार है।’ वह दिन बीत गया। दूसरी सन्ध्या हुई जब घड़ी पूरी हुई (ठीक समय आया) दोयज ही दिखाई दी। पण्डितो ने राजा को आशीर्वाद दिया, ‘अब सोना और सीसा कस कर देख सकते हैं। यदि वह दोयज कल ही होती तो आज चन्द्रमा में तीज जैसी चमक दिखाई पड़ती। राघव ने कल दृष्टि बाँधने का खेल किया था। सभा को मोहित कर सिर पर जादू डाल दिया था। (इसकी) गुरु लोना चमारिन है। इसने कामरूप देश में टोना शास्त्र सीखा है। जो अमावस्या में दोयज दिखा सकता है। वह किसी दिन चोंद के ग्रसने के लिये राहु भी ले आ सकता है। राजद्वार में ऐसे गुनी की आवश्यकता नहीं जिसे जादू-टोने का ज्ञान हो। इसी प्रकार के छल छद् और ठग विद्या से राजा भोज भी ठगे गये थे।’¹

उपर्युक्त प्रकरण में राजनीति व्यवस्था के सन्दर्भ में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की स्पष्ट व्यञ्जना है कि न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिये समाज से छल, धोखा, ठगना आदि प्रवृत्तियों का दूर होना आवश्यक है। इसलिये पद्मावती का रत्नसेन उसके लिए दंड की व्यवस्था करता है – “आग्यों भई रिसान नरेसू। मारौं काह निसारौ देसू।”²

दण्ड नीति समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का ‘पद्मावत’ में ‘गन्धर्व सेन मन्त्री खण्ड’ और रत्नसेन सूली खण्ड’ में भी दिखाई देती है। राजनीति में दण्ड नीति के पीछे पीछी हुई सांस्कृतिक चेतना का लक्ष्य समाज में ऐसे न्याय की व्यवस्था करना है जिससे जीवन मूल्यों की रक्षा हो। राजनीति में यद्यपि राजा सर्वोपरि हो, लेकिन राजनीति का सांस्कृतिक चेतना उसके निरंकुश होने का समर्थन नहीं करती। उसे व्यवस्था देते समय विवेक का सहारा लेना आवश्यक है। इसीलिये भारतीय राजनीति में प्रारम्भ से ही राजा को सलाह देने के लिये मन्त्री की परम्परा है। जायसी के पद्मावत में राजा गन्धर्व सेन योगी रूप में रत्नसेन दंड देने के लिये मन्त्री से सलाह करता है।

1 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, राघव चेतन देश निकाल खण्ड-448, पृ० 563,64

2 पद्मावत – वासुदेवशरण अग्रवाल, राघव चेतन देश निकाल खण्ड-449, पृ० 564

“राजै सुना जागि गढ चढे। पूँछे पास पडित जो पढे।
जोगी जो गढ सेधि दै आवहि। कहहु सो सबद सिद्धि जेहि पावहि।
कहहि बेद पढि पडित बेदी। जोगी भँवर जस मालति भेदी।
जैसे चोर सेधि सिर मेलहि। तस मे दुवौ जीव पर खेलहि।
पँथ न चलहि बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढि सिखे।
चोरहि होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरी तेहि नहि दोखू।
चोर पुकारि भेद गढ मूँसा। खोलै राज भँडार मँजूसा।

जस भँडार ये मूसहि चढहि रैन दै सधि।

तसचाही पुनि एन्ह कहँ मारहु सूरी बेधि।¹

‘राजा ने सुना कि जोगी गढ पर चढ आए है। उसने पास के शास्त्रज्ञ विद्वानों से पूछा, ‘यदि जोगी सेध लगाकर गढ में घुस आवे तो ऐसा शास्त्र वचन बताइए जिससे वे अपराध का दण्ड—निर्णय पा सकें। वेद के जानने वाले पण्डित वेद के वचन सुनाकर कहने लगे, जोगी उस भौरे के समान होते हैं जो गन्ध के लिये मालती पुष्प भेद डालता है। जैसे चोर सेध में अपना सिर डाल देते हैं, वैसे ही ये दोनों अपने प्राणों पर खेलते हैं। वेद में जैसा लिखा है, उस मार्ग पर ये नहीं चलते। स्वर्ग जाने के लिये ये सूली पर चढ़ना सीखे हैं। चोर को सूली पर पाप से छुटकारा मिल जाता है। अतएव जो सूली देता है, उसे दोष नहीं लगता। चोर हॉक देकर, गढ का भेदन करके चोरी करते हैं और राज भंडार की मजूषा खोल लेते हैं। जैसे ये जोगी भंडार को मूसने के लिये रात में सेध लगाकर चढे हैं, उसके अनुसार तो इन्हे भी सूली से बेधकर मार देना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकरण से दड नीति की एक सांस्कृतिक चेतना की व्यजना होती है। दड नीति का निर्धारण मानव की मनोभूमि, जीवन जीवन शैली और समाज व्यवस्था को सामने रखकर गभीरता से चिन्तन मनन के आधार पर शास्त्रज्ञों ने शास्त्रों में किया है। अपराध के लिये सबके लिये एक से दड की व्यवस्था भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन में नहीं है। जायसी का गन्धर्वसेन में योगी रत्नसेन द्वारा किये गये अपराध के लिये दड निर्णय के लिये मंत्री से इसलिये सलाह लेता है क्योंकि योगी

सामान्य नागरिक नहीं है। उसकी मनोभूमि विशिष्ट साधना से जुड़ी हुई है। यही कारण है कि मंत्री न्यायसगत ठहराते हुए उसे सूली पर चढ़ाने का विधान करता है। राजा एक योगी को दिये जाने वाले दंड के अपराध से, अपराध के दोष से डरता है। इससे व्यजना होती है कि शासन सत्ता निरंकुश नहीं है और दंड विधान भी मनोविज्ञान, धर्म-नीति और सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होना चाहिये।

दंड नीति की एक चेतना यह भी है कि वह समाज के दूसरे लोगों के लिये शिक्षा देने वाली हो। जायसी रत्नसेन के लिये सूली पर चढ़ाने के लिये ऐसे सार्वजनिक स्थल की बात करते हैं जहाँ सभी लोग उसे सूली पर चढ़ता देखने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं —

“बौधि तपा आने जहँ सूरी। जुरे आइ सब सिघल पूरी।”¹

4 2 4 5 शासन की चेतना और सांस्कृतिक संचेतना

राजनीतिक सत्ता, सामाजिक व्यवस्था की नियामक है। लेकिन इसके साथ ही व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों को भुलाकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिससे समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना ह्रासोन्मुखी होती है। जायसी मनुष्य और समाज की इस सोच से पूरी तरह अवगत है। इसलिये वे रत्नसेन को राजनीति चेतना की इस दिशा की ओर सचेत करता है। शासक को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना को बनाये रखने के लिये निरन्तर सजग और सचेत रहना चाहिये। जायसी का रत्नसेन सिघल में चित्तौड़ से सदेश प्राप्त करके इसी राजनीतिक चेतना को स्पष्ट करता है —

राज काज औं भुईं उपाराही। सतुरु भाइ अस कोइ हित नाही।

आपनि आपनि करहि सो लीका। एकहि मारि एक चह टीका।

भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चोंद चलावहु आजू।

राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठएन्हि अब होइ परावा।

उहाँ नियर ढीली सुलतानू। होइहि भोर उठिहि जौ भानू।”²

1 पदमावत — वासुदेवशरण अग्रवाल रत्नसेन सूली खण्ड-260/1

2 पदमावत — वासुदेवशरण अग्रवाल, रत्नसेन विदाई खण्ड-375

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि जायसी सास्कृतिक सचेतना के अन्य आयामों को राजनीति व्यवस्था सबधी आयाम के एक सचेत दृष्टा और सृष्टा थे। वे राजनीति व्यवस्था की उस चेतना की ओर संकेत करते हैं जिसका मूल आधार सामाजिक व्यवस्था है। इस दिशा से प्रेरित राजनीति व्यवस्था मानव जीवन के लिये एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करती है। ऐसा कल्याणकारी राज्य जिसकी शक्ति तो शासन सत्ता में निहित होती है, लेकिन उसका लक्ष्य सम्य सुसंस्कृत सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना है जायसी की समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना की यह दिशा मध्यकालीन शासन व्यवस्था की विसंगतियों को देखने के लिये प्रेरित करती है, साथ ही वर्तमान में राजनीति व्यवस्था की समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना के लिये दिशा निर्देशित बनती है।

प्रस्तुत अध्याय में हम जायसी के पद्मावत में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना के विविध आयामों पर विस्तार से एक शोधपरक दृष्टि का संचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि जायसी की दृष्टि समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना से सम्पन्न थी। उन्होंने मध्यकालीन समाज में समाजोन्मुखी संस्कृति के हास को देखते हुए 'पद्मावत' के माध्यम से सास्कृतिक सचेतना में पुन जीवित करने की कोशिश की है। जायसी की समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना को निष्कर्ष रूप में हम इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं –

- 1 जायसी मानव समाज की व्यवस्था का मूल, परिवार व्यवस्था और उसकी चेतना में देखते हैं।
- 2 जायसी की समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना परिवार को सुसंस्कृत करने के लिये उसे नारी अस्मिता से जोड़ती है।
- 3 जायसी नारी के व्यक्तित्व के सहज विकास के पक्षधर है। वे पुरुष प्रधान समाज में नारी जीवन के साथ लगी हुई वर्जनाओं का समर्थन नहीं करते।
- 4 समाजोन्मुखी सुसंस्कृतिकरण के लिये जायसी परिवार में पुत्र और पुत्री में भेदभाव की भावना नकारते हैं।
- 5 जायसी की समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना कालक्रम के दबाव में बनी हुई नारी की मनोभूमि उसकी अस्मिता के लिये कारण मानते हैं और परिवर्तन को प्रेरणा देते हैं।

- 6 जायसी के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में परिवार चेतना की सांस्कृतिक संचेतना विवाह नामक सस्था है इसलिये वे विवाह की मूल चेतना को विवाह की परम्परा के साथ जोड़ने की प्रेरणा देते हैं।
- 7 जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में कामतत्त्व की भूमिका को नहीं नकारते, लेकिन वे उसे भावना के साथ जोड़कर रचनात्मक संदर्भ में देखना चाहते हैं।
- 8 जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के आधार की एक दिशा मानव का उत्तरदायित्व बोध है। उत्तरदायित्व बोध ही समाज को एक रचनात्मक दृष्टि देता है और यही सामाजिक व्यवस्था की मूल चेतना का पोषक है।
- 9 जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना स्त्री-पुरुष संबंधों का समाजीकरण करती हुई विभिन्न जीवन सदर्थों में उनके आदर्श की प्रतिष्ठा करती है।
- 10 समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की एक दिशा आर्थिक व्यवस्था भी है। जायसी आर्थिक व्यवस्था को मूल्यों पर आधारित देखना चाहते हैं।
- 11 जायसी की दृष्टि सामाजिक व्यवस्था में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की एक विशिष्ट दिशा धार्मिक संचेतना पर भी रही है। जायसी की धार्मिक संचेतना सर्व-धर्म-समभाव को लेकर चलना चाहती है।
- 12 जायसी राजनीति व्यवस्था को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना से सम्पन्न देखना चाहते हैं। वे राजनीति व्यवस्था में सामाजिक हितों की रक्षा के लिये एक न्यायपूर्ण केन्द्रीय शासन शक्ति के पक्षधर हैं।

पंचम अध्याय
जायसी की अन्य रचनायें : समाजोन्मुखी
सांस्कृतिक संचेतना

1. 'अखरावट' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
2. 'कहरानामा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
3. 'मसलानामा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
4. 'आखिरी कलाम' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
5. 'कन्हावत' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना
6. 'चित्ररेखा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

जायसी की अन्य रचनायें : समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

‘पद्मावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के उद्घाटन के पश्चात् अब जायसी की अन्य रचनाओं को भी देखना चाहेंगे। जायसी की अन्य रचनाएँ, स्वरूप की दृष्टि से विविध रूपों में हैं। उनमें से कुछ रचनाओं को सामान्य रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि उनकी काव्य चेतना का सम्बन्ध केवल सूफी-सन्त जायसी से है, सूफी कवि जायसी से नहीं। यदि इन रचनाओं पर गंभीरता से विचार किया जाये तो ये रचनाएँ भी जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना से निपेक्ष नहीं रही हैं।

काव्य, भाव और विचारों की अखण्ड अभिव्यक्ति है। काव्य के अन्तर्गत भाव और विचारों का सम्बन्ध वर्ण्य-विषय से होता है। जिसके आधार पर जायसी की रचना के विविध रूप देखने को मिलते हैं। गत अध्याय में इन रचनाओं का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हुए इनकी वर्णन शैली की रेखाएँ खींचने का एक लघु प्रयास किया गया है। वर्ण्य-विषय के आधार पर जायसी की रचनाओं का स्वरूप जो भी हो, उनमें एक विशिष्ट चेतना का संचार दिखाई देता है जो जायसी के काव्य की एक विशिष्ट पहचान है। हम अनेक स्थानों पर उल्लेख कर चुके हैं कि जायसी के काव्य की आधारभूमि सामाजिक धरातल है। जिस पर आध्यात्मिक जीवन बिम्बों का उन्मेष हुआ है। जायसी की रचनाओं को गंभीरता से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ‘पद्मावत’ के पहले जायसी की अन्य रचनाओं का अनुशीलन करते हुए उनमें संचरित समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के स्वरूप का उद्घाटन करेंगे।

5.1 ‘अखरावट’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

‘अखरावट’ जायसी की एक ऐसी रचना है जिसके कोई कथानक नहीं है। ‘अखरावट’ की स्वरूप संरचना का सामान्य परिचय हम गत अध्याय में दे चुके हैं। इस ग्रन्थ में मलिक मोहम्मद जायसी ने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में जायसी की दृष्टि चाहे कही से भी ऊर्जा ग्रहण करती हो, लेकिन वे उनके प्रतिपादन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की अवहेलना नहीं कर सकते हैं। ‘अखरावट’ में अभिव्यक्त जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना को हम इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं —

5 1 1 स्वरूप बोध द्वारा सामाजिक व्यक्तित्व का विकास

‘अखरावट’ में सृष्टि रचना का प्रकरण आया है। सृष्टि की रचना आदम और हव्वा से शुरू होती है और इसके मूल में शैतान द्वारा हव्वा को प्रेरित करके एक ऐसे फल का खाना बताया गया है, जिससे मूल सवेगात्मक बोध की उत्पत्ति होती है। यह मूल सवेगात्मक बोध ही मनुष्य को सासारिक बनाता है। मूल सवेगो की उत्पत्ति के साथ मनुष्य को पर और अपर का बोध होता है। दूसरे शब्दों में इसे भेद और अभेद की दृष्टि कह सकते हैं। यह भेद दृष्टि हमें शैतान अथवा हमारी पाशविक प्रवृत्ति की प्रेरणा से मिलती है। जायसी इस प्रसंग में मनुष्य को उसके स्वरूप का बोध करा देना चाहता है जिससे वह शैतानी प्रवृत्तियों से निकलकर अभेद दर्शन की ओर जा सके। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया के इस मूल सिद्धान्त में जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना संचरित होती हुई दिखाई देती है।

5 1 2 भावात्मक एकता की स्थापना

सृष्टि प्रक्रिया के इसी सिद्धान्त में जायसी कहते हैं हिन्दू और तुर्क दोनों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई है। जायसी का यह कथन उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की व्यञ्जना करता है। सामान्यतः हर सम्प्रदाय में अपने-अपने सिद्धान्त हैं, ये सिद्धान्त ही समाज को अलग-अलग खण्डों में बाँटकर समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को ह्रास की ओर ले जाते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों की चेतना का लक्ष्य समाज को सुसंस्कृत करते हुए एक अखण्ड वैचारिक चेतना देना है। जायसी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में इसी दृष्टि का पालन करते हुए अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संचार करते हैं। मध्ययुगीन समाज में समाज मूलतः हिन्दू और मुस्लिम दो वर्गों में बाँटा हुआ है। दोनों में ऐसी-ऐसी पार्थक्य रेखाएँ खिंची हुई थी, जो आस्था और विश्वास के आधार पर दोनों को अलग करती हैं जायसी ने इस तथ्य को पहचाना और मध्यकालीन समाज को एक सुसंस्कृत दिशा देनी चाही।

5 1 3 ‘अखरावट’ की दार्शनिकता · समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना

‘अखरावट’ की दार्शनिकता के इस सदर्भ में अनुशीलन के लिये उसे ईश्वर, जगत, माया, साधना आदि शीर्षकों के अन्तर्गत लेकर चलेगे —

5.1.3.1 परमेश्वर का विवेचन : समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

विद्वानों में इस बात पर मतभेद हो सकता है कि जायसी परमेश्वर सम्बन्धी विवेचन इस्लाम से अनुमोदित है या अन्य विचारधाराओं से। इस सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना। हमें तो केवल यह देखना है कि 'अखरावट' में परमेश्वर विवेचन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना का किस रूप में संचार है। 'अखरावट' में जायसी ने परमेश्वर को विभिन्न नामों से अभेद किया है जो वैदिक चिन्तन परम्परा, सिद्ध और नाथों की परम्परा तथा इस्लामिक चिन्तन परम्परा से लिये गये हैं। उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

साई	'साई केरा नावें हिया पूर काया भरी'। ¹
गोसाई	'आदिहु ते जो आदि गोसाई'। ²
ठाकुर	'ऐस जो ठाकुर किय एक दाऊँ'। ³
करतार	'का करतार चहिय अस कीन्हा'। ⁴
कर्ता	'पुनि माया कर्ता के भई'।
खेलार (लीलामय)	'खा खेलार जस है दुह करा'। ⁵
बिधिना	'चा चरित्र जो चाहहु देखा। बूझहु विधिना केर अलेखा'। ⁶
पिउ	'कटु है पिउकर खोज, जो पावा सो मराजिया'। ⁷
कन्त	'कन्त पियारे भेट देखै तूलम तूल होइ'। ⁸

1 अखरावट 1.3, साथ ही द्रष्टव्य 21 10—जायसी

2 वही 1 5

3 वही 3 1

4 वही 7 1

5 वही 8 1

6 अखरावट 12 1 साथ द्रष्टव्य 25 2

7 अखरावट 23 10 — जायसी

8 अखरावट 33 10 — — जायसी

5.1.3.2 सहजयानी सिद्धों और नाथपंथियों की शब्दावली

‘हुता जो सुन्नम सुन्न, नॉव ठॉव ना सुर सबद
तहाँ पाप नहि पुन्नि, मुहम्मद आपुहि आपु महँ।’¹
‘आपु अलग पहिले हुत जहाँ। नॉव न ठॉव न मूरति तहाँ
अलख अकेल सब नहि भौंती। सूरुज चोंद देवस नाहिं राती
आखर सुर नहिं बोल अकारा। अकल कथा का कहो विचारा।’²

‘अखरावट’ में जायसी द्वारा परमेश्वर के विभिन्न नामों का उल्लेख उस समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की व्यंजना करता है जो तात्त्विक निरूपण के आधार पर सर्व-धर्म-सम्भाव की ओर जाती है। उनके लिये हिन्दू चिन्तन परम्परा भी उतनी ही ग्राहीय है जितना इस्लामिक बोध। वह सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी हठयोगियों को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। जायसी की यह चेतना बिखरे हुए मध्यकालीन समाज को एक स्वस्थ सांस्कृतिक चिन्तन दृष्टि देना चाहती है।

5.1.3.3 जगत निरूपण और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

जायसी के मतानुसार यह नाम रूपात्मक दृश्य जगत शांकरिय वेदान्त की तरह भ्रम में ही है। अपितु उस परम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति है।

“आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपुसो कहा।
सबै जगत दरपन के लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि बन औ आपु परवेरु। आपुहि सोजा आपु अहेरु।
आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहि भँवर वास रस भूलै।
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै।”³

जायसी की यह दार्शनिक चेतना मनुष्य की सामाजिक चेतना को एक सांस्कृतिक आधार देती है। जब सम्पूर्ण जगत में वही प्रतिबिम्बित है, तो सारे समाज का सरचनात्मक ढाँचा उससे अलग

1 अखरावट 1 14,15 – जायसी

2 अखरावट 2.1 से 4 – जायसी

3 अखरावट 18.2 से 5,7 – जायसी

कहों। जायसी का यह सोच निर्व्यक्तिकता के आधार पर समाज में समारस्यमयी दृष्टि का विकास करती है। जिसमें प्रेम के लिए तो स्थान है लेकिन द्वेष के लिये नहीं। यह दृष्टि वैयक्तिक कामनाओं का भी निरसन करती है क्योंकि इससे कर्तृत्व बोध का हास होता है। जायसी इसे जगत की उस सत्ता की लीला या खेल मानता है।

‘आदि हिते जो आदि गुसाई। जेइ सब खेल रचा दुनियाई।’¹

‘जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदइ भुवन पूरि सब रहा।।’²

‘सोई साजै अन्तर पट, खेलै आपु अकेल।

वह भला जग सेती, जग भूला ओहि खेल।।’³

खेल के रूप में जागतिक व्यापारों की अवधारणा भारतीय चिन्तन परम्परा में नयी नहीं है। जायसी ने ‘अखरावट’ में इस दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए समाज को निर्व्यक्तिकता की भावना के विकास के लिये प्रेरित किया है। जायसी कहते हैं कि सारा संसार उसकी क्रीड़ा में अपनी वास्तविकता को भूला हुआ है। यथार्थ यह है कि यदि व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था को उसके खेल के रूप में मान लें और अपने को उस खेल के साधन रूप मान लें, तो उसके बहुत से मानसिक विकारों की शान्ति होने के पश्चात् उसे सुसंस्कृत समाज का अंग बना लेगा।

जायसी जगत की परिवर्तनशीलता और उसकी नश्वरता का उल्लेख करते हुए भी समाज को एक सुसंस्कृत दृष्टि देना चाहते हैं –

“पानी मँह जस बुल्ला, तस यह जग उतिराइ।

एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ।।”⁴

“सब जाइहि जो जग मँह होइ। सदा सर बदा अहथिर सोई।।”⁵

1 अखरावट 15, 6 – जायसी

2 अखरावट 15, 6 – जायसी

3 अखरावट 36 10 – जायसी

4 अखरावट 35 8, 9 – जायसी

5 अखरावट 42 5 – जायसी

इन पक्तियों से स्पष्ट है कि जायसी जगत की नश्वरता का बोध कराकर मध्यकालीन समाज की भोग-लालसा को उदासीनता की ओर ले जाना चाहता है। भोग-लालसा मनुष्य की मूल प्रवृत्तिआत्मक दिशा है। इस दिशा की ओर अग्रसर होते हुए व्यक्ति को ऐसी सांस्कृतिक सचेतना की आवश्यकता है, जो उसकी भोग-लालसा को उदासीन कर मर्यादित कर सके। जायसी 'अखरावट' में साधना मार्ग का उल्लेख करते हैं यद्यपि अध्यात्म साधना की ही बात करते हैं। लेकिन उनकी अध्यात्म साधना की प्रक्रिया में सामाजिक जीवन की चेतना स्वतः आ जाती है। समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के मार्ग में अहंकार, काम, क्रोध, मेरे-तेरे की भावना आदि प्रवृत्तियाँ जायसी आध्यात्मिक लक्ष्य की जीवन साधना के लिये इन्हीं प्रवृत्तियों के नियमन की बात करते हैं। वे आहार शुद्ध पर जोर देते हुए सादा भोजन और सादा जीवन की बात करते हैं -

“छाँडहु घिउ और मेंछली मॉसू। सूखे भोजन करहु गरासू।

दूध मॉसू घिउ करू न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू।

एहि बिधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिस्ना मद माया।

तब बैठहु वज्रासन मारी। गहि सुखमना पिगला नारी।

प्रेम ततु तसु लाग रहु, करहु ध्यान चित्त बधि।

पारधि जैसे अहेर कहँ, लागि रहेसर सौंधि।।”¹

इन पक्तियों में जायसी आहार और सादा जीवन के माध्यम से काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया के घटाने की बात करते हैं। जायसी का मानना है कि इन प्रवृत्तियों के क्षय होने से प्रेम का विकास होता है। जायसी के इस कथन से यह स्पष्ट व्यजना है कि अध्यात्म साधना में बाधक प्रवृत्तियाँ जीवन को सुसंस्कृत दिशा नहीं देती। आध्यात्मिक दृष्टि के संचार के साथ जीवन साधना सुसंस्कृत जीवन के विकास में सहायक होती है।

5.2 'कहरानामा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

जायसी की इस कृति के सामान्य परिचय और उसका स्वरूप विश्लेषण पर हम पूर्व अध्याय में विचार कर चुके हैं। 'कहरानामा' एक अन्योक्तिमूलक रचना है। जिसमें कवि ने महरी तथा कहार

1 अखरावट 364 से 9 - जायसी

की कथा द्वारा आध्यात्मिक साधना का प्रतिपादन किया है इस कथा में जायसी महारा-महरी के प्रसंग के माध्यम से जीवन की दिशाओं की ओर संकेत करते हैं जो आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में तो सहायक है ही, साथ ही सामाजिक जीवन में एक संस्कारित चेतना का संचार भी करती है। जायसी 'कहरानामा' में परमेश्वर का भयोत्पादक दारुण रूप प्रस्तुत करके मनुष्य को नियंत्रित करना चाहते हैं। जिससे स्वस्थ समाज के निर्माण की दिशा खुल सके।

“नाहित है ठाकुर, बड दारुन, सुनिकै चारु कुचारी रे।

मारहि बौधि, डौडु पुनि लेइहि, निसरी सब मतवारी रे॥

जबहि सँवरिया आइ तुलाइहि, सौंटे पीठि पर टूटहि रे।

भाई बन्धु गोहारि नहि लागहि, काहु के कहे न छुटहि रे।”¹

5.2.1 'कहरानामा' का कथ्य और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

'कहरानामा' में अभिव्यक्त आध्यात्मिक चिन्तन में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना देखने से पहले हम इसके कथा तत्त्व में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना का अनुशीलन करेंगे। कथा के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन-साधना की अभिव्यक्ति सूफियों की अपनी विशेषता है। इस शैली में कथा के रूप में सामाजिक व्यवस्था और उसमें व्यक्ति की अस्मिता उभरकर आती है। जैसे कि हम उल्लेख कर चुके हैं कि 'कहरानामा' में महारा-महरी की अन्योक्ति मूलक कथा है। महारा, महरी से विवाह करने के लिये बारात को सुसज्जित करता है। महरी अपनी सखियों से सवाद करती है। इस सवाद में नारी अस्मिता और नारी जीवन का आदर्श सामाजिक संरचना के सदर्थ में प्रस्तुत किया गया है — महरी सखियों से कहती है कि पिता के घर थोड़े ही दिन रहना होता है, निर्वाह तो ससुराल में ही होता है। अतः जिस मार्ग पर प्रियतम चलावे, उसी पर हठपूर्वक चलना चाहिए। जिस प्रकार पतिहारिण सखियों से बात करती हुई भी अपना ध्यान सिर पर रखी हुई गागर में लगाए रखती है, उसी प्रकार प्रेमी को चाहिए कि वह ससार के कर्म करता हुआ भी ध्यान प्रियतम में लगावे। प्रेमी का प्रेम अनन्य तथा गुप्त होना चाहिये। उसे प्रकट करने से कोई लाभ नहीं।

1 कहरानामा, 87 से 10 — जायसी

जिसके पास केवट है, उसे कठिनाईयों की कोई चिन्ता नहीं है। जिसे प्रियतम मिलता है उसे ही श्रृंगार शोभा देता है। सखियों महरी से कहती है कि तेरा प्रियतम तेरे पास आ रहा है। अतः तू श्रृंगार कर और अपने स्वरूप को पहचान। तदुपरान्त सखियों अपनी बिछुड़ने वाली सखी के प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है और उसे समझाती है कि तेरा वास्तविक स्थान वही है। अतः वहाँ जाना ही उचित है। महरी सोचती है कि अब तक वह निश्चित थी, किन्तु अब उसे पिता का घर छोड़कर प्रियतम के साथ जाना पड़ेगा। फिर पालकी पर चढ़ाकर प्रियतम उसे अपने देश को ले चलेगा। महरी सोच रही थी कि यह मिलन जितना आनन्ददायक होगा, उतना ही कटु भी।

5.2.2 'कहरानामा' के कथा सूत्र : नारी जीवन की अस्मिता

'कहरानामा' के इन कथा सूत्रों में कवि ने पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था के सदर्थ में नारी की मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक एवं मार्मिक निरूपण किया है। 'पद्मावत' की पद्मावती की तरह 'कहरानामा' की महरी भी नारी जीवन की अस्मिता ससुराल से ही मानकर चलती है। वह पद्मावती की तरह ही ससुराल के भय से शक्ति है। अपनी चिन्ता और आशंका वह केवल सखियों के सम्मुख ही व्यक्त कर सकती है —

“यहि नैहर दिवस चारिक रहना। ससुरे जनम निबाहु रे।”¹

महरी की सखियों महरी को समझाती हैं। जायसी इन सखियों के शब्दों में सामाजिक व्यवस्था के सदर्थ में नारी की अर्थवत्ता की प्रतिष्ठा करना चाहता है। नारी सामाजिक व्यवस्था की मूल धूरी है। जायसी इस तथ्य को पहचानते हैं। सामाजिक जीवन में सांस्कृतिक सचेतना की महत्वपूर्ण दिशा यही है कि नारी पारिवारिक संरचना के लिये भावनाओं के साथ समर्पित है। इसके लिये उसे पुरुष को भावनात्मक संबंधों में बाधना होगा। यह बंधन प्रेम और समर्पण का ही हो सकता है। इसलिये जायसी अप्रस्तुत के रूप में महरी से अपने नारी स्वरूप को पहचान के लिये कहता है, उनकी दृष्टि में नारी स्वरूप की पहचान पति के आकर्षण और उसके लिये पूर्ण समर्पण में है।

1 मलिक मुहम्मद जायसी कृत कहरानामा और मसलानामा, पृ० 88

5.2.3 'कहरानामा' में कवि दृष्टि और जीवन व्यवस्था का आधार

सूफियों की रचनाओं का मूल तत्त्व प्रेम है। संस्कृत के प्रेमाख्यानो की परम्पराएँ असूफी प्रेमाख्यानों में विशुद्ध रूप से सुरक्षित हैं किन्तु सूफी प्रेमाख्यानों में भारत तथा फारस की काव्य परम्पराओं का सम्मिश्रण हुआ है। नारी की अपेक्षा पुरुष का विरह में तड़पना फारसी प्रेमाख्यान के अनुरूप है। इसी प्रकार सूफी प्रेमाख्यान का दुखान्त होना भारतीय परम्परा के प्रतिकूल है। प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमपरक जैन-काव्यों का प्रधान ध्येय लौकिक प्रेम की सारहीनता दिखाकर वैराग्य की महत्त्वपूर्ण स्थापना है। इस प्रकार अपनी मूल प्रेरणा की दृष्टि से ये काव्य सूफी प्रेमाख्यानों से पूर्णतः भिन्न हैं। सूफी काव्यों में लौकिक प्रेम (इश्के-मजाजी) को अलौकिक प्रेम (इश्के-हकीकी) का सोपान कहा जाता है। साथ ही लौकिक प्रेम के माध्यम से सूफी-साधना की अभिव्यक्ति की गई है। इस प्रकार जैन-काव्य को वैराग्य परक कहना ही समीचीन है। इन्हें प्रेमाख्यान की सज्ञा देना तर्कसंगत नहीं है। डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव ने कथानक रूढ़ियों की समानता के आधार पर अपभ्रंश के चरित-काव्यों तथा हिन्दी-सूफी-प्रेमाख्यान का साम्य दर्शाया है। काव्य रूढ़ियों के इस बाह्य साम्य का कारण वस्तुतः वे परम्परागत भारतीय लोक-गाथाएँ हैं जो अपभ्रंश तथा सूफी दोनों कवियों ने आधार रूप में ग्रहण की हैं। इन लोकगाथाओं को आधार रूप में ग्रहण करने में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोजन निहित है और वह है जनसाधारण को अधिकाधिक अपनी ओर आकर्षित करना। जायसी ने इसी प्रेम चेतना को जीवन व्यवस्था का आधार बनाकर काव्य रचना की है। 'कहरानामा' उसी की एक कड़ी है।

जायसी की इस रचना से यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि वे सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था को प्रेम का आधार देकर शुद्ध और सात्त्विक रूप देना चाहते हैं। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को अनेक निष्ठता से बचाते हुए एक निष्ठा की ओर ले जाकर मूल प्रवृत्तियों से मुक्त करना चाहते हैं। यही जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना है। जायसी समाजोन्मुखी संस्कारों में प्रेम को अत्यधिक प्रश्रय देते हैं। उनकी पक्तियों से स्पष्ट व्यंजना होती है कि सामाजिक व्यवस्था के लिये स्त्री-पुरुष दोनों का उत्तरदायित्व अनिवार्य है। यह उत्तरदायित्व की भावना ऊपर से थोपी हुई नहीं हो सकती। यह भावना प्रेम की पगडंडी से होकर जाती है। इसीलिए जायसी महरी के लिये प्रेम, समर्पण, एकनिष्ठा के साथ पतिग्रह से जुड़ने की अनुशंसा करते हैं। लेकिन साथ ही महरा के रूप में पुरुष के आदर्श की व्यंजना करते हैं। महरी अपने प्रिय महरा के बारे में कहती है -

“प्रिय बड देवक, जेहि सब सेवक, अरु देवन्ह को देवा रे।”¹

जित जग आहे, तित मुख चाहे, निबहै वोहिकै निवाहे रे।”²

प्रिय ऐसा हो तभी प्रेम राज्य में प्रवेश करने की स्थिति बन सकती है। प्रेम तो परस्पर सापेक्ष होता है। जायसी सामाजिक व्यवस्था में प्रेम के आदर्श को पति-पत्नि का पर्यार्य बना देना चाहते हैं और प्रेम राज्य में प्रवेश की बात करते हैं –

“प्रेम राज जो करहु पिआई, साथी पाँच सँमारेहु रे।

बरजत रहेहु होइ जनि करकस, गरिहउ करि झिझकारेहु रे।।

मनुवहि कहेहु रहे मनु मारे, खीझेहु खीझ न बोलै रे।

मन ते मीत मितार्इ ना छोडै, कबौ गॉठि ना खोलै रे।।”³

5 2 4 आध्यात्मिक साधना में व्यंजित समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

सूफी कवि जायसी के काव्य में अभिव्यक्त साधना सूफियों के आध्यात्मिक जगत की अनुभूति की यात्रा की व्यंजना है। आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति कार्य-करण के रूप में इस लौकिक जगत् से जुड़ी हुई है। आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति की भावना हमारे इस लौकिक जीवन में कर्मों को नियंत्रित करती है। लौकिक जीवन के कर्मों को नियंत्रित करने की चेतना जायसी के साधना विवेचन में स्पष्ट दिखाई देती है – “जिनके पास पुण्य कर्मों की पूजा है उन्हें केवट ने नाव चढ़ा लिया है। जिनकी गॉठ खाली है वे इस पार खड़े होकर केवट को पुकारते हैं, किन्तु केवट से पहचान नहीं और गॉठ में पूजा नहीं ऐसी स्थिति में नाव पर चढ़ना और पार होना कैसे सम्भव है? माता-पिता, भाई, बन्धु इस समय कोई सहायक नहीं हो सकते। इसलिये जायसी उपदेश देते हैं कि ऐसा कुछ कर लो जिससे कि भवसागर पार करने में सुविधा हो, अन्यथा मझधार में डूब जाओगे।”⁴

5 2 5 आत्म-साक्षात्कार और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

जायसी अपने जगत सम्बन्धी विवेचन में आत्म साक्षात्कार के मार्ग का निर्देश देते हैं। यह आत्म साक्षात्कार का मार्ग जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में आत्म-विश्लेषण और जीवन

1 कहरानामा 13 1 – जायसी

2 कहरानामा 13 3 – जायसी

3 कहरानामा 8 1 से 4 – जायसी

4 कहरानामा छन्द 2 – जायसी

विश्लेषण की ओर अग्रसर करता है। जायसी कहते हैं कि इस द्वैतयुक्त जगत में दक्षिण और वाम का भेद समझकर स्वयं को पहचानना चाहिये —

“कहै महंमद जुग दुई सोऊ, अहै लोक दुइ जानेहु रे।

दाहिन बाँउ बूझि दुइ बेवरा, आपु आपु पहिचानेहु रे।।”¹

‘प्रकाश और अन्धकार के सन्धि-स्थल पर स्थित यह मानो एक युद्ध क्षेत्र बना हुआ रहता है। एक ओर तो वह परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये खुला रहता है तो दूसरी ओर इन्द्रिय जनित माया मरीचिका का प्रवेश होने देता है।’² जायसी समभवतः इसीलिये कहते हैं कि दक्षिण-वाम, प्रकाश-अधकार, सद्वृत्ति-कुवृत्ति को परखो और इस प्रकार आत्म साक्षात्कार का मार्ग परिष्कृत करो। जायसी की यह अवधारणा एक ऐसी दृष्टि प्रदान करती है जो सामाजिक जीवन को सस्कारित करने के लिए प्रेरणा और दिशा देती है। आत्म-साक्षात्कार ही जीवन के संस्कार का पहला चरण है। सत् और असत् को बीच रखकर अपने स्वरूप को देखना और उसके आधार पर सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करना समाजोन्मुखी संस्कृति की सचेतना को प्रस्तुत करता है।

5.2.6 धार्मिक भावना का सुसंस्कृतीकरण

धार्मिक क्षेत्र, शास्त्र और बाह्याचार यदि अपनी चेतना के साथ समाज में होते हैं तो वे व्यक्ति और समाज को सस्कारित करते हैं लेकिन वे भावना शून्य हो जाते हैं तो इनकी भूमिका निरर्थक होने लगती है। मध्ययुगीन समाज में शास्त्र और धार्मिक आचारों में यही स्थिति है। जायसी ने इसको पहचाना और धार्मिक क्षेत्र में इनकी निरर्थकता को सिद्ध करते हुए प्रेम भावना के रूप में सांस्कृतिक सचेतना का संचार किया। ‘कहरानामा’ के अन्तिम छन्द में जायसी लिखते हैं कि वेद, पुराण, भागवत, गीता, तत्र, मत्र सब व्यर्थ हैं। जप, तप, व्रत, पूजा-पाठ, तीर्थ, सध्या सब कुछ करके छोड़ दिया और प्रत्यक्ष देख लिया कि इनसे कोई लाभ नहीं होता। तब इश्क का पथ अपनाया और उसी में ध्यान केन्द्रित किया।

1 कहरानामा, 11 13, 14 — जायसी

2 रामपूजन तिवारी, सूफी मत साधना और साहित्य, पृष्ठ 284

“वेद पुरान, भागवत गीता, तंत्र मंत्र सब जानेहु रे।

यामे सार इस्क पथ जानेहु, अउर कहावत मानेहु रे।।”¹

“जप तप, बरत, पाट औ तीरथ, संध्या करि सब छाड़ा रे।

भयो न फल कहु आँखिन देखा, तब इसकै मन जाड़ा रे।।”²

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘कहरानामा’ की संरचना की पृष्ठभूमि के रूप में जायसी की चेतना पर भारतीय संस्कृति की नियामक और प्रेरक विभिन्न धर्म साधना में अपनी चेतनाओं के साथ मौजूद है। जायसी इन सभी से ऊर्जा लेकर इन धर्म साधनाओं को आध्यात्मिक साधनाओं से समन्वित करते हुए एक जीवन साधना का निर्माण करते हैं जो समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के साक्षात्कार के लिये भी द्वार खोलती है।

5.3 ‘मसलानामा’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

‘मसलानामा’ जायसी की अवधी में प्रचलित लोकोक्तियों के आधार पर रचित एक सुंदर काव्यकृति है। इस रचना में कवि ने लोकोक्तियों को आधार बनाकर अपने जीवन दर्शन का निरूपण किया है। ‘मसलानामा’ में यद्यपि जायसी की काव्य चेतना का अहम् पक्ष ‘प्रेम साधना’ ही किसी ने किसी रूप में अभिव्यक्त है। जीवन की सार्थकता जायसी को ईश्वर के साक्षात्कार में दिखाई देती है, जो सांसारिक उदासीनता की प्रेरक बनती है। जायसी के काव्य में चाहे आध्यात्मिक प्रेम हो या लौकिक प्रेम हो, दोनों ही मनुष्य के सामाजिक विकास में सहायक होते हैं। जायसी ने ‘मसलानामा’ में आध्यात्मिक प्रेम का सदर्थ देते हुए जिन दिशाओं का उद्घाटन किया है, वे समाज में समरसता लाने में समर्थ दिखाई देती है। इस रचना में कवि ने लोकोक्तियों को आधार बनाकर अपने जिस जीवन दर्शन का निरूपण किया है वह सामाजिक मूल्यों का पक्षधर है। सामाजिक जीवन मूल्यों के निरूपण के लिये कवि ने उन विषयों को आधार बनाया है जो जीवन सतोष, परोपकार, विवेक की ओर ले जाते हुए एक व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। इस रचना में कवि ने जीवन की नश्वरता, पुण्य—पाप, परोपकार, मानव—प्रकृति, प्रेम—साधना, कर्म पतिव्रता और भाग्यवाद में निरूपण किया है। कहीं—कहीं इस रचना में अन्धविश्वास का खण्डन भी मिलता है।

1 कहरानामा – 253, 4 – जायसी

2 कहरानामा – 257,8 – जायसी

5 3 1 'मसलानामा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति की दिशाएँ और तत्त्व

'मसलानामा' में जायसी ने जिन जीवन सदर्थों को लिया है। वे जीवन की विसंगतियों की ओर तो संकेत करते ही हैं साथ ही एक सुसंस्कृत समाज के निर्माण को दिशा निर्देश भी देते हैं। समाजोन्मुखी संस्कृति के सदर्थ में विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि मानवीय वृत्तियों पर सामाजिक सदर्थों में उदात्तीकरण की दिशाये हैं। ये दिशाये जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व की रेखाये खींचती हैं, वही एक सुसंस्कृत सामाजिक व्यवस्था के लिये आधार प्रदान करती हैं। धर्म और अध्यात्म में समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास की एक प्रमुख आधारशिला है। धर्म और संस्कृति का तत्त्व चिन्तन मनुष्य और उसकी वृत्तियों के सदर्थ में होता है। जायसी 'मसलानामा' में इसी तथ्य को आधार बना करके अपनी अनुभूति को सैद्धान्तिक आधार देना चाहते हैं। 'मसलानामा' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी संस्कृति को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

5 3 1 1 जीवन की सार्थकता

मानव—जीवन की सार्थकता विचारको, दार्शनिकों और कवियों के चिन्तन का विषय रहा है। सामान्यतः जीवन की सार्थकता, विषय भोग और सकीर्ण जीवन दृष्टि में ना मानकर उदात्त जीवन दृष्टि में मानते हैं। यह उदात्त जीवन दृष्टि मनुष्य को विषयों से निकालकर ईश्वरीय सत्ता के प्रति प्रेम की ओर उन्मुख करती है। 'मसलानामा' में जायसी मानव जीवन की सार्थकता ईश्वरीय प्रेम में देखते हैं। उनका मानना है कि यह मानव—जीवन बड़े सयोग से मिलता है। इसका यदि उपयोग सही सदर्थ में नहीं किया गया तो जीवन निरर्थक हो जाता है। 'मसलानामा' की यह पक्तियाँ जीवन सदर्थ में जायसी का यही संदेश देती हैं —

अब साईं सो नेह करू फेरि न यह सजोग ।

कोल्हू से खरि ऊतरी रही बैल के जोग ।" मसलानामा, पृ० 101

तथा

बहुरि न बनि है कहत कहु जब लागिहि सिर चोट ।

अब यह सब एक ठौर है, दूध कटोरा बोट ।। मसलानामा, पृ० 106

एवम्

“देवस गवायों बांढ़ि सब, सांझ चले उठि बाट ।

जैसे कुत्ता धोबि का, भयो न घर का घाट ।।” मसलानामा, पृ० 106

उपर्युक्त पंक्तियाँ आध्यात्मिक प्रेम साधना की ओर संकेत तो करती ही हैं, साथ ही अपनी इस प्रेम चेतना के साथ समाज में प्रेम की व्याप्ति और दुष्ट प्रवृत्तियों के त्याग की ओर भी संकेत करती हैं। जो समाजोन्मुखी संस्कृति के आधारभूत तत्त्व हैं।

5.3.1.2 अनासक्त कर्म योग

‘मसलानामा’ में कवि एक ओर माया की भर्त्सना करता है दूसरी ओर मनुष्य को कर्तव्य करने के लिये प्रेरित करता है। ‘मसलानामा’ में जायसी मानव मन का विश्लेषण करते हुए पहले उसे उसके स्वरूप का बोध कराते हैं।

“रूप निरजन छौंड़ि कै, माया देखि लोभाई ।

कुत्ता चौक चढ़ाइये, चाकी चाटन जाइ ।।” मसलानामा, पृ० 102

समाज में मनुष्य सामान्य रूप से कर्म फल पर दृष्टि रखते हैं। जायसी को कर्मफल से अधिक कर्म पर दृष्टि रखना अधिक स्वीकार है। वे जानते हैं कि समाज फल कमजोरों को नहीं भी लेने दिया जाता है लेकिन फिर भी व्यक्ति कर्म का समर्थन करता है –

“करनी करहु, रहहु जन वैसि । जिसकी लाठी तिसकी भैंस ।

करि ले आसु अहै जो करना । धध छौंड़ि आखिर है मरना ।।” मसलानामा, पृ० 103

जायसी का उपर्युक्त पक्तियों में दिया गया यह कर्म सिद्धान्त समाज को एक ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जो उसे सतोष और सहिष्णुता के साथ रचनात्मक दृष्टि प्रदान करता है। जायसी की यह जीवन दृष्टि हमें अन्य सतों के काव्य में भी मिलती है।¹

1 काल करै सो आजु करि, आजु करै सो अब्ब ।

पल में परलै होयगी, बहुरि करोगे कबब ।। – कबीर

5 3 1 3 सामाजिकता का समर्थन

मानव समाज में सामाजिकता एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराता है। मनुष्य जब अपनी प्रवृत्तियों के शोधन के द्वारा दूसरों को अपने जीवन का अंग बनाता है तब वह समाज का अंग बन जाता है। दान देना, त्याग की भावना आदि ऐसे गुण हैं जिनका विकास सामाजिकता पर है। जायसी का 'मसलानामा' इन प्रवृत्तियों का खुलकर समर्थन करता है। जायसी का मानना है कि 'ससार में रहते हुए जो कुछ दान कर दो वही अपना है -

“खाहु खवावहु, देहु कुछ, नेक न करहु विचार।

आगि लगे ते झोपरा, जो निकसे सो सार।” मसलानामा, पृ० 104

5 3 1 4 सामाजिक जीवन मूल्यों का विद्यातक तत्त्वों का निषेध

मनुष्य की मनोसरचना बड़ी जटिल है। इसका निर्माण ऐसे तत्त्वों के द्वारा हुआ है जो ऐसी प्रवृत्तियों का विकास करते हैं जो समाज के लिये विद्यातक सिद्ध होते हैं। समाजोन्मुखी संस्कृति के विकास के लिये इन प्रवृत्तियों का निषेध और वर्जना अनिवार्य है। जायसी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं उनके 'मसलानामा' में उनकी दृष्टि हमें इस तरह स्पष्ट करके देती है। उदाहरण के लिये 'मसलामाना' में अभिव्यक्त इन प्रवृत्तियों को ले सकते हैं -

5 3 1 4 1 यौवन का अहंकार

मानव जीवन में यौवन की अवस्था मनुष्य को विवेक शून्य बना देती है। इस अवस्था में वह अपने को सर्वसमर्थ मानता हुआ अहंकार में डूबा रहता है जिससे समाजोन्मुखी संस्कृति का हास होने लगता है। समाज के सांस्कृतिक आयाम अधिकतर यौवन की उद्गम भावना के साथ ही डूबते हैं। जायसी संदेश देते हैं कि यौवन के गर्व में नहीं भूले रहना चाहिये।

“जोबन-गरब न भूलसि, नेह नाह को राख।

दिना चार की चौदनी, फिरि अधियारा पाख।।” - मसलानामा, पृ० 105

5 3 1 4 2 क्रोध का निषेध

मानवीय मनोसरचना में क्रोध एक ऐसा तत्त्व है जो सृजनशीलता और प्रेम का विरोधी है। यह क्रोध ही है जो मानवीय विवेक को शून्य करके उसे इस तरह प्रेरित करता है जिसका कोई परिणाम

नहीं निकलता। क्रोध व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विनाश तो करता ही है साथ ही समाज की सहज रचनाशील धारा पर भी प्रहार करता है। जायसी का 'मसलानामा' स्पष्ट संदेश देता है कि क्रोध करना व्यर्थ है उसका कोई परिणाम नहीं निकलता।

“कीन्हे क्रोध न आवै हाथे। छूँछा घाउ, निहाई मार्य।” – मसलानामा, पृ० 109

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि जायसी की रचनाओं में 'मसलानामा' भी एक ऐसी कड़ी है जो उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को श्रृंखलाबद्ध करते हुए आगे बढ़ती है। इस रचना में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के ऐसे बिन्दु स्पष्ट दिखाई देते हैं जो एक सुसंस्कृत समाज के निर्माण के लिये मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की दिशा का संकेत देती हैं।

5.4 'आखिरी कलाम' में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना

'आखिरी कलाम' जायसी की इस्लाम के विश्वासों पर आधारित सम्प्रदाय की विशिष्ट चेतना पर आधारित काव्य रचना है। इस कृति का मूलधार इस्लाम धर्म का कयामत सम्बन्धी विश्वास है। ईसाई, यहूदी तथा इस्लाम धर्मावलम्बियों की यह आस्था है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के बाद इस दिन (कयामत) की प्रतीक्षा करता है। महा-प्रलय के बाद कयामत के दिन ईश्वर के सम्मुख समस्त प्राणियों को उपस्थित होना पड़ता है। वहाँ उनके पाप-पुण्य कर्मों का लेखा-जोखा होता है। ईश्वर उनके कृत्यों के अनुसार उन्हें नरक अथवा स्वर्ग में भेजता है। इस्लाम धर्मानुयायियों का यह विश्वास है कि मुहम्मद साहब उस दिन अपने अनुयायियों के पाप क्षमा करवा, उन्हें स्वर्ग प्रदान करवा देंगे।

5.4.1 'आखिरी कलाम' का वर्ण्य विषय और समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना

5.4.1.1 उम्मत का न्याय

'आखिरी कलाम' के वर्ण्य विषय में इस लौकिक जीवन के पाप और पुण्य कर्मों के आधार पर उम्मत के न्याय की बात कही है। इस जन्म के कर्मों के आधार पर स्वर्ग और नरक की अवधारणा है। इस अवधारणा का मृत्यु के पश्चात् के जीवन का विश्वास कुछ भी हो, लेकिन इतना तो अवश्य है कि स्वर्ग का लालच और नरक का भय मनुष्य के सामाजिक जीवन को नियंत्रित करता है।

जायसी का 'आखिरी कलाम' सामाजिक जीवन की इसी सांस्कृतिक सचेतना का संचार करता है। इस कृति की रचना के पीछे जायसी का लक्ष्य कुछ भी रहा हो, लेकिन इससे व्यंजित समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना को नकारा नहीं जा सकता। 'आखिरी कलाम' में स्वर्ग और नरक से सुख-दुःखों का ऐसा वर्णन है कि वहाँ मिलने वाले सुख की परिकल्पना भौतिक सुखों की चरम सीमा पर ले जाती है।¹ वहाँ मिलने वाले कष्टों की अवधारणा से व्यक्ति की रूढ़ि काँप जाती है। इस प्रकार यह वर्णन सांस्कृतिक चेतना के बिम्ब स्थापन के लिए एक मनोवैज्ञानिक प्रयास है। इसकी पुष्टि के लिए निम्न पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

“पुनि कस होइहि दिवस छ मासू। सूरज आइ तपहि होइ पासू।
 कै सउहैं नियरे रथ हाकैं। तेहिकैं आँच गूद सिर पाकैं।
 बजरागिन अस लागै तैसे। बिलख लोग पियासन बैसे।
 उनै अगिन अस बरसै धामू। भूँज देइ, जरि आवै चामू।
 जेइ किछु धरम कीन्ह जग याहों। तेहि सिर पर किछु आवै छाहों।
 धरमिहि आनि पियाउब पानी। पापी बपुरहि छँह न पानी।
 जो राजता सो काज न आवै। इहाँ कदीन्ह उहाँ सो पावै।
 जो लखपती कहावै, लहै न कौडी आधि।
 चौदह धजा 'मुहम्मद' ठाढ़ करहि सब बँधि।।”²

उम्मत के सदस्य में जायसी सामाजिक सबंधों की निस्सारता पर प्रकाश डालता है। 'आखिरी कलाम' में जायसी का यह विश्लेषण मानव-जीवन के लिये प्रेरणादायी है। जिसका आशय है कि इस जीवन में हम जिनके लिये कुछ भी करने को तैयार हैं वे वहाँ हमें नहीं पहचानते। इसलिये कोई भी कार्य करते समय उचित-अनुचित का विचार त्यागकर सबंध निरपेक्ष होना चाहिये। व्यक्ति का स्वभाव ही है केवल अपने में सीमित रहना। जायसी उस आखिरी न्याय के दिन केवल अपने किये गये कर्म का ही महत्त्व बताना चाहता है। जायसी की इस सचेतना से समाज में न्यायपूर्ण मार्ग के

1 तहाँ न मीचू, न नीद, दुख, रह न देह मँहँ रोग।
 सदा, आनन्द 'मुहम्मद', सब सुख माने भोग।।

2 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 285

अपनाने की दिशा मिलती है। जायसी का मानना कि उस दिन (न्याय के दिन) कोई किसी का नहीं और पाप नहीं छिप पायेंगे –

“पुनि सब उम्मत लेब बुलाई। हरु गरु लागब बहिराई।
निरखि रहौती काढब छानी। करब निनार दूध औ पानी।
बाप क पूत, न पूत क बापू। पाइहि तहाँ न पुनि न पापू।
आपहि आप आइकै परी। कोउ न कोउ क धरहरि करी।
काराज काढ़ि लेब सब लेखा। दुख सुख जो पिरथिरी मँ देखे।
पुनि पियाला लेखा मोंगब। उतर देत उन पानी खोंगब।
नैन क देखा स्रवन क सुना। कहब, करब, औगुन औ गुना।।”¹

इन पक्तियों में जायसी समाज की विसंगति का वर्णन करते हैं। प्रलय के अवसर पर यह वर्णन समाज में असत् के प्रसार का वर्णन है। जब समाज में असत् का प्रचार हो जाता है। तब विनाश होता है और समाज का विकास रुक जाता है। जायसी धार्मिक आस्था के आधार पर समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की व्यंजना करता है।

5.4.1.2 बीबी फातिमा और हसन-हुसैन का प्रकरण

‘आखिरी कलाम’ में बीबी फातिमा और हसन-हुसैन का प्रकरण आया है। बीबी फातिमा प्रकरण समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की विश्वास परक व्यंजना है। यह अन्याय के प्रति ईश्वरीय क्रोध और फातिमा के आक्रोश की बात करके सामाजिक व्यवस्था को विश्लेषित करने की दृष्टि प्रदान करता है। बीबी फातिमा यजीद द्वारा हसन हुसैन के वध का न्याय मांगती है। वे कहती हैं मेरे दोनों बालक हसन-हुसैन को किस अपराध के कारण यजीद ने मारा था—

“हसन हुसेन दुवौ मोर बारे। दुनहु यजीद कौन गुन मारे?
पहले मोर नियाव निबारू। तेहि पाछ जेतना संसारू।
समुझे जीउ आगि मँ दहजँ। देहु दादि तौ चुप के रहजँ।
नाहि त देउ सराप रिसाई। मारौ आहि अर्श जरि जाई।”²

1 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 288

2 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 287

बीबी फातिमा उम्मत के मोक्ष को तभी स्वीकारती है जब सभी का कल्याण हो। रसूल उनको बार-बार समझाते हैं लेकिन वे अपने क्रोध को बड़ी मुश्किल से छोड़ती है –

“पुनि रसूल तलफत तह जैहै। बीबिहि बार-बार समुझैहैं।
 बीबी कहव धाम कत सहहू? कस ना बैठि छाह मँ रहह।
 ‘सब पैगंबर बैठे छाहों। तुम कस तपौ बजर अस माहों?
 कहब रसूल, छौह का बैठो? उमत लागि धूपहु नहिं बैठों।
 तिन्ह सब बाँधि धाम महमेले। का भा मोरे छाह अकेले।
 ‘तुम्हरे कोह सबहि जो मरै। समुझहु जीउ, तबहि निस्तरे।
 जो मोहि चहौ निवारहु कोहु। तब बिधि करै उमत पर छोहू।
 बहु दुख देखि पिता कर, बीबी समुझा जीउ।
 जाइ मुहम्मद बिनवा, ठाढ़ पाग कै गीउ।
 तब रसूल के कहें भइ माया। जिन चिता मानहु, भइ दाया।
 जौ बीबी अबहूँ रिसियाई। सबहि उमत सिर आइ बिसाइ।
 अब फातिम कहँ बेगि बोलावहु। देइ दाद तौ उमत छोड़ावहु।
 फातिम आइकै पार लगावा। धरि यजीद दोजख मह गवा।”¹

अन्य रचनाओं की तरह ‘आखिरी कलाम’ में भी जायसी दैव को इस संसार का निर्माता और विशिष्ट दाता के रूप में देखते हैं –

पहिले नावें दैउ कर लीन्हा। जेइ जिउ दीन्ह, बोल मुख कीन्हा²

जायसी द्वारा उस विधाता को इस प्रकार तात्त्विक विश्लेषण के माध्यम से विशिष्ट जीवन सदर्थों से जोड़ा गया है। सभी जीवन सदर्थ और उसकी भोक्ता इन्द्रियाँ जब उसी विधाता की देन हैं तो मनुष्य को समाज में कर्तृत्व बोध के लिए अवकाश कहाँ? इस प्रकार जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना इस आधार दृष्टि के साथ मनुष्य के अहम् का निरसन करती है। मनुष्य का

1 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 289

2 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 276

अहकार ही समाज की अनेक बुराईयो को जन्म देता है और अहकार वही जन्म लेता है जहाँ मनुष्य अपने को कर्ता मानने लगता है। इसलिये जायसी कहते हैं –

“अति सुख दीन्ह बिधातै, औ सब सेवक ताहि।

आपन मरम ‘मुहम्मद’, अबहुँ समुझ कि नाहि।।”¹

‘आखिरी कलाम’ रचना के पीछे जायसी इस संसार की विषमता और विसगति को मूल कारण मानते हैं।

“नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।

देखौ जगत धुँध कलि माहों। उवत धूप धरि आवत छाहों।

यह ससार पवन कर लेखा। मोंगत बदन नैन भरि देखा।

लाभ, दिए बिनु भोग न पाउब पारिहि डोंढ जहँ मूर गवाउब।

राति क सपन जागि पछिताना। ना जानौ कब होइ बिहाना।

अस मन जानि बेसाहहु सोई। मूर न घटै लाभ जेहि होई।।”²

‘आखिरी कलाम’ की ये पक्तियाँ जायसी ने भले ही कयामत के सदर्म में लिखी हों, लेकिन सामाजिक सदर्म में जीवन के स्वरूप का भी विश्लेषण करती है जो जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की परिचायक है। जायसी की यह सचेतना और भी स्पष्ट रूप से निम्न पक्तियों में देखी जा सकती है।

“जबहि अत कर परलै आई। धरमी लोग रहै ना पाई।

जबही सिद्ध साधु गए पारा। तबही चलै चोर बटपारा।

जाइहि मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आइहि बेरा।

उठिहै पड़ित वेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहि पयाना।

धूम बरन सूरुज होइ जाई। कृस्न बरन सब सिष्टि दिखाई।।”³

1 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 276

2 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 279

3 आखिरी कलाम, जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 280

उपर्युक्त पक्तियाँ आस्था प्रधान सामाजिक सचेतना को व्यक्त करती हैं। यह सचेतना उन सभी कवियों के कार्य में दिखाई देती है जो आध्यात्मिक संचार के साथ समाज की स्वरूप संरचना में देखना चाहती हैं। तुलसी के रामचरित मानस में उत्तर काण्ड में कलियुग के सदर्भ में यही सामाजिक सचेतना दिखाई देती है। वहाँ भी समाज की विसंगतियों और विषमताओं का वर्णन है —

“ब्रह्म गयान बितु नारि नर कहहि न दूसरि बात ।

कौडी लागि लोभ बस करहि विप्र गुर घात ।”¹

तुलसीदास की यह सामाजिक सचेतना उनके युग की चेतना थी। जायसी जीवन के परिणामी रूप में इस सचेतना को व्यक्त करते हैं। जायसी की यह सामाजिक सचेतना पुराणों में भी स्पष्ट देखी जा सकती है। गरुड पुराण इसी सचेतना को बड़े विस्तार से व्यक्त करता है।

‘आखिरी कलाम’ की धार्मिक—सदर्भ में महत्ता कुछ भी हो, लेकिन इसकी सामाजिक सचेतना की समझ को लौकिक जीवन सदर्भों में नकारा नहीं जा सकता। जायसी इसके माध्यम से समाज को ऐसी प्रेरणा देना चाहते हैं। जिससे समाज में जीवन मूल्यों की स्थापना हो और भविष्य की आकांक्षा से व्यक्ति का वर्तमान जीवन नियंत्रित हो सके।

5.5 ‘कन्हावत’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना

जायसी की रचनाओं में ‘कन्हावत’ के सन्दर्भ में यह स्थिति अभी तक पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि कन्हावत जायसी की रचना है भी या नहीं। प्रस्तुत शोध में हमारा लक्ष्य ‘कन्हावत’ की प्रामाणिकता पर विचार करना नहीं है। वैसे जायसी की अन्य रचनाओं से प्राप्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का संचार ‘कन्हावत’ में उसी रूप में दिखाई देता है जिससे उसकी प्रामाणिकता के लिये भी एक आधार मिल सकता है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक रचना लोक मानस में व्याप्त गीतों और कहानियों से लिये हुए कथानकों से बनी हुई हैं। जायसी की रचनाओं के सन्दर्भ में यह बात अर्धसत्य सी लगती है। उनके कथानक इतिहास और पुराण पर आधारित भी हैं और उनकी

1 तुलसीदास रामचरित मानस उत्तर काण्ड, दोहा—99

लोक मानस में व्याप्ति भी दिखाई देती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह मान्यता जायसी के कन्हावत में समाजोन्मुखी सचेतना को समझने में बहुत मदद करती है। सूफी काव्य गुणाढ्य की वृहत्कथा से चली आती हुई प्रेम कथाओं की परम्परा में आते हैं। उनका स्रोत लौकिक है। उनकी सभी कथाएँ लोक जीवन से ग्रहीत हैं।¹ 'कन्हावत' की यही लोक सचेतना उसे समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की ओर उन्मुख करती है। 'कन्हावत' की कथावस्तु का अध्ययन करने पर निम्नलिखित प्रकरण विशेष रूप से दिखाई देते हैं –

- 1 कस और उसका स्वरूप
- 2 देवकी, यशोदा सम्बन्ध
- 3 पूतना प्रकरण
- 4 काक वध
- 5 वासुकी प्रकरण
- 6 उपल दृष्टि
- 7 गोपी लीला और रास
- 8 राधा और कृष्ण सम्बन्ध
- 9 चन्द्रावली प्रकरण
- 10 कृष्ण का मथुरा आगमन
- 11 दुर्वासा प्रकरण

जायसी द्वारा रचित 'कन्हावत' के उपर्युक्त प्रकरणों पर यदि निरपेक्ष होकर विचार किया जाये तो इनके कथासूत्रों में जायसी की अपनी परिकल्पना और सचेतना पर्याप्त है। सामान्य रूप से देखने पर कृष्ण की कथा का स्रोत पुराण साहित्य में दिखाई देता है। लेकिन जायसी ने जो इसमें परिवर्तन किये हैं वे उनकी एक विशेष दृष्टि के परिचायक हैं। जायसी ने जिन प्रकरणों को चुना है, उनमें समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अब हम इन प्रकरणों में सचरित जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर दृष्टिपात करेंगे।

1 हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० 71

5.5 1 कंस और उसका स्वरूप

जायसी ने मथुरा के राजा कंस का प्रकरण 'कन्हावत' में लिया है। कंस एक पौराणिक पात्र है। जायसी ने अपने काव्य में कंस को एक दैत्य शासक के रूप में प्रस्तुत किया है। वह निरन्तर ऐसे कार्य करता है जो समाजोन्मुखी सस्कृति के चरम विघातक है। वह अपने जीवन के लिये अपनी बहन देवकी का वध करना चाहता है। पुराणों में आकाशवाणी के माध्यम से कंस का विचार बदलता है। लेकिन जायसी ज्ञान रूप में उसके सांस्कृतिक बोध की ओर सकेत करते हैं। उनका कंस सोचता है कि नारी हत्या महापाप है —

“सुनि बैरी राजहि रिस आवही। चहसि मारो देवकी करमुही।

पुनि गियान भा और मति फिरी। महापाप मारै इस्तिरी।

कस न बौध लावळँ रखवारा। मारो सोइ होई जो बाण।”¹

‘कन्हावत’ की कंस से सम्बन्धित अन्य अनेक प्रकरण जिनमें पूतना वध, काक वध, वासुकी प्रकरण, उपल दृष्टि पुराणों की तरह कृष्ण के महात्म्य को केन्द्रित करके नहीं चलते, बल्कि कंस की दैत्य चेतना को उजागर करते हैं। ये प्रकरण समाजोन्मुखी सस्कृति के राजनीतिपरक आयामों की ओर अप्रत्यक्ष रूप से सकेत करते हैं। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या एक शासक के लिये यह उचित है। जायसी इसीलिये कंस के राज्य को राक्षस राज्य के रूप में देखते हैं —

“मुई पुतना कस जो सुनों। भा क्रोध मन और सिर धुनों।

है कोउ राकस कर बसू। जिह निहत राज करँहि कसू।

पान दीन्हि दूनो बहिराये। गाढ काज आज तुम्ह आये।

जित खन तुम्ह आवहु कै अन्धा। देवो राज नित पौरी धन्धा।”²

‘कन्हावत’ का उपल दृष्टि प्रकरण यद्यपि पुराणों के गोवर्धन धान का प्रकरण का भी एक रूप है। लेकिन जायसी ने इस प्रकरण को अपनी मौलिक कल्पना के माध्यम से समाजोन्मुखी सस्कृति के राजनीतिपरक आयाम की राह पकड़ा दी है। जायसी ने इसे पुराणों की तरह इन्द्र का क्रोध न

1 जायसी — कन्हावत — कडवक—41, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 156

2 जायसी — कन्हावत — कडवक—66, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 169

बताकर कंस द्वारा भेजे गए दैत्यो का एक कृष्ण विरोधी प्रयास माना है। कंस ने दैत्यो को बुलाकर निर्देश दिया कि जहाँ कृष्ण वृन्दावन में गाय चराते हुए बसी बजा रहे हैं वहाँ ओलो की वर्षा करो।

“ओकॅह दाहिन अबहि दयालू। मारैं जर होई सठ कालू।
ऊ अइसै जॉहि न मारा। जूझ मरिह सब कटक खँडारा।
जहँवा कन्ह होइ चरवाही। दइतहि कहहु मेघ होइ जाही।
हँग-सिला सम लेहि परवाना। मारहि बरसि होइ मसवाना।
राजै दइत हँकारे, सबहि दीन्हि अस पान।
जहवौ कन्ह चरावइ, बरसहु जाइ परवान।”¹

इस प्रकार 'कन्हावत' के ये प्रकरण कंस के उस स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं जो समाजोन्मुखी सांस्कृतिक राजनीतिक आयाम की ह्रासोन्मुखी दिशा को स्पष्ट करने वाला है। जायसी एक ऐसे कवि हैं जो जीवन प्रवाह के सभी आयामों को सांस्कृतिक दिशा देना चाहते हैं। ह्रासोन्मुखी दिशा का प्रस्तुतीकरण भी एक प्रकार से सांस्कृतिक दिशाओं की स्थापना की ओर संकेत देता है।

5.5.2 गोपी लीला और रास

कृष्ण कथा में गोपी लीला और रास महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं। जायसी ने इस प्रकरण को 'कन्हावत' में लेते हुए सांस्कृतिक दिशाओं की व्यंजना की है। इस प्रकरण में जायसी ने कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ छेड़खानी करने और उनके मटके फोड़ने का वर्णन किया है। गोपियों ने यशोदा से कृष्ण के उत्पात की शिकायत की है। कृष्ण ने उल्टे गोपियों द्वारा उन्हें तग किये जाने की शिकायत की और उनके रोने पर यशोदा ने गोपियों को फटकारा। इसके पश्चात् गोपियाँ कृष्ण के साथ फिर खेल करने लगीं। कन्हावत में यह प्रकरण कुछ इस प्रकार है —

“दीसी सबहि आवथ गोरसाही। दूध बेचै मथुरा कहँ जाई।
काहू कर उठि दहिउ अचोरी। काहू केर मटुकि हँस फोरी।
काहू कर उठि अचल राही। काहू कण्ठ लगावा चही।

1 जायसी — कन्हावत — कडवक-88, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 180

काहू बिहसि गरे लै लावा। काहू ताकि पेम मिलावा।

काहू पूछहि अभी रस, हाथ चलावइ चीर।

अनचाखी फिर चाखी, नारग तुरज जभीर।

X X X X X

देखि जसो दरे कान्ह रोवाई। आप रूप भै कोह लेवाई।

देखहु ई घीठी उदमादी। हँस बारी सो आइ बिवादी।

तुम न रहँहु धौ(र) परोरा। तिह घर बार मोर झककोरा।

तुम्ह अभरैल आहु जिह जोगू। तिह सो तनहु जो पुखँहि भोगू।

बालक मोर दूध कर पोवा। सोकित खिझावहि जिह अस रोवा।

जो रे हहु जोबन मैमाती। तहवों जाहु होइ जिह सौँती।”¹

जायसी ने ‘कन्हावत’ में गोपी लीला के इस प्रकरण को यथावत ही लिया है। भागवत् का गोपीलीला प्रकरण जिस प्रेम की प्रतिष्ठा करता है उसमें रीझ है, खीझ नहीं। गोपियों को कृष्ण के व्यवहार से शिकायत है उनकी भावनाओं से नफरत नहीं। वे जिस रूप में कृष्ण के व्यवहार को लेती हैं यशोदा उसी रूप में उनको प्रताड़ना देती हैं। उस प्रताड़ना के पश्चात् उनका फिर से कृष्ण के साथ लीला में प्रवेश उनकी भावना शुद्धि का परिचय है। एक प्रकार से देखा जाये तो जायसी कृष्ण की गोपियों के प्रति भावना को कमोदमत लम्पटता ना मानकर प्रेम के अयस प्रवाह को धारा मानते हैं। गोपियों भी यशोदा की फटकार सुनकर कृष्ण के प्रेम को उनकी लम्पटता न मानकर जीवन लीला मान लेती हैं और उसमें प्रवेश के लिये तत्पर हो जाती हैं।

कृष्ण लीला में राधा प्रसंग और रास प्रसंग में उनकी अपनी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना है। राधा के प्रसंग में जायसी नारी-पुरुष सद्वर्ण की सामाजिक मर्यादा की स्थापना करते हैं। कृष्ण का व्यवहार एक ऐसे पुरुष का व्यवहार है जो सारी रूप से आकर्षित होकर उससे रतिदान मागना और नारी को विवश भी मानता है।

“(ज)नि भूलहु यॅहि गरब गुवारी। का क सकहि पुरुख सेउँ नारी।

गोरस मोरे काज न आवा। धरहि बहुत का करो परावा।

तो मै देखी नारि सलोनी। देवि सरूप महरि सुठि लोनी।

भोग भुगुति मन मैल न कीजै। रति मॉगी तुरत सो दीजै।

X X X X X

यहि बनखँड तुम्ह तिवई, आवत जात सकाहु।

हम सेउँ करहु चिन्हारी, जिह सुख आवहु जाहु।”¹

कृष्ण द्वारा इस तरह माग पर राधा क्रुद्ध होकर कृष्ण से कहती है कि मैं तो उसके लिये बनी हूँ जिसे विष्णु कहते हैं। मैं उसे छोड़कर दूसरी जगह जाने की कल्पना भी नहीं कर सकती।

“तो रिसान राही गोपिता। सती न पार मोर अस तपा।

एइ क गरब हो लावइ दारा। तूँ अकेल किह कर बैसारा।

देख दर्ई हौ ताकह लिखी। करॅहि बखान सकल जोतिखी।

जाकर मथा समुँद्र अतिवानी। बासुकि दीढ सुमेरू मथानी।

सुर नर मुनि गुनि गॅधरब देवा। सब मिलि करॅहि रैन दिन सेवा।

उस पिउ तज जो अन्त जिउ लावा। भेट भये का मुख दरसावा।

एक-एक मन सॅवरो सोई। मकु जिउ जाउ न दूसर होई।

हौ ताकर धनि दूलहि, धरम दसा जिह नॉऊ।

नियर न हौ तहॉ खिन, पाप होइ जिह ढॉऊँ।”²

राधा को जब यह विश्वास हो जाता है कि कृष्ण ही उसके विष्णु है तो वह सलज होकर घूँघट काढ लेती है और कृष्ण के साथ वन में चली जाती है। यहाँ आकर जायसी की राधा की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना फिर से जागृत हो जाती है फिर वह सोचने लगती है कि किस प्रकार वह अछूती घर जा सके। इसलिये वह कहती है कि मैं श्रृंगार कर अपनी सखी-सहेलियों को

1 जायसी – कन्हावत – कडवक-99, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 186

2 जायसी – कन्हावत – कडवक-101, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 187

लेकर आती हूँ तब मेरा और आपका विवाह हो। इस प्रकार वचनबद्ध होकर राधा घर लौटती है।

“पाठ पढ़ी घनि चतुर सयानी। अमर कोक कन्या गुन ग्यानी।

बहुत लखाउ तोहि घनि सदा। इहै पुरुख मोकह बिधि बदा।

X X X X X

घूँघअ काढ़ि रही मुख झोंपी। गहनै लीन्हि जोन्ह मुख कौपी।

हौ रे वहै जाकहँ हुत गढ़ी। तिह के सेज जाइ हौ चढी।

अब कस करौ कौन चतुराई। जिह अछूत घर पायउ जाई।

जहँ हुत सौर—सुपेती, लइगा कन्ह मुरारि।

राह गही बन राही, भई अचेत बर नारि।

X X X X X

विनयी कन्ह नारि होइ आगें। एक बोल दीजै मोहि मोंगे।

नवल नेह नव प्रीतम आजू। नव सुहाग ते धनि लै साजू।

आजू बियाहु मोर जनु होई। जस हौं कहौं करहु पिय सोई।

आपन जाइ सिंगार बनावो। औ संधि—सखि साथ है आवौं।

अरति उतारी तिन्है दीजै। जोरि सघ भावर पुनि कीजै।”¹

यह प्रकरण जायसी की मौलिक कल्पना है जो गोपियो और राधा के परकीया स्वरूप को नहीं स्वीकारता। ऐसा लगता है जायसी ने राधा कृष्ण प्रेयसी सबध को सामाजिक मर्यादा के भीतर समेटने के लिये ही विवाह की परिकल्पना की है। फिर भी उसमें परिवार के लोगों के सम्मिलित होने का कोई उल्लेख नहीं है। विवाह का रूप गधर्व विवाह की तरह है जो एक प्रकार से शास्त्र—सम्मत है। फिर भी राधा को भय होता है कि रात के पश्चात् घर के लोग पूछेंगे तो क्या कहूँगी। इसका समाधान जायसी ने कृष्ण काव्य की दार्शनिक चेतना के आधार पर किया है। वहाँ कृष्ण का सभी गोपियो के एक साथ रमण दिखाया गया है जो कृष्ण को अलौकिक बना देता है। जहाँ कृष्ण पुरुष ना रहकर ब्रह्म की सत्ता का पर्याय बन जाता है। कृष्ण सम्बन्धी यह चेतना बल्लभ सम्प्रदाय की

दार्शनिक चेतना है। जो जायसी द्वारा ग्रहण कर ली गई है। जायसी ने राधा-कृष्ण सबध ही नहीं चन्द्रावली की प्रणय कहानी के माध्यम से समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की भी व्यजना की है।

553 चन्द्रावली और कृष्ण के प्रणय सम्बन्ध

चन्द्रावली और कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध भक्ति साहित्य में मिलते हैं। ये रचनाएँ प्रायः खण्डिता और मान के प्रसंग की हैं। जायसी ने 'कन्हावत' में इसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। 'कन्हावत' में कृष्ण दिन राधा के साथ बिताते हैं और रात चन्द्रावली के साथ। परिणामस्वरूप राधा और चन्द्रावली दोनों में खूब कहा सुनी होती है और यहाँ तक की हाथापायी भी हो जाती है। छंद 244 से लेकर 260 तक जायसी ने जिस तरह चन्द्रावली और राधा का झगडा दिखाया है वह नारी अस्मिता के संघर्ष की झलक है। राधा का स्वरूप स्वकीया नायिका का है और चन्द्रावली का परकीया नारी का। इन दोनों में ईर्ष्या या द्वेष जायसी की अपनी कल्पना है। जो नारी सदर्भ में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की स्वाभाविक प्रस्तुती है। जायसी की ये पक्तियाँ समाज में नारी अस्मिता को लेकर उनके विद्रोह की व्यजना करती हैं -

“मोर पाप का छैल बखानसि। तूँ अपने मन निगुनी जानसि।

जाकर स्त्रीराम अस पाती। सोइ नारी हौ सीता सती।

X X X X X

तूँ पापिन जस डोवहि धरी। राहु न छाडे एको घरी।

प्रगट पाप छिपाये न गोये। मसि मुख लाग न छूटे धोये।

X X X X X

सुनि रे कलकी तोहि सब औरे। धरती छाडि सरग चढि दौरे।

जो तै नित ईह बिधा पढे। बड होइ ऊँचे निसि चढे।

तूँ छुतहि जो डोब छुतहारी। जो तिह नौवें सो औरहि कारी।

X X X X X

आपुन तू मसि धोवहु कारी। पाछे देहु आन कँह गारी।

तूँ रे कलकी जैन बूझा। को अस अहे जो तोसो जूझा।”¹

1 जायसी - कन्हावत - कडवक-251, 255, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ0 267 268 269

‘कन्हावत’ में भी जायसी की अन्य रचनाओं की तरह नारी अस्मिता की चिन्ता अलग-अलग प्रकरण में मुखर होकर आयी है। ऐसे प्रसंगों में जायसी की अपनी कल्पना ही अधिक है। ‘कन्हावत’ में जायसी कंस द्वारा सभी गोपियों के साथ विवाह करने के लिये विवश करने की बात आयी है।

“धनुजग रचि होम जनावहु। सब गोपिह इहैं लै आवहु।

सोरह सहस आहि गोपिता। कान्ह कहा जस जो जिता।

आजु बाँधि कर काँगन फेरी। लगन धराउ दिवस दोइ केरी।

जो रे बियाहे पावस, सदा कुसल औ राज।

नतु खो होइ चहत, राजा गरब न काज।”¹

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ‘कन्हावत’ जायसी की एक ऐसी रचना है जो उनकी आध्यात्मिक चेतना की ओर उतनी झुकी हुई नहीं है जितनी उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना की। कथावस्तु के आधार पर हम ‘कन्हावत’ को जायसी की सहिष्णु का परिणाम कह सकते हैं लेकिन इसमें जो उनकी अपनी परिकल्पना है वह ‘कन्हावत’ की निजी पहचान है। उसके माध्यम से जायसी ऐसे प्रश्न उठाते हैं जो मानव समाज की सांस्कृतिक संचेतना की ओर हमें आकर्षित करती है। इन प्रसंगों में इतिहास और पुराण का यथार्थ है लेकिन उस यथार्थ से जिस संचेतना की व्यञ्जना होती है वह मानव समाज को सुसंस्कृत जीवन की ओर ले जाने की दिशा देता है।

5.6 ‘चित्ररेखा’ में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

‘चित्ररेखा’ की मूल प्रेरणा उसका उत्पाद्य एवं समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना इस तरह सघनगुम्भित है कि बहुत से विद्वानों को उसके सूफी प्रेमाख्यान की चेतना से सयुक्त होने में ही सदेह है। इसकी कथा लोक-जीवन से गृहीत है। जायसी ने इस रचना में लोक प्रचलित कथा को अपनी काव्य चेतना के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया है। ‘चित्ररेखा’ के सम्बन्ध में डॉ० श्यामनोहर पाण्डेय का कथन है कि ‘चित्ररेखा’ काव्य में प्रेम या विरह को हम नहीं देखते। इसमें कहीं इस प्रकार का प्रतीकात्मक संकेत भी नहीं है, जिससे हम अनुमान लगा सकें कि ‘रूह’ खुदा से विलग होकर विकल

1 जायसी – कन्हावत – कडवक-261, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ० 272

है और उसमें 'फना' होने के लिए प्रयत्नशील है। अतः इस काव्य को प्रेमाख्यान कहना उचित नहीं कहा जा सकता।"¹

पाण्डेय जी का यह कथन महत्वपूर्ण है। इससे कवि की मूल प्रेरणा और प्रयोजन समझने के लिए अवकाश मिलता है। 'चित्ररेखा' के मूल में कवि की प्रेरणा और प्रयोजन पर यदि हम सम्यक् रूप से दृष्टिपात करते हैं तो उसमें सामाजिक जीवन की व्यवस्था और तत्सदृशित समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

पूर्व अध्याय में हम समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के विविध आयामों पर विस्तार से विचार कर चुके हैं और जायसी की महान् रचना पद्मावत में उनका संचार भी देख चुके हैं। 'पद्मावत' और 'चित्ररेखा' को यदि एक दूसरे के समानान्तर रखकर देखा जाये तो 'चित्ररेखा' पद्मावत की पूरक रचना सी लगती है। इसमें जायसी ने सामाजिक व्यवस्था के उन पहलुओं का स्पर्श किया है जो पद्मावत में अछूते रह गये हैं। 'चित्ररेखा' पर विचार करते हुए हम समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की इन कतिपय पहलु पर विचार करते हैं।

5.6.1 सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्था की मूल धूरी परिवार नामक सांस्कृतिक संस्था है। परिवार की संरचना विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था पर आधारित है। यह विवाह ही नारी की अस्मिता के स्वरूप का निर्धारण करता है। 'पद्मावत' की तरह 'चित्ररेखा' में भी जायसी ने इस संस्था के विकृत स्वरूप को अपनी काव्य चेतना का विषय बनाते हुए उसमें सांस्कृतिक सचेतना का संस्कार किया है।

5.6.1.1 'चित्ररेखा' में अभिव्यक्त परिवारमूलक संचेतना

'चित्ररेखा' की कथा में नायक-नायिका की कथा परिवार चेतना की पृष्ठभूमि के साथ शुरू होती है। सामान्य रूप से देखा जाये तो परिवार चेतना का मूल आधार प्रेम, सौहार्द और उत्तरदायित्व की भावना है। 'चित्ररेखा' की कथा इसी चेतना के साथ शुरू होती है। समाज के सदस्यों में यदि

1 मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, पृ० 76

परिवार चेतना को देखा जाये तो यह वैयक्तिक इकाई और सामाजिक सचेतना के बीच की है। वैयक्तिक इकाई के रूप में पुत्र और पुत्री, पति और पत्नी सामाजिक जीवन में नारी और पुरुष अस्मिता के पर्याय बनकर आता है। परिवार चेतना यदि पक्षपात की भावना से ग्रसित होती है तो सामाजिक मूल्यों का ह्रास होता है। जायसी 'चित्ररेखा' के प्रतिपाद्य का निर्धारण करते समय इसके प्रति पूरी तरह से सचेत है। 'चित्ररेखा' में भी जायसी पद्मावत की तरह ही कन्या के जन्म को परिवार में उतनी ही प्रसन्नता का सूचक दिखाते हैं जितना कि पुत्र जन्म को। 'चित्ररेखा' की कथा का प्रारम्भ कुछ इस तरह से होता है। राजा के राजमंदिर में सात सौ रानियाँ थीं। वे अत्यन्त सुन्दर साक्षात् अप्सरा स्वरूपा थीं। उन्हीं में एक बड़ी रानी थी। उसका नाम रूपरेखा था। वह अत्यन्त लावण्यमयी थी। वह सभी रानियों में पट्ट-प्रधान थी। उससे एक सुन्दर बालिका का जन्म हुआ। आनन्द बधाई बजे। ज्योतिषी और गणक आये। उन्होंने उसका नाम 'चित्ररेखा' रखा और कहा कि यह निष्कलक चोंद के समान अवतरित हुई है। रूप, गुण और शील में यह जगत में अन्यतम होगी। आज इसका जन्म तो चन्द्रपुर में हुआ है किन्तु यह कन्नौज की रानी होगी।

“राजमंदिर रानी सय साता।

उनहि रूप लइ दीन्हि विधाता।

जानउँ सब चम्पा कइ करी।

बैन बीन आनी आछरी।

X X X

लिखी चित्ररेखा तस होनी।

X X X

दिन दिन अवधि पूरि सो आई।

परी चित्रमूरित धनि जाई।

X X X

बाजइ अनद उछाह बधाए।

केतिक गुनी पोथि लइ आए।

उत्तम धरी जनम सुभ भाखे।

नाऊँ चित्ररेखा कइ राखे।”¹

इस प्रकार 'चित्ररेखा' के जन्म के समय बधाई और उत्सव होते हैं। चारों ओर आनन्द का वातावरण होता है। अनेक ज्योतिषियों को बुलावा जाता है। ये ज्योतिषी कन्या के जन्म के शुभ फलादेश की गणना करते हैं। 'चित्ररेखा' में जायसी का यह वर्णन मध्यकालीन समाज की स्थिति के विपरीत है। मध्यकालीन समाज में ही क्या आज की कन्या का जन्म भारतीय समाज में आनन्दमयी नहीं माना जाता। जनसामान्य में ही नहीं राजपरिवारों और विशेषकर राजपूत राजाओं में कन्या के जन्म पर प्रसन्नता का वातावरण नहीं पाया जाता। जायसी का यह वर्णन मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक सचेतना को जागृत करके एक नयी दिशा देना चाहता है। इस प्रकार देखा जाये तो 'चित्ररेखा' के जन्म की कथा मध्यकालीन समाज के सन्दर्भ में जायसी की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का प्रकाश है। मध्यकालीन समाज में और विशेषकर सामन्ती समाज में कन्या के जन्म के समय खुशी नहीं मनाई जाती। बहुत से सामन्ती परिवारों में तो कन्याओं की हत्या भी कर दी जाती थी। कन्या के साथ इस तरह की भावना एक प्रकार से नारी जीवन का तिरस्कार और परिवार की मूल चेतना प्रेम को अपमानित करना था। जायसी मध्यकालीन समाज की इसी नारी चेतना और परिवार चेतना को संस्कारित करने के लिए 'चित्ररेखा' के जन्म के समय उसी प्रकार के आयोजन कराते हैं जो पुत्र के जन्म के समय होते हैं।

5 6 1 2 नारी शिक्षा संदर्भित समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

नारी सामाजिक संरचना की महत्त्वपूर्ण कड़ी होने के कारण उसे जीवन के अनुरूप शिक्षित करना समाज का उत्तरदायित्व है। जायसी इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं। जायसी 'चित्ररेखा' में जब उसके वय विकास का वर्णन करते हैं तो उसमें उन सभी गुणों का समावेश करना चाहते हैं जो एक नारी के लिये सामाजिक संरचना के लिये आवश्यक हैं। जायसी कहते हैं —

“पौंच बरिस मँह भई सो बारी।

रसना अब्रित बैन सँवारी॥

लाग पढावइ गुरु गनेसू।

भइ पडित सुभ सुनी नरेसू॥

सतएँ बरिस आन भया भाऊ।

अपना चित्रचारि सौ चाऊ॥”¹

जायसी कन्या के पूर्ण विकास की अवस्था दस वर्ष मानते हैं। जायसी की यह मानसिकता मध्यकालीन समाज की उपज है जो बहुत कुछ सामाजिक परिस्थितियों और नारी जैविकीय विकास पर आधारित है। नारी का यह जैविकीय विकास सामाजिक सन्दर्भ में न मानकर पुरुष ने अपने आधार पर इसे बनाया है। कुछ भी हो, जायसी इस वय विकास क्रम में भी नारी के सामाजिक सन्दर्भ को नहीं भूलते। वे पाँच बरस की अवस्था में उसमें मधुर वाणी का विकास देखना चाहते हैं। इस विकास के साथ 'चित्ररेखा' की शिक्षा की व्यवस्था योग्य गुरु के माध्यम से की जाती है। वह शिक्षा प्राप्त करके पंडित बनती है। सातवें बरस में जायसी उसे ललित कला में प्रवीण बनाते हैं। इन पक्तियों से स्पष्ट है कि जायसी नारी का पूर्ण विकास केवल उसके शारीरिक विकास में ही नहीं बल्कि उसकी उस योग्यता में देखते हैं जिससे सामाजिक सन्दर्भ में उसका बौद्धिक और उपयोगी विकास हो सके। जायसी का यह वर्णन केवल इतिवृत्त नहीं माना जा सकता इसमें एक व्यापक समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की झलक दिखाई देती है।

5 6 1 3 'चित्ररेखा' में वैवाहिक संस्था : सांस्कृतिक सचेतना का संचार

समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की दृष्टि से 'पद्मावत' के पश्चात् 'चित्ररेखा' जायसी की अनुपम रचना है। 'चित्ररेखा' की कथा में सूत्रों का परिचय हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। इस रचना की कथावस्तु को सांस्कृतिक सदर्भों में देखेंगे तो यह सामाजिक जीवन व्यवस्था की विसति के कई आयाम खोलती है। इस रचना को पढ़कर ऐसा लगता कि जायसी का मन सबसे अधिक नारी की अस्मिता के लिये चिन्तित है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में नारी स्वतंत्रता का अपहरण सामाजिक जीवन की विडम्बना है। इससे नारी अस्मिता निरन्तर विद्रव होती चली गयी है। सामाजिक व्यवस्था और नारी जीवन का सबसे अहम् पहलू विवाह नामक संस्था है। इस सांस्कृतिक संस्था को जीवन में स्थापित करते समय दो मानदंड अपनाये हैं—

- 1 नारी की स्वीकृति
- 2 माता-पिता द्वारा उत्तरदायित्व के रूप में अनुरूप वर की खोज

समय के प्रवाह के साथ इन दोनों ही मानदण्डों की अपेक्षा होती रही है और विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था असांस्कृतिक रूप में नारी अस्मिता के साथ खिलवाड़ कर रही है। 'चित्ररेखा' इसी सांस्कृतिक सचेतना को उजागर करने वाली रचना है।

कन्या का युवावस्था में प्रवेश उसके विवाह की आयु मानी जाती है। नारी की यह विडंबना है कि उसके विवाह का मूल हेतु गृहस्थ जीवन गौण रहा है। उसकी अवस्था को केवल काम सम्बन्धों के सदर्थ में ही देखा जाता रहा है। इसे देखकर ऐसा लगता है कि विवाह सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था का अंग न होकर केवल अपनी इच्छापूर्ति की एक व्यवस्था है। यही कारण है कि विवाह से पूर्व कन्या के रूप सौन्दर्य का ही विशेष वर्णन किया जाता है। जायसी 'चित्ररेखा' के रूप सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं –

“अबहिं अइस चितहरनी, धौं आगैं कस होइ।

दसैं बरिस कर भई जो दसा।

पून्यो चोद बदन परगसा।।

मनि माथे दीपक रस लेसा।

भँवर भुवंग सेस भए केसा।।

जोति सरद ससि पाई गोरी।

नयन देखावई खंजन जोरी।।

भौह आरि जनु धनुक सँहारै।

बरुनि बान साधे जिन मारै।।

पलक खरग संहारै मारा।

ऊधर अधर चाहि सहारा।।”¹

जायसी का यह वर्णन विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था की चेतना को उजागर करता हुआ आगे 'चित्ररेखा' के भावी जीवन से जोड़ता है जिससे जायसी की यह समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना स्पष्ट होती है कि नारी विवाह केवल कामेच्छापूर्ति की व्यवस्था न होकर जीवन व्यवस्था का एक अंग है।

5.6 1.4 'चित्ररेखा' का विवाह प्रसंग : समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना

जायसी की महत्त्वपूर्ण कृति 'चित्ररेखा' एक प्रकार से विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था के मध्यकालीन हासोन्मुखी स्वरूप और उसके लिये अपेक्षित सांस्कृतिक संचेतना की कहानी है।

1 जायसी – चित्ररेखा – आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 82

‘चित्ररेखा’ की कला में जब चित्ररेखा स्थानी हुई तो राजा चन्द्रभानु ने ब्राह्मणों को बुलाया और वर खोजने के लिये अगुवा भेजा। वे सैकड़ों स्थान देख आये, जहाँ राज्य था वहाँ राजकुमार नहीं था। अन्त में वे सिंघद के राजा सिंघनदेव के यहाँ आये। सिंघनदेव के एक ही लड़का था सो भी कुबड़ा। अगुआ लोगो ने बड़ा राजपाट देखा, तो बरोक (वरच्छा) कर दिया। उन लोगों ने निश्चय किया कि विवाह समय हम दूसरा वर दिखा देंगे और विवाह होने के बाद जो होना होगा सो देखा जायेगा। पुरोहितो ने स्वास्ति पाठ किया और कुबड़े को टीका लगा दिया। लग्न निर्धारित किया जाने लगा, परन्तु ज्योतिषियो ने कहा कि चन्द्रमा और राहु का योग है, यह ब्याह न हो सकेगा। ज्योतिषी लोग चले गये।

“कहँ अस चौद सुरुज कइ जोरा।

खोजत-खोजत गए सब खोरा॥

देखई राज जगत उपराही।

जहाँ राज तहाँ बर नहीं॥

सिघदेव सिद्ध कर राजा।

आइ बरोक तहाँ फुन बाजा॥

सिघदेव का कुबरा बेटा।

चौद लिखा कलक को मेटा?॥

बर हम और देखावहिं लोना।

भए ब्याह होइ सो होना॥”¹

विवाह नामक सांस्कृतिक संस्था के ह्रास के मूल में जायसी माता-पिता की अनुत्तरदायित्व पूर्ण भावना के साथ मध्यस्थ पंडित को भी दोषी मानते हैं। पंडित जो समाज की सांस्कृतिक चेतना का प्रतिष्ठापक है, वही जब विवेक को भूलकर कुचक्र की रचना करता है, देखकर जायसी का मन पीडित हो उठता है। वे पंडित की स्थूल बुद्धि पर तीव्र प्रहार करते हुए उसकी कुठित चेतना को जाग्रत करना चाहते हैं। जायसी के शब्दों में —

“बर हम और देखावहि लोना।
 भए ब्याह होइ सो होना।।
 बड़ दरसन देखा बड़ राजू।
 औ मदिर सब सोनइ साजू।।
 पढ़ि गुन पंडित को न भुलाना।
 पढा बेद लइ भेद न जाना।।
 भूला सहदेव और भुईं हारी।
 पढा सुवा बुध धरा मँजारी।।
 पढ़ि गुनि पंडित भूलैं, गुपुत न जानहि भेद।
 परगट होय न बॉचैं, जइस सास्तर बेद।।”¹

जायसी ‘चित्ररेखा’ के विवाह प्रकरण को अपने कथा प्रवाह में केवल हासोन्मुखी स्थिति के प्रस्तुतीकरण तक सीमित नहीं रखते। कथा को परिणाम तक पहुँचाकर वे अपनी सांस्कृतिक संचेतना को स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं। सिंघदेव राजा अपने कुबड़े बेटे के विवाह को एक कुचक्र के रूप में रचता है और उसके स्थान पर एक अन्य राजकुमार को देखता है और उसे विवाह के लिये तैयार कर लेता है।

“सिगदेव सुठि डागु बजावै।
 कुबरा पूत बियाहन आवै।।
 बर जो देखावा लिहा बरोका।
 सो विधि चाह गएउ सिवल्लोका।।
 उतरा आइ ओही बर पौहौं।
 राजकुँवर हौ जिन्ह बर छौहौं।।
 देखइ कहा कुँवर हइ लेटा।
 काहू बडे राजकर बेटा।।

काल कै डर मुरुछा कब आई।
 तबहू मुख कै जोति न जाई॥
 सिंघदेव देखा अस चंदू।
 देखि रूप मन भएउ अनंदू॥
 लागौ पवन डोलावै, एहि कुँवर के पास।
 पानि पीन्ह मँइ पावा, जानौ मरत पियास॥¹

X X X X

जबहि कुँवर भा चाह बटाऊ।
 सिंघदेव उन्ह टेके पाऊ॥
 पूँछसि जात कुरइ औ नाऊँ।
 कस उदास जस जीव न ठाँऊँ॥
 सुनिके बात विपति अस भारी।
 सिंघदेव बिनती उन सारी॥
 हम एहि नगर बियाहन आए।
 अहा करम तुम अस बर पाए॥
 वर कुबरा हइ मोरइँ, तुम तें होइ न ब्याह।
 काल्हि चलौ कासी कौ, कै निसि आज बियाह॥
 सिंघदेव उठि बीरा दीन्हा।
 सगुन बौधि के बर वइ कीन्हा॥²

जायसी राज सिंघदेव के दुष्प्रक्र को सफल नहीं होने देना चाहते। जायसी की कथा सृष्टि में ऐतिहासिक सत्य कुछ भी हो, लेकिन जायसी की प्रस्तुति समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संघेतना के अनुरूप ही है। जिस राजकुमार से विवाह सम्पन्न कराया जाता है उसे जायसी वस्तुस्थिति को कन्या तक पहुँचाने के लिए प्रेरित करते हैं। वह कुँवर के अचल वस्त्र पर सारी वस्तुस्थिति लिख देता है।

1 जायसी – चित्ररेखा – आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 99

2 जायसी – चित्ररेखा – आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 100–101

"अंचल पट्ट कुँवरि का कीन्हा।
 लिखा बेगि सो आपन चीन्हा।।
 हौं कनउज राजा कर बेटा।
 जो बिधि लिखा सो जाइ न मेटा।
 बीस बरीस आउ हुत मोरी।
 पूजी आइ को देइ बहोरी।।
 सहजै चला जात हा कासी।
 पहुँचा आइ लगन का रासी।।
 सिंघदेव कँह आन बियाहा।
 ना जानउँ तुम्ह कहँ का लाहा।।"¹

5.6.1.5 विवाह बंधन की पवित्रता

मानव समाज विवाह बंधन एक भावना पर आश्रित बंधन है। नारी जिस पुरुष के साथ विवाह बंधन में बंधती है उसके साथ भावना से जुड़ जाती है। नारी की यही भावना सामाजिकता व्यवस्था को स्थायित्व देती है। जायसी नारी की इस भावना को समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के रूप में पूर्ण समर्थन देते हुए दिखाई देते हैं। जब कुँवरि को अपने अंचल वस्त्र पर लिखा संदेश दिखाई देता है। वह यह जानकर भी कि वह अल्पायु है, उसकी आयु पूरी हो चुकी है। उसी को सर्व तो भावेन समर्पित होती है और दासी भाव से उसकी सेवा करना चाहती है।

"कहत जो भई बात है पीठी।
 अचल लिखा सोपरि गया दीठी।।
 लागी पढन पाइके नैनौं।
 जस कुछ लिखी मरब कै बैनौं।।
 कहत सखी हउँ कहत जो बाता।
 देखउँ अब अचल पढ़ि राता।।

1 जायसी – चित्ररेखा – आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 104

कुँवर गयउ चलि सहजै कासी।
 सेवा करउँ अछरि होइ दासी।।
 हौं किमि अजहूँ तजि एहि जोरी।
 ब्याहे साथ भली गति मोरी।।¹

जायसी की 'चित्ररेखा' के रूप में यह भावना भले ही आज की आधुनिक नारियों को न रुचे, लेकिन मानव समाज के सांस्कृतिक आदर्शों की नियामिका के रूप में अपना महत्त्व रखती है। भावना से भावना उत्पन्न होती है। प्रेम से प्रेम मिलता है नारी प्रेम देकर ही प्रेम प्राप्त कर सकती है, यह सांस्कृतिक सचेतना का मूल मंत्र है। यही प्रेम जीवन व्यवस्था का आधार है। त्याग इस प्रेम की मूल चेतना होती है। जायसी 'चित्ररेखा' की कथावस्तु के माध्यम से समाज के सामने यही आदर्श रखना चाहते हैं।

5.6.1.6 सामाजिक जीवन व्यवस्था और नारी अस्मिता

'पद्मावत' में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि जायसी सामाजिक जीवन व्यवस्था में नारी अस्मिता को लेकर बड़े उग्र हैं। वे अपनी रचनाओं में नारी को उसके जन्म से लेकर विभिन्न जीवन सदस्यों में रखकर देखते हैं। उनकी रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि भारतीय समाज व्यवस्था में नारी अस्मिता ही उनकी चिन्ता है। उनके नारी पात्र विवाह पूर्व अपने पितृ-गृह में भविष्य को लेकर निरन्तर आशंकित रहती है। पितृ गृह का जीवन उन्हें निरन्तर अस्थायित्व का बोध कराता रहता है। वे निरन्तर पतिगृह में होने वाले व्यवहार के प्रति आशंकित रहती है। 'पद्मावत' की तरह 'चित्ररेखा' में चित्ररेखा और उसकी सहेलियाँ इसी भाव की व्यञ्जना करते हुए नारी जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करती हैं जो सामाजिक व्यवस्था का एक कड़वा सच है। यह सत्य है नारी की कन्या रूप में स्थायी रूप से पितृ पक्ष के परिवार का सदस्य नहीं स्वीकारा जाता। उसे हमेशा पराया धन या दूसरे परिवार में जाने वाला सदस्य मानकर एक भावना पूरी सामाजिक चेतना में बनी रहती है। दूसरी ओर पतिगृह में उसे स्थायी सदस्य के रूप में स्वीकार-अस्वीकार की चेतना निरन्तर भ्रम में डालती रहती है। परिवार में अन्य स्त्रियों (सास, ननद)

के द्वारा उसे इस भावना के साथ मानसिक यत्रणा दी जाती है। जायसी की चित्ररेखा और उसकी सहेलियों इस भाव की व्यजना इन शर्तों पर करते हैं —

“मिली रहँसि सब चढी हिडोरैं।

झूलि लेहु सग बारी भौरैं॥

झूलि लेहु नैहर जब ताई।

फिर कत झूलन दैहै साई॥

लेकै ससुर राखि है तहाँ।

नैहर गवन न पाइब जहाँ॥

कहँ यह धूप कहाँ यह छौहाँ॥

रहब रैन दिन मदिर मँहाँ॥

औ नित नेह हरासहि सोई।

साध मरब आँगन कस होई॥

सासु ननद बोलत जिव लेइ।

दारुन ससुर न निकरन देई॥

सासु ननद के मुँहँहि अगोरे।

रहब सुखी दोऊ कर जोरे॥

कत नैहर फिर आइब, कत ससुरै यह खेल।

आप आप कह होइहै, ज्यो पखिन मँहँ डेल॥”¹

‘चित्ररेखा’ की यह पक्तियाँ सूफी सदर्म में भले ही अध्यात्मिक जीवन की ओर संकेत करती हो, लेकिन भारतीय समाज के नारी सदर्भित जीवन के स्वरूप का दिग्दर्शन भी कराती हैं।

इस प्रकार हम देखे हैं कि ‘चित्ररेखा’ भी जायसी की रचनाओं की एक कड़ी है जो उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की श्रृंखला को आगे बढ़ाती है।

जायसी की 'पद्मावत' के अतिरिक्त अन्य रचना के अनुशीलन के आधार पर यह आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि जायसी की काव्य चेतना रहस्य के आवरण भले ही सूफी चेतना की संसिद्धि करती हो, लेकिन अपने कथा प्रवाह में सांस्कृतिक धरातल पर सामाजिक चिन्ता को उठाकर उसे एक सुसस्कृत रूप देना चाहती है। जायसी की सांस्कृतिक चेतना को वैयक्तिक धरातल पर रखकर देखना उनके साथ न्याय नहीं होगा।

उनकी सांस्कृतिक संचेतना तो समाज की ओर उन्मुख होकर एक अलग सामाजिक जगत का निर्माण करना चाहती है जिसमें नारी अस्मिता विभिन्न वर्जनाओं से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र विकास के साथ समाज का अंग बन सकती है। पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्वरूप संरचना एक ऐसे मनोजगत का निर्माण कर चुकी है जिसे नारी ने अपनी नियति मान रखा है और पुरुष ने अपना अधिकार। कही-कही नारी अपनी नियति के प्रति विद्रोही भी हो उठती है। उस समय यह नारी चेतना और पुरुष चेतना का सघर्ष बन जाता है। जायसी के काव्यों को देखकर हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि जो जायसी के काव्य चेतना थी, वही उनकी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के रूप में अभिव्यक्त हुई।

उपसंहार

उपसंहार

सृष्टि के विकास—क्रम में मनुष्य शरीर और चेतना के स्तर पर सबसे अधिक विकसित प्राणी है। मानव—चेतना का यह विकसित रूप जहाँ एक ओर मानव—जीवन के लिये वरदान है, वही अपनी मूल प्रवृत्तियों के धरातल पर खड़ा होकर सामाजिक जीवन के लिये एक अभिशाप भी बन जाता है। सामान्यतः मानव—जीवन दो दिशाओं में निरन्तर प्रेरित होता है। एक दिशा में वह मूल सवेगों से प्रेरित होकर वैचारिक हितों को आगे बढ़ाता है। इसे ही पशु जीवन कहा जाता है। यद्यपि पशु भी मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते जबकि मनुष्य एक विकसित चेतना का प्राणी होने के नाते बौद्धिक आधार पर अपने जीवन में प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करता है। इसी से प्रेरित होकर राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त को कहना पड़ा —

“मैं मनुष्यता को सुरत्त्व की जन्मी तो कह सकता हूँ।

किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सक सकता हूँ।

X X X X X

करता है पशु वर्ग किन्तु क्या निज निसर्ग नियमों का लोप।”¹

मानव जीवन की दूसरी दिशा सामाजिकता से प्रेरित होती है। जिसमें वह सामाजिक मर्यादाओं के आधार पर जीवन मूल्यों का निर्माण करते हुए एक मूल सवेगों से मुक्त जीवन की सरचना करता है। सामाजिक जीवन की यही सरचना सस्कृति कही जाती है। सस्कृति के स्वरूप को भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। सस्कृति की परिभाषा और स्वरूप निर्माण से पहले सामाजिक जीवन में सांस्कृतिक विकास की श्रृंखला बन चुकी थी। इसी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक विकास के आधार पर भाषिक शब्दों का निर्माण हुआ और सस्कृति की पूर्ण—अपूर्ण अनेक परिभाषाएँ गढ़ी गईं। हिन्दी साहित्य में अब तक की सस्कृति पर आधारित शोध अध्ययनों ने एक बड़ी बँधायी परिपाटी में सस्कृति का स्वरूप विवेचन होता रहा है। जबकि सांस्कृतिक आधार पर शोध परक अध्ययन के लिए सस्कृति के सैद्धान्तिक विकास क्रम के साथ उसकी आधारभूमि को अध्ययन का विषय बनाना आवश्यक है। हमने इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय सस्कृति के निर्माण

और विकास की आधार भूमि को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। संस्कृति के विकास और निर्माण की आधार भूमि आत्मगत, कायिक, मनोगत, भावगत, नैतिक एवं आध्यात्मिक अनेक आधारों को लिये हुए चलती है। इन विभिन्न आधारों के अध्ययन के आधार पर ही संस्कृति के निर्माण और विकास पर ही सामाजिक आधारभूमि बनती है। संस्कृति के समाजोन्मुखी प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों ही घटक महत्वपूर्ण हैं। इनके शोधपरक वैचारिक अनुशीलन के बाद ही समाजोन्मुखी संस्कृति का सैद्धान्तिक स्वरूप खड़ा होता है। मध्यकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त संस्कृति के स्वरूप का रेखांकन इसी आधार पर सम्भव है जो हमारे इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का मूल विषय है। हमारा मानना है कि सांस्कृतिक संचेतना का परिपूर्ण अनुशीलन किये बिना संस्कृतिपरक अध्ययन मात्र स्थूल और औपचारिक हो जाता है। इसी अनुशीलन के आधार पर समाजोन्मुखी संस्कृति का स्वरूप बनता है जिसे पश्चिम में Socio-Culture नाम दिया है। यह समाजोन्मुखी संस्कृति, संस्कृति का प्रधान अंग होते हुए संस्कृति का पर्याय नहीं है। समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के अपने आयाम हैं। समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के विविध आयामों में सामाजिक संरचना और जीवन व्यवस्थापरक आयाम, आर्थिक व्यवस्थापरक आयाम, धार्मिक व्यवस्थापरक आयाम, राजनीतिक व्यवस्थापरक आयाम मानव-जीवन के सामाजिक स्वरूप को अपने में समेट लेते हैं।

भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट सामाजिक आधारभूमि है। यह अध्यात्म के शिखर पर खड़े होकर भी सामाजिक जीवनदृष्टि की सांस्कृतिक आधारभूमि का निर्माण करती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर खड़ी हुई भारतीय संस्कृति मानव जीवन की सामाजिक आधारभूमि बनाती है। आज का मानव सामान्यतः दुखी, चिन्ताग्रस्त, असंतुष्ट तथा निराशावादी बन चुका है, जिसे धनोपार्जन तथा वासनात्मक सुखोभोग के लिये अपनी समस्त शक्ति का अपव्यय करने के अतिरिक्त जीवन के किसी उच्चतर लक्ष्य का ज्ञान ही नहीं हो पाता। अध्यात्म साधना से सम्बन्धित जीवन के स्थायी तथा निस्सीम सुख की ओर व्यक्ति को उन्मुख करके भारतीय संस्कृति ने एक दृष्टिकोण से भौतिक दुख के मूल कारणों का मनोवैज्ञानिक निराकरण सा प्रस्तुत कर दिया है, जिसके साथ ही नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों के समुचित विकास का अवसर भी उसने प्रदान किया है। उसमें व्यक्ति के जीवन की जो उद्देश्यपूर्ण योजना प्रस्तुत की गई है। उसमें अर्थ तथा काम की नैसर्गिक प्रवृत्तियों

के क्रमशः परिष्कार की ओर ध्यान देते हुए जीवन की निश्चित अवधि तक उनका संयमित सेवन, धर्म अथवा कर्तव्य के अधिष्ठान द्वारा ही विधेय ठहराया गया है। इस आधार पर हमारी यह दृढ़ धारणा है कि समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना के आधार पर संस्कृति के विविध आयामों का निरूपण करते हुए भारतीय सांस्कृतिक सचेतना का स्वरूपांकन मध्यकालीन हिन्दी काव्य धारा के अनुशीलन का निकष बन सकता है। प्रथम अध्याय में इसी आधार पर भारतीय सांस्कृतिक संचेतना के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

किसी भी साहित्य के सांस्कृतिक अनुशीलन के लिये साहित्य में संस्कृति के संचार की प्रक्रिया को निरखना परखना भी आवश्यक है। साहित्य में चाहे लौकिक पक्ष का विवेचन हो, चाहे आध्यात्मिक, दोनों ही पक्षों में समाज के सांस्कृतिक पक्ष पर ही साहित्य चेतना केन्द्रित रहती है। साहित्य में सांस्कृतिक संचेतना का यह संचार जिन रूपों को अपने में समाहित करके चलता है उनको इन वर्गों में बाँटा जा सकता है – 1. प्रकृति वर्ग, 2. मानवेतर वर्ग, 3. काल्पनिक वर्ग, 4. मानव वर्ग, 5. कलाएँ, 6. पर्वोत्सव, 7. मनोविनोद सम्बन्धी उपकरण, 8. परम्परागत प्रचलित मान्यताएँ।

जायसी के काव्य की स्वरूप संरचना इन्हीं वर्गों को अपने काव्य का प्रतिमान बनाकर प्रस्तुत हुई है। इन्हीं को आधार बनाकर जायसी के काव्य में अभिव्यक्त समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना का स्वरूप उद्घाटित किया जा सकता है।

भारतीय समाज एक श्रृंखलाबद्ध सांस्कृतिक संचेतना के विकास का इतिहास है। भारतीय समाज की सांस्कृतिक सचेतना के निर्माण में अनेक आरोह-अवरोह आते रहे हैं। हिन्दी साहित्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक सचेतना को अपने ढंग से प्रतिबिम्बित करता रहा है। मध्यकाल सांस्कृतिक चेतना की अपनी अलग पहचान रखता है। इसलिये साहित्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिये (और विशेषकर मध्यकालीन साहित्य के) मध्यकाल के काल का निर्धारण और उसकी अवधारणा पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। मध्यकाल के सन्दर्भ में विद्वानों की अवधारणा एक दूसरे से मेल नहीं खाती। हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में मध्यकाल के काल का निर्धारण सामान्यतः 11वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के मध्य किया जाता है। यद्यपि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो मध्यकालीन समाज का सांस्कृतिक धरातल बहुत पहले ही अपनी आधारभूमि तैयार कर चुका था।

उसी धरातल को सामने रखकर जायसी की सास्कृतिक सचेतना के मूल्यांकन का प्रयास सार्थक हो सका है।

मध्यकालीन समाजोन्मुखी सास्कृतिक सचेतना अनेक जातियों की संस्कृति का सम्मिश्रण रही है। इस काल में भारतीय प्राचीन संस्कृति और उसके विविधता भरे हुए सोपान तथा इस्लामिक संस्कृति भारतीय समाज की सास्कृतिक सचेतना का निर्माण करते हैं। सास्कृतिक संरचना की इस स्थिति में कही संघर्ष होता है तो कही समन्वय होता है। इसी सास्कृतिक संघर्ष और समन्वय की स्थिति ने मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य का स्वरूप निर्धारण किया है मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य को तभी समझा-समझाया जा सकता है जब इसकी पृष्ठभूमि में होने वाली विभिन्न भावनाओं का सम्यक् अनुशीलन किया जाये। प्रस्तुत विषय की शोध समस्या को सुलझाने के लिये वैदिक संस्कृति, वैष्णव संस्कृति, वेद विरोधी आन्दोलन और उसकी संस्कृति, नाथ सम्प्रदाय की संस्कृतिक सचेतना, तार्त्रिक संस्कृति, इस्लामिक संस्कृति और सूफी संस्कृति की भावना को विमर्शात्मक दृष्टि से देखा गया है। संस्कृति का यह विमर्शन एक ऐसी दृष्टि देता है जो सूफी साहित्य के अनुशीलन के लिये सम्यक् दिशा दे सकता है। हिन्दी सूफी साहित्य इस्लामिक सास्कृतिक सचेतना की समन्वयात्मक सास्कृतिक भावना का विकास है। इस साहित्य में भारतीय समाज की ऐसी विसंगतियों को उठाया है जो सामाजिक ह्रास की ओर संकेत करती हुई उनके निराकरण के लिये दिशा-निर्देश देती है।

जायसी का काव्य तो इसका स्पष्ट उदाहरण है। इस काव्य में जिस सास्कृतिक धरातल का स्वरूप देखने को मिलता है वह मध्यकाल तक के सास्कृतिक चिन्तन की एक विरासत है। इसी विरासत से ऊर्जा ग्रहण करते हुए उन्होंने अपने काव्य में समाज की स्वरूप संरचना प्रस्तुत की है।

जायसी का काव्य ससार मध्यकालीन समाज का जीता जागता प्रतिबिम्ब है। इसके अनुशीलन के लिये मध्यकालीन समाज के स्वरूप को समझना आवश्यक है। मध्यकाल में प्राचीन काल से आता हुआ भारतीय समाज एक करवट लेता है। इस काल तक आते-आते सम्पूर्ण भारतीय समाज सास्कृतिक ह्रास की बेड़ियों में घिर चुका था। सास्कृतिक ह्रास का सबसे अधिक प्रभाव मध्यकाल की नारी पर पड़ा। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समाजों में नारी अस्मिता का स्वरूप निर्धारण करने

वाले विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाये अपनी अस्मिता खो चुके हैं, जायसी ने उन सभी बिन्दुओं को जो नारी अस्मिता और सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं अपने काव्य का अंग बनाया। यही कारण है कि इन सांस्कृतिक संस्थाओं के अध्ययन के बिना जायसी के काव्य की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना का अनुशीलन नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध यात्रा में इसी भावना का ध्यान रखते हुए मध्यकालीन समाज के स्वरूप को एक सम्यक् दृष्टि से देखा गया। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक धरातल और तत्कालीन समाज के स्वरूप का अध्ययन जायसी के काव्य की समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना के अनुशीलन के लिये दिशा निर्देशक हो सकता है।

मलिक मुहम्मद जायसी मध्यकालीन हिन्दी काव्य के प्रमुख आधार स्तम्भ हैं। सूफी प्रेमाख्यानक काव्य धारा के प्रतिनिधि के रूप में उनकी अपनी पहचान है। जायसी के काव्य में जीवन के लौकिक पक्षों के माध्यम से आध्यात्मिक चेतना का संचार हुआ है। उनकी यह रचना प्रक्रिया एक सुसंस्कृत जीवन के निर्माण के स्पष्ट संकेत देती है। एक प्रकार से देखा जाये तो जायसी का जीवन और उनका युग उन्हें उनकी काव्य चेतना के लिये एक प्रेरणा देता है। जायसी का जीवनकाल 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। जायसी का जीवन शिक्षा तथा व्यवसाय उनकी गुरु परम्परा और उनका आध्यात्मिक जीवन उनके ऐसे कवि व्यक्तित्व का निर्माण करता है जिससे उनका अचेतन मन स्वस्थ रूप में प्रकाशित होकर नैतिकता, उदात्ता, भगवद् भक्ति, सवेदनशील विचारणा, आत्मगौरव की भावना, मानवीय मूल्यों के समर्थन, तत्त्व-चिन्तन एवं रचनाशीलता के धरातल पर अपना काव्य संसार खड़ा करता है।

जायसी की रचनाओं की संख्या 26 तक मानी जाती है। लेकिन इनमें से कुछ प्रमुख रचनाये हैं। जायसी की इन रचनाओं में यदि समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की दृष्टि से एक शोधपरक समीक्षात्मक संस्कृति का संचार किया जाये तो भारतीय समाज के लिये एक रचनात्मक सांस्कृतिक धरातल का उद्घाटन हो सकता है। इसके लिये जायसी की सभी रचनाओं को एक विशेष दृष्टि से देखना होगा। इस विशेष दृष्टि के निर्माण के लिये हमें जायसी की काव्य दृष्टि को समझना होगा जो उनके युगीन परिपार्श्व से भी निर्मित हुई है। जायसी के युग में राजनैतिक परिपार्श्व, सामाजिक परिपार्श्व, आर्थिक परिपार्श्व, साहित्यिक परिपार्श्व एक रचनाशील कलाकार के लिये एक नये संसार

की रचना करने को प्रेरित करता है। इसलिये हमारी दृढ़ मान्यता है जायसी के जीवन और काव्य के युगीन परिवेश को एव सांस्कृतिक परिवेश को निरखना परखना आवश्यक है। हमने अपने इस प्रबन्ध में इसी दृष्टि को आधारभूत बनाते हुए अध्ययन को यह दिशा दी है। यह दिशा जायसी ही नहीं सम्पूर्ण मध्यकालीन अनुशीलन के लिये दिशा निर्देशक दे सकता है।

जायसी की रचनाओं में 'पद्मावत' एक प्रमुख रचना है। पद्मावत की रचना में जायसी की काव्य चेतना जीवन सदर्भित किसी विशेष उद्देश्य से इतिवृत्तात्मकता में कल्पना का संचार करके कथा मात्र की सरचना ही है। जायसी के 'पद्मावत' को सही परिपेक्ष में व्याख्यायित करने के लिये हमें उसके रचना तन्त्र को समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों के सन्दर्भ में देखना होगा। एक प्रकार से देखा जाये तो 'पद्मावत' नारी प्रधान सामाजिक रचना मानी जा सकती है। 'पद्मावत' की कथा इस पुरुष प्रधान भारतीय समाज में नारी अस्मिता के लिये अनेक प्रश्न खड़ी करती हुई उनके समाधान खोजने का एक सार्थक प्रयास करती है। 'पद्मावत' में जायसी की दृष्टि समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों पर रही है। उसमें सामाजिक संरचना एवं जीवन व्यवस्थागत आयाम की प्रधानता है। इस आयाम के अन्तर्गत परिवार व्यवस्था और उससे जुड़ी हुई नारी अस्मिता पर पद्मावत की मूल दृष्टि टिकी हुई है। जायसी 'पद्मावत' में पुत्र-पुत्री में समानता की भावना नारी शिक्षा, नारी मन का अन्तर्द्वन्द्व, नारी अस्मिता के सदर्भ में विवाह की सांस्कृतिक सचेतना, नारी का मनोविकास और परिवार की सांस्कृतिक सचेतना, पुरुष मनोभूमि और परिवार की सांस्कृतिक सचेतना जैसे बिन्दुओं को अपनी काव्यचेतना का आधार बनाकर समाजोन्मुखी सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं। समाजोन्मुखी संस्कृति के विविध आयामों के इसी क्रम में जायसी मानव-जीवन को ऐसे अनेक बिन्दुओं पर स्वरूपाकन करते हैं, जो एक सुसंस्कृत जीवन की आधार शिला हैं। एक प्रकार से देखा जाये तो 'पद्मावत' का सम्यक् अध्ययन इसी आधार पर सूफी साहित्य का सही रूप में समझने समझाने के लिये एक दिशा दे सकता है।

'पद्मावत' के अतिरिक्त जायसी की अन्य रचनाओं का रचना तंत्र विविधता लिये हुए है। उनकी कुछ रचनाएँ जैसे – चित्ररेखा, कन्हावत, स्पष्ट रूप से समाजोन्मुखी सांस्कृतिक सचेतना की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। इसके साथ ही जायसी की अन्य रचनाएँ आध्यात्मिक और

सम्प्रदायपरक अवधारणा को आधार बनाकर रची हुई दिखाई देती है। इन रचनाओं को गम्भीरता से देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि जायसी अपनी समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना जन्य दृष्टि को किसी भी रचना में अपेक्षित नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी सभी रचनाओं में समाजोन्मुखी सांस्कृतिक संचेतना एक सूत्र की तरह पिरोई हुई है। जिसके आधार पर उनकी रचनाओं को सम्यक् रूप से समझा समझाया जा सकता है।

अन्त में यह आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि जायसी को रचनाओं में अनुशीलन के लिये अभी बहुत सी ऐसी दिशाएँ खुली हुई हैं जो मनुष्य के व्यवहारिक जीवन का स्वरूप विश्लेषण करती हुई जीवन और साहित्य के लिये दिशा निर्देशक हो सकती है। हमारा यह अध्ययन तो उसकी एक प्रारम्भिक कड़ी है। आगे के शोधार्थी इस सूत्र को पकड़ कर सूफी साहित्य की अध्ययन की दिशा को आगे बढ़ायेंगे, यह हमारा विश्वास है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक / लेखिका	प्रकाशक
हिन्दी पुस्तकें			
1	जायसी की विशिष्ट शब्दावली का विश्लेषणात्मक अध्ययन	डॉ० इन्दिरा कुमारी सिंह	अनिल प्रकाशन, पटना
2	मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति	डॉ० युसुफ हुसैन	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
3	सूफी कवि जायसी	डॉ० जयदेव	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
4	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	जयचन्द्र विद्यालंकार	—
5	पद्मावत में काव्य संस्कृति और दर्शन	द्वारिका प्रसाद सक्सेना	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
6	मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला	हरफूल सिंह आर्य	रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, जयपुर
7	संस्कृति और समाजशास्त्र	डॉ० रांगेय राघव, श्री गोविन्द शर्मा	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
8	पद्मावत का काव्य वैभव	डॉ० मनमोहन गौतम	दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता
9	जायसी का काव्य शिल्प	डॉ० दर्शनलाल सेठी	साहित्य सदन, देहरादून
10	पद्मावत का काव्य सौन्दर्य	शिवसहाय पाठक	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लिमिटेड, बम्बई
11	भारतीय संस्कृति और सभ्यता	डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य	—
12	जायसी	रामपूजन तिवारी	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
13	मानव और संस्कृति	श्यामचरण दूबे	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

14	मध्ययुगीन कृष्ण काव्य मे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति	हर गुलाल	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली
15	समाज और सस्कृति	डॉ० सावित्री चन्द्र 'शोभा'	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
16	जायसी के साहित्य मे अप्रस्तुत योजना	डॉ० विद्याधर त्रिपाठी	राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा
17	सक्षिप्त पद्मावत	डॉ० राजदेव सिंह, उषा जैन	पाण्डुलिपि प्रकाशन, कृष्ण नगर, दिल्ली
18	कबीर और जायसी मानव-मूल्य	वीरेन्द्र मोहन	कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली
19	जायसी का शिल्प-विधान	डॉ० छोटेलाल दीक्षित	अतुल प्रकाशन, कानपुर
20	जायसी और उनका पद्मावत एक सर्वेक्षण	राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
21	मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय सस्कृति	डॉ० मदनगोपाल गुप्त	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
22	उत्तरी भारत के सास्कृतिक विकास मे सतों का योगदान	डॉ० नैपाल सिंह	अरविन्द प्रकाशन, सिविल लाइन, अलीगढ़
23	भारतीय सस्कृति	डॉ० गुलाब राय	रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर, (आगरा)
24	सस्कृति का दार्शनिक विवेचन	डॉ० देवराज	भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी
25	सत साहित्य की सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि	डॉ० सावित्री शुक्ल	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
26	साहित्य और सस्कृति	डॉ० जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागज दिल्ली
27	भारतीय सस्कृति और साहित्य	डॉ० मनमोहन शर्मा	चित्रगुप्त प्रकाशन, अजमेर
28	भारतीय सस्कृति का इतिहास	डॉ० दिनेशचन्द्र भारद्वाज	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

29	भारतीय जीवन और सस्कृति	डॉ० शम्भुनाथ पाण्डेय	केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
30	भारतीय सस्कृति	डॉ० देवराज	प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
31	धर्म, सस्कृति और राज्य	गुरुदत्त	भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली
32	भारतीय सस्कृति	शिवदत्त ज्ञानी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
33	भारत का इतिहास	रोमिला थापर	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
34	कबीर की विचारधारा	डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर
35	समाज दर्शन	डॉ० महादेव प्रसाद	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
36	मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति	डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव डॉ० झारखण्डे चौबे	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ
37	सस्कृति मानव कर्तृव्य की व्याख्या	यशदेव शल्य	सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र, जयपुर
38	जायसी की पद्मावत का मूल्यांकन	डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिन्हा	स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद
39	सास्कृतिक परम्परा और साहित्य	तारकनाथ बाली	प्रभात प्रकाशन दिल्ली, पटना
40	निर्गुण साहित्य सास्कृतिक पृष्ठभूमि	डॉ० मोती सिंह	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
41	नाथ सम्प्रदाय	हजारी प्रसाद द्विवेदी	नैवेद्य निकेतन, वाराणसी
42	जायसी एक नव्य बोध	अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'	साहित्य कुटीर, लखनऊ
43	समाजशास्त्र के सिद्धान्त	प्रभाकर ठाकुर	आधुनिक प्रकाशनगृह, दारा गज, इलाहाबाद

44	भारतीय संस्कृति के आधार	श्री अरविन्द	श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी-2
45	राष्ट्रीय संस्कृति	डॉ० आबिद हुसैन	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
46	मानव व्यवहार तथा सामाजिक	डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी सम्मेलन भवन, पटना
47	मध्यकालीन भारतीय इतिहास	डॉ० वी०एस० भार्गव	कालेज बुक डिपो, जयपुर
48	जायसी : साहित्य और सिद्धान्त	डॉ० यज्ञदत्त शर्मा	आत्माराम एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
49.	सांस्कृतिक भारत	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
50.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह 'दिनकर'	राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
51	मध्ययुगीन हिन्दी काव्य मे वैष्णव संस्कृति और समाज	नागेन्द्र सिंह 'कमलेश'	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
52	मध्यकालीन भारत	इरफान हबीब	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
53	मध्यकालीन महाकाव्य व्यक्तित्व विश्लेषण	लालताप्रसाद सक्सेना	निर्मल प्रकाशन संस्थान, जयपुर
54	मध्यकालीन रचना एवं मूल्य	कमला प्रसाद	वाणी प्रकाशन, दिल्ली
55	मध्यकालीन हिन्दी काव्य	विश्वनाथ मिश्र त्रिपाठी	वाणी प्रकाशन, दिल्ली
56	मध्ययुगीन निर्गुण चेतना	धर्मपाल मैनी	वाणी प्रकाशन, दिल्ली
57	पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास	अवध बिहारी पाण्डेय	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
58	मध्यकालीन धर्म साधना	हजारी प्रसाद द्विवेदी	साहित्य भवन, इलाहाबाद
59	संस्कृति सगम	आचार्य क्षितिमोहन सेन	साहित्य भवन, इलाहाबाद
60	भारतीय संस्कृति	शिवदत्त ज्ञानी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पटना

61	भारतीय संस्कृति	पाण्डुरंग सदाशिव साने	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
62	भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	गुलाब राय	रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर, आगरा
63	मध्यकालीन भारत	प्रताप सिंह	रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर
64	हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास	डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
65	भागवत दर्शन	डॉ० हरवशलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
66	आगम और कबीर	डॉ० रमेशचन्द्र शर्मा	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
67	तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि	महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज	बिहार—राष्ट्रभाषा—परिषद, पटना
68	तान्त्रिक साधना	माधव पुण्डलीक पण्डित	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
69	तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त	महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज	बिहार—राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
70	भारतीय धर्म और दर्शन अनुशीलन	पद्ममूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान, रवीन्द्रपुरी वाराणसी
71	जायसी के पद्मावत का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	सुभाष बाला महैन	भारतेन्दु भवन, शिमला
72	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना	उषा पाण्डेय	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-6
73	नारी जीवन	कमला जैन	श्री जवाहर समिति, बीकानेर
74	नारी स्वातंत्र्य के बदलते रूप	रेणुका नैयर	अभिषेक पब्लिकेशन्स, चण्डीगढ़
75	जायसी ग्रन्थावली	मनमोहन गुप्ता	रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली
76	जायसी ग्रन्थावली	राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

77	जायसी ग्रन्थावली	पं० रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
78	हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
79	जायसी ग्रन्थावली	माता प्रसाद गुप्त	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
80	मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना	डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
81	हिन्दी साहित्य का मध्यकाल	नित्यानन्द शर्मा	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
82	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन	डॉ० सत्येन्द्र	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
83	चित्ररेखा	आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
84	भारतीय सस्कृति	डॉ० गुलाब राय	रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर, आगरा
85	कबीर और जायसी मानवमूल्य	वीरेन्द्र मोहन	कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली
86	सूफी दर्शन एव साधना	डॉ० कौसर यजदानी	जेन्युइन पब्लिकेशन एव मीडिया प्रा० लि० निजामुद्दीन वेस्ट, नई दिल्ली
87	हिन्दी काव्य मे प्रेम भावना	डॉ० रामकुमार खण्डेलवाल	जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
88	सूफी काव्य का दार्शनिक विवेचन	डॉ० भालचन्द्र तिवारी	एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, दिल्ली
89	जायसी की प्रेम साधना	रामचन्द्र बिल्लौर	जटवाडा दरियागज, दिल्ली
90	मुगलकालीन सगुण भक्ति काव्य का सास्कृतिक विश्लेषण	डॉ० रत्नचन्द्र वर्मा	जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर

91	निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डॉ० मोती सिंह	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
92	हिन्दी और फारसी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० श्रीनिवास बन्ना	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
93	मध्यकालीन प्रेम साधना	परशुराम चतुर्वेदी	साहित्य भवन प्राइवेट लि० इलाहाबाद
94	सत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि	डॉ० ओमप्रकाश शर्मा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
95	मनुस्मृति	—	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
96	जायसी कृत कन्हावत	परमेश्वरी लाल गुप्त	अन्नपूर्णा प्रकाशन, रामकटोरा, वाराणसी
97	पद्मावत	वासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)
98.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	रामचन्द्र पाण्डेय	शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि० पुस्तक प्रकाशन, आगरा
99	समाज दर्शन के मूल तत्त्व	डॉ० रामजी सिंह	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
100	भक्तिकाव्य और लोकजीवन	शिवकुमार मिश्र	पीपुल्स लिटरेसी, 517, मटिया महल, दिल्ली

ENGLISH BOOKS :

1.	Culture	A.L. Kroeber and Clyde Kluckhohn	1952
2.	Culture and History	Pillip Bagby	1960
3.	Culture and Anarchy	Mathew Arnold	1950
4.	The Evolution of Culture	Prof. Laslie A. White	1959
5.	Relatives and Ideals	Gibban	

6.	An Introduction to Social Anthropology	Dr. D.N. Majumdar and T.N. Madan	1960
7.	Encyclopaedia of Social Sciences	Edvin R.A. Seligman	1954
8.	The Spirit of Indian Culture	Dr. B.L. Atreya	1952
9.	Hindu Msticism	Dr. S.N. Dasgupta	1937
10.	A History of Hindi Literature	F.E. Keay	
11.	North Indian Saints	Will Durantt	
12.	History of Medieval India	Dr. Ishwari Prasad	1949
13.	Akbar : The Great Mughal	Vincent Smith	
14.	The Delhi Sultanate	Dr. R.C. Mazumdar	
15.	Mughal Empire in India	Dr. S.R. Sharma	1945
16.	The Agrarian System of Muslim India	W.H. Moreland	1929

शब्द कोष :

1	हिन्दी धर्म कोश	डॉ० रामबली पाण्डेय	उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, हिन्दी समिति प्रयाग, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, प्रथम सस्करण एव द्वितीय सस्करण
2	हिन्दी सस्कृत धातुकोश	आचार्य बदरी प्रसाद साकारिया, प्रो० भूपतिराम साकारिया	पचशील प्रकाशन, फिल्म कालोनी, जयपुर, प्रथम सस्करण
3	समाजशास्त्रीय विश्वकोश	श्री शुभरत्न त्रिपाठी	किताबघर परडे, कानपुर
4	पुराण सदर्थ कोश	पदमिनी ममन	ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, प्रथम सस्करण
5	समाजशास्त्र कोश अवधारणाएँ	हरीकृष्ण रावत	रावत पब्लिकेशन, जयपुर

- | | | | |
|-----|----------------------------------|--|--|
| 6. | हिन्दी साहित्य कोश | डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
तथा अन्य | ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी, प्रथम
संस्करण |
| 7. | संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर | रामचन्द्र वर्मा | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वाराणसी |
| 8. | राष्ट्रभाषा कोश | प० ब्रजकिशोर मिश्र | हिन्दुस्तानी बुक डिपो, लखनऊ |
| 9. | वृहत् हिन्दी कोश | कालिका प्रसाद,
राजवल्लभ सहाय तथा
मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव | ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी |
| 10. | A Sanskrit-English
Dictionary | Sir Monier Williams | - |